सूर - प्रभा

और

सूरदास

सूर-प्रभा की विशद व्याख्या

और

सूरदास का

आलोचनात्मक अध्ययन

(प्रश्नोत्तर रूप में)
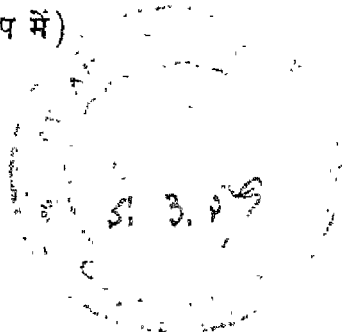
आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र

दृष्टिकोण

हिन्दी में टीका शब्द जिस रूढ़ अर्थ में व्यवहृत होता रहा है और जिसके फलस्वरूप टीका ग्रंथों को उपेक्षा एवम् निरादर की दृष्टि से देखा जाता है वैसी दशा अन्य भाषा-साहित्यों में नहीं है। मराठी में तो टीका आलोचना को ही कहते हैं और महाराष्ट्र का आलोचक वस्तुतः टीकाकार ही कहलाता है। संस्कृत में भी टीका शब्द उपेक्षणीय नहीं है तथा राजशेखर ने तो 'काव्य-मीमांसा' में टीका को आलोचना का ही एक रूप माना है। स्मरण रहे संस्कृत साहित्य में कालिदास और मल्लिनाथ दोनों का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा पाश्चात्य जगत में भी टीकाकार होना गौरव की बात समझी जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि टीकाकार में वही प्रतिभा अपेक्षित है जो कि एक सत्समालोचक में होनी चाहिए और यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो टीका व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive cvi cism) जिसे कि मौल्टन ने सर्वश्रेष्ठ समीक्षा-पद्धति माना है का ही एक रूप है। हिंदी में तो टीका-ग्रंथ लिखे ही नहीं जा रहे हैं तथा बाजारों में जो टीका ग्रंथ उपलब्ध होते हैं—जिन्हें कि पुस्तक विक्रेता कुंजी, मार्गदर्शक, पथ-प्रदर्शक और गाइड आदि नामों से बेचते हैं—वस्तुतः टीका-ग्रंथ नहीं हैं। इस प्रकार की पुस्तकों की बहुलता के कारण ही हमारे यहाँ टीका उपेक्षा की वस्तु हो गयी है अन्यथा हमें यह न भुला देना चाहिए कि स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा की 'सतसई संजीवन भाष्य" रत्नाकर जी की 'बिहारी रत्नाकर' तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'पदमावत संजीवन भाष्य' आदि कृतियाँ टीका ग्रंथ ही हैं। इन्हीं सब कारणों से प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने इस पुस्तक के प्रणयन कार्य की ओर अपना उत्साह प्रकट किया और यह पुस्तक प्रकाश में आ सकी। विगत कई वर्षों से लेखक को हिंदी की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को सूरदास पढ़ाने का अवसर मिला है और इस प्रकार 'सूरसाहित्य' के इस पठन-पाठन ने उसका मार्ग सहज ही प्रशस्त कर दिया। सूरदास के पदों को लेकर विभिन्न टीकाएँ—जिन्हें कि कुंजी कहना ही उपयुक्त होगा—प्रकाश में आयी हैं परन्तु इनके लेखन और प्रकाशन में व्यावसायिक दृष्टिकोण ही प्रधान रहा है। स्मरण रहे मराठी में व्याख्या को 'रस-ग्रहण' कहते हैं और लेखक की दृष्टि में किसी भी ग्रंथ, पद या पंक्ति का स्पष्टीकरण तभी ठीक-ठीक हो सकता है जब कि व्याख्याकार उनका रसास्वादन कर सके और मराठी का यह 'रस-ग्रहण' शब्द उसकी दृष्टि में व्याख्या के लिए उपयुक्त एवं सार्थक शब्द है। हमारे यहाँ के कुंजी लेखकों के सामने 'रस-ग्रहण' का प्रश्न ही नहीं उठता बल्कि वे प्रकाशक द्वारा प्रदान किए गए चश्मे से रस

ग्रहण करना चाहते है अतः उनकी पुस्तकें 'लोक हिताय' की अपेक्षा 'लोक-भ्रमाय' का आदर्श ही प्रस्तुत करती हैं।

इन पंक्तियों का लेखक यह दावा नहीं करता कि उसका प्रयास बिल्कुल नवीन है और उसकी व्याख्या कोई नूतन आदर्श प्रस्तुत करती है परन्तु इतना तो वह कह ही सकता है कि उसने सूर के पदों को समझने का प्रयास अवश्य किया है तथा 'सूर-प्रभा' की जो एक दो कुंजियाँ प्रकाशित हुई हैं उनकी तुलना में इस पुस्तक को रखने से इस कथन की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। जहाँ कि उक्त लेखकों ने सूर के पदों की व्याख्या करते समय कहीं-कहीं पंक्ति की पंक्ति छोड़ दी है या मनमाना अर्थ प्रस्तुत कर दिया है वहाँ 'सूर-प्रभा और सूरदास' का लेखक इस ओर पूर्ण सतर्क रहा है कि किसी भी पद का मनमाना अर्थ न ग्रहण किया जाए। रस्किन के इस वाक्य को कि "कोई भी अध्यापक तब तक ठीक से अध्यापन नही कर पाता जब तक कि वह स्वयं विद्यार्थी न हो जाए" पर पूर्ण आस्था रखने वाले इन पंक्तियो के लेखक ने प्रत्येक वस्तु एवं स्थिति को स्वयं समझने का प्रयास करने के पश्चात् ही कुछ कहना चाहा है। स्मरण रहे पुस्तक के 'प्रथम खंड' की सामग्री प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत की जाने पर भी लेखक के आलोचनात्मक दृष्टिकोण को ही स्पष्ट करती है और चूँकि लेखक परीक्षार्थियों के लिए लिखी गई आलोचनात्मक कृतियों को भी आलोचना-साहित्य में स्थान देने के पक्ष मे है; अतः वह इसे भी समीक्षा ही मानता है।

कोई भी प्रयास न तो पूर्ण ही होता है और न सर्वोत्तम लेकिन उस पर संतोष तो किया ही जा सकता है परन्तु इन पंक्तियों का लेखक अपने इस प्रयास पर पूर्ण संतोष भी नहीं कर रहा है कारण कि अतृप्ति ही लक्ष्य-पूर्ति में साधक होती है। इस प्रकार वह सुझाओं का हर प्रकार से स्वागत करने के लिए प्रस्तुत है और वह अपने उन मित्रों का हमेशा आभारी रहेगा जो कि इस कृति की त्रुटियाँ एवम् अभावों की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करें। प्रस्तुत पुस्तक के सृजन-कार्य में लेखक ने जिन ग्रंथों से सहायता ली है उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है और वह उनके रचयिताओं के प्रति वह हृदय से आभारी है। साथ ही यहाँ श्री लक्ष्मीकान्त मालवीय एम० ए० और भाई शशिधर मालवीय को धन्यवाद देना भी आवश्यक हो जाता है जिनके कि पुनः पुनः प्रेरित करने पर ही यह कार्य संभव हो सका।

अनन्त चतुर्दशी; सं० २०१५ वि०
२१४, राजेन्द्रनगर
लखनक

दुर्गाशंकर मिश्र

विषय-सूची

अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न

द्वितीय खंड

● अवतारणा—संदर्भ ● शब्दार्थ ● भावार्थ—पदों का विस्तृत स्पष्टीकरण ● अन्य विशेषताएँ ● टिप्पणी ● तुलनात्मक अध्ययन ● अंतर्कथाएँ ● अलंकार इत्यादि

सुचिंतित निबंधकार, पत्रकार एवम् साहित्यानुरागी

आदरणीय

पं० कमलापति त्रिपाठी

को

सादर

बारह वर्ष पूर्व की उन स्मृतियों के उपलक्ष्य में जब कि उन्होंने लेखक को सूर-काव्य पर व्याख्यात्मक दृष्टिकोण से विचार करने की प्रेरणा दी थी....

प्रश्न १—अष्टछाप का सामान्य परिचय दीजिए ?

उत्तर—वस्तुतः पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में भक्ति की वेगवती धारा ने देश के प्रत्येक भाग को परिप्लावित किया है और विष्णु के दो प्रमुख अवतारों राम एवं कृष्ण को बहुत ही अधिक मान्यता मिली है। वस्तुतः भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इन दोनों अवतारों की उपासना भारत की अखंडता का ही प्रतीक है और इससे स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव भी देश के सभी भागों पर एक-सा पड़ता है। वास्तव में विष्णु की महत्ता वैदिक काल में ही स्थापित हो चुकी थी और कृष्ण को वासुदेव भी कहा जाता था। साथ ही वासुदेव एवं विष्णु का तादात्म्य भी स्वीकार किया गया है क्योंकि दोनों का अर्थ प्रायः एक-सा ही है। ऋग्वेद में तो विष्णु का सम्बन्ध गौओं से भी माना गया है और डॉ० नलिनीमोहन सान्याल ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि ऋग्वेद १।२२।१८ में विष्णु गोपा नाम से अभिहित हुए है। इन तथ्यों का आध्यात्मिक अर्थ चाहे कुछ भी क्यों न लगा लिया जाए लेकिन इनसे गोपाल कृष्ण की मनमोहक कथाओं का आधार वैदिक साहित्य ही जान पड़ता है। छंदोग्य उपनिषद् में तो देवकी पुत्र कृष्ण घोर आंगिरस ऋषि के रूप में प्रतिष्ठित हैं और पाणिनि के समय में वासुदेव शब्द वासुदेव सम्प्रदाय की व्यापकता का साक्षी है। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति का मूल स्रोत वैदिक साहित्य में ही दृष्टिगोचर होता है लेकिन कालान्तर में सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण-काव्य की जो निर्झरिणी हिन्दी साहित्य में अबाध गति से प्रवाहित हुई है उसके प्रवर्तकों में आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके प्रतिभाशाली पुत्र विट्ठलनाथ का ही प्रमुख स्थान है तथा इसमें कोई सदेह नहीं कि कृष्ण-साहित्य के निर्माण की प्रेरणा भक्त कवियों को मूलतः इन्हीं दोनों आचार्यों से प्राप्त हुई है।

स्मरण रहे विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने **वैष्णव धर्म की एक विशिष्ट शाखा की** की थी जिसे कि पुष्टि

सम्प्रदाय' कहा जाता है। यों तो वल्लभाचार्य ने भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों मे भ्रमण कर मायावाद का खंडन एवं ब्रह्मवाद और भक्तिवाद का प्रचार किय था लेकिन मूलतः ब्रज को ही उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया था तथ श्रीनाथजी का विशाल मंदिर बनवा कर पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित अपने शिष्यों को कीर्तन सेवा का भार सौंपा था। वल्लभाचार्य जी के दो पुत्र गोपीनाथ और विट्ठलनाथ नामक हुए थे तथा सं० १५८७ में आचार्य महाप्रभु के देहावसान के अनंतर ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते वे ही पुष्टि सप्रदाय के आचार्य हुए। इसमें कोई संदेह नहीं कि गोपीनाथ जी भारी विद्वान, गभीर एवं सात्विकी प्रकृति के व्यक्ति थे और पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्य पद पर अभिषिक्त होने के पश्चात् उन्होंने गुजरात, काठियावाड़ तथा अन्य पूर्वी प्रदेशों की यात्राएँ कर अनेक व्यक्तियों को पुष्टि संप्रदाय में दीक्षित भी किया। स्मरण रहे इन यात्राओं में उन्हें जो द्रव्य शिष्यो द्वारा प्राप्त हुआ था उसे उन्होंने श्रीनाथ जी को अर्पित कर दिया जो कि उनकी निस्पृहता और वैराग्य-वृत्ति का द्योतक है परन्तु सं० १५९९ में उनका देहावसान जगदीशपुरी में हो जाने से अब पुनः उत्तराधिकारी का प्रश्न उपस्थित हुआ। गोपीनाथ जी के एकमात्र पुत्र पुरुषोत्तम जी की अवस्था इस समय केवल बारह वर्ष की थी और इस छोटी अवस्था में उनको समस्त उत्तरदायित्व सौंपना संप्रदाय के अधिकांश व्यक्तियों को उचित नहीं प्रतीत हुआ अतः वल्लभाचार्य जी के तृतीय पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी अब पुष्टि संप्रदाय के आचार्य नियुक्त हुए। यों तो कुछ समय तक इस बात पर संप्रदाय के व्यक्तियों में पारस्परिक कलह भी मची रही कि गोपीनाथ जी के उचित उत्तराधिकारी उनके भाई विट्ठलनाथ जी हैं या उनके पुत्र पुरुषोत्तम लेकिन दो महीने पश्चात् जब पुरुषोत्तम जी का भी देहान्त हो गया तब यह कलह स्वतः शांत हो गयी। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि 'वार्ता साहित्य' से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य की विद्यमानता में भी गोपीनाथ जी के साम्प्रदायिक विचार उनके सिद्धान्तों के पूर्णतया अनुकूल नहीं थे और यह मान्यता भी चल पड़ी थी कि विट्ठलनाथ जी कृष्ण तथा गोपीनाथ जी बलदेव के अवतार हैं अतः सांप्रदायिक व्यक्तियों का आकर्षण स्वाभाविक ही गोपीनाथ की अपेक्षा विट्ठलनाथ जी की ओर अधिक था। 'वार्ता' में कई ऐसे तथ्य भी मिलते हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस

समय जो पुष्टि संप्रदाय का शिष्यत्व ग्रहण करते थे वे अपनी दीक्षा विट्ठलनाथ से ही लेते थे और यही कारण है कि अष्टछाप के तीन व्यक्ति गोविंद स्वामी, छीत स्वामी तथा चतुर्भुजदास गोपीनाथ जी के आचार्य गद्दी पर रहते हुए भी विट्ठलनाथ जी से ही दीक्षित हुए थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विट्ठलनाथ जी अत्यंत लोकप्रिय और पुष्टि सम्प्रदाय के शिष्यों के अत्यन्त आदरणीय थे।

साम्प्रदायिक उत्तरदायित्व ग्रहण करने के पश्चात् गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने वल्लभाचार्य जी द्वारा स्थापित एवं प्रचारित पुष्टि सम्प्रदाय की सांगोपांग व्यवस्था करने का निश्चय किया और अपने इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु उन्होंने पुष्टिमार्गीय सेवा-भावना का क्रियात्मक रूप से विस्तार करने का विचार किया। वल्लभाचार्य जी के समय श्रीनाथ जी की सेवा साधारण विधि से ही होती थी लेकिन विट्ठलनाथ जी ने उसका विस्तार करते हुए निम्नलिखित आठ श्रृंगारों की व्यवस्था की—१.—पाग २.—फेंटा ३.—दुमाला ४.—पगा ५.—कुल्हे ६.—सेहरा ७.—टिपारा और ८.—मुकुट। इसी प्रकार 'भोग' का विस्तार करते हुए उन्होंने आठों समयों में ऋतुओं के अनुसार एवम् बाल-भाव प्रदर्शक भोज्य सामग्री प्रस्तुत करने का नियम बनाया और साथ ही ठाकुर जी की आठों झाँकियों में ऋतु एवम् समय के अनुसार कीर्तन की भी व्यवस्था की। इसके लिए उन्होंने 'अष्टछाप' की स्थापना की। यों तो वल्लभाचार्य जी के समय में ही कुंभनदास अपने अवकाश एवम् सुविधानुसार तथा सूरदास और परमानन्ददास नियमित रूप से विभिन्न पदों के गायन द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन किया करते थे परन्तु जब विट्ठलनाथ जी पुष्टि संप्रदाय के आचार्य नियुक्त हुए तब उन्होंने आठों झाँकियों में नियमित रूप से कीर्तन के लिए काव्य एवं संगीत कला विशारद आठ कीर्तनकारों की आवश्यकता का अनुभव किया। इसके लिए उन्होंने चार अपने पिता के और चार अपने शिष्यो की एक मंडली बनायी तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि ये आठों महानुभाव परम भक्त होने के अतिरिक्त अपने समय में पुष्टि सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ काव्यकार, संगीतज्ञ एवं कीर्तनकार भी थे। सत्रहवीं शती के आरंभ से सं० १६३६ तक ये सभी एक दूसरे के समकालीन रहे और ब्रज के गोवर्धन नामक स्थान में रह कर श्री नाथ जी की कीर्तन सेवा किया करते थे चूंकि पुष्टि   क

अनेक शिष्यों में से उन आठों का निर्वाचन कर गोसाईं विट्ठलनाथ ने उन पर अपने आशीर्वाद की छाप लगायी थी अतः उस मौखिक छाप के ही कारण ये "अष्टछाप" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

पुष्टि सम्प्रदाय की यह भी मान्यता है कि ये आठों महानुभाव, श्रीनाथ जी की नित्य लीला में अंतरंग सखाओं के रूप में सर्वदा उनके साथ रहते हैं और इसीलिए जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी प्रकट हुए तब उनकी सेवा के लिए ये आठों सखा भी उत्पन्न हुए। अतः मान्यताओं के अनुसार अष्टछाप के ये आठों भक्त पुष्टि सम्प्रदाय में 'अष्टसखा' के नाम से विख्यात हैं। ये आठों महानुभाव हिंदी काव्य-साहित्य में उच्च कोटि के काव्यकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं और चूंकि 'अष्टसखा' से उनके साम्प्रदायिक रूप का ही बोध होता है तथा 'अष्ट-छाप' से साहित्यिक रूप का अतः वे हिन्दी साहित्य जगत में 'अष्टसखा' की अपेक्षा 'अष्टछाप' नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। अष्टछाप के इन आठों भक्तो का नाम, गुरु का नाम, शरणागति-काल, मूल लीला स्थित नाम इस प्रकार हैं—

सं०	नाम	गुरु का नाम	शरणागतिकाल	मूल नाम
१.	कुंभनदास	वल्लभाचार्य	स० १५५६	अर्जुन सखा
२.	सूरदास	,,	सं० १५६७	कृष्ण सखा
३.	परमानंददास	,,	सं० १५७७	तोक सखा
४.	कृष्णदास	,,	सं० १५६८	ऋषभ सखा
५.	गोविन्दस्वामी	विट्ठलनाथ	सं० १५९२	श्रीदामा सखा
६.	छीतस्वामी	,,	सं० १५९२	सुबल सखा
७.	चतुर्भुजदास	,,	सं० १५९८	विशाल सखा
८.	नंददास	,,	सं० १६०७	भोज सखा

अष्टछाप के इन सभी कवियों में सूरदास को सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है और उन्हें अष्टछाप का सूर्य माना जाता है।

प्रश्न २—उन मूल स्रोतों पर प्रकाश डालिए जिनके कि आधार पर सूर का जीवनवृत्त अंकित किया जा सकता है।

प्रश्न ३ के जीवन के मे जो भी सामग्री प्राप्त

होती है उस पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न ४—सूरदास के जीवनवृत्त के निर्माण में किन किन आधारों से सहायता ली जाती है उन आधारों का सविस्तृत उल्लेख कीजिए ?

उत्तर—सूरदास का जीवन वृत्त जानने के लिए हमें निम्नांकित दो साधनों का सहारा लेना पड़ता है—

(१) बाह्य साक्ष्य अर्थात् कवि के समसामयिक तथा परवर्ती विद्वानों ने उसके सम्बध में जो कुछ कहा है।

(२) अन्तः साक्ष्य अर्थात् कवि ने अपनी कृतियों में अपने सम्बंध में परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में जो कुछ कहा है।

बाह्य साक्ष्य

जहाँ तक सूर सम्बन्धी बाह्य साक्ष्यों का प्रश्न है इस दिशा में हमें दो प्रकार की सामग्री उपलब्ध होती है ; प्रथम में तो सूर के जीवन से सम्बद्ध वे घटनाएँ आती हैं जिनका कि उल्लेख समसामयिक तथा परवर्ती प्राचीन लेखकों व कवियों ने अपनी कृतियों में किया है। इसी के अन्तर्गत साम्प्रदायिक साहित्य, वार्ता साहित्य, परवर्ती कवियों एवं भक्तों द्वारा उल्लेख और समकालीन इतिहास-ग्रंथ आते हैं। द्वितीय श्रेणी में वह सामग्री रखी जा सकती है जो कि हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों तथा आलोचनात्मक प्रबन्धों में दृष्टिगोचर होती है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बाह्य साक्ष्य के रूप में प्राप्त सामग्री में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय साम्प्रदायिक-साहित्य तथा वार्ता-साहित्य ही है जिनमें कि सूर का उल्लेख हुआ है। इन दोनों में भी वार्ता-साहित्य अत्यत महत्वपूर्ण और विचारणीय है तथा उसके अंतर्गत (१) चौरासी वैष्णावन की वार्ता (२) निजी वार्ता तथा श्री हरिराय जी कृत भाव प्रकाश आते हैं। इनके अतिरिक्त वे सम्प्रदाय सम्बंधी ग्रंथ जिनसे सूर के जीवनवृत्त के विषय में कुछ जाना जा सकता है निम्नांकित हैं—

१. वल्लभ दिग्वजय २. संस्कृत वार्ता-माणि-माला ३. अष्टसखामृत ४. सम्प्रदाय कल्पद्रुम ५. जमुनादास कृत धौल ६. भाव संग्रह ७. वैणवा-ह्निक पद

सम्प्रदाय सम्बंधी इन ग्रंथों के अतिरिक्त निम्नलिखित समकालीन या परवर्ती कृतियों में भी सूर का उल्लेख हुआ है—

१. भक्तमाल—नाभादास
२. भक्त माल की टीका—प्रियादास
३. राम रसिकावली—महाराज रघुराजसिंह
४. भक्त विनोद—कवि मियाँसिंह
५. नागर समुच्चय—नागरीदास
६. व्यास वाणी—हरिराम व्यास
७. मूल गुसाईं चरित— बाबा वेनीमाधवदास

इनके अतिरिक्त जिन ऐतिहासिक ग्रंथों में सूर या उनके पिता का उल्लेख किसी न किसी रूप में हुआ है, वे ये है—

१. आइने अकबरी
२. मुन्तखिब-उल-तवारीख
३. मुंशियात-अबुलफजल

इन ऐतिहासिकग्रंथों के साथ-साथ हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों तथा आलोचनात्मक प्रबंधों के रूप मे भी बहुत सी सामग्री सूर के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में बिखरी पड़ी है। यद्यपि हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों की संख्या कुछ कम नहीं है और प्रायः सभी में परम्परा के अनुकूल सूर का परिचय दिया गया है परन्तु निम्नलिखित ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. खोज रिपोर्ट—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
२. इस्तवार दे ला लितेरात्यूर एन्दु ए एन्दुस्तानी—गार्सा द तासी
३. शिवसिंह सरोज—शिवसिंह सेंगर
४. माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ् हिन्दुस्तान्— सर जार्ज ग्रियर्सन
५. मिश्रबन्धुविनोद—मिश्रबन्धु
६. कविता कौमुदी—पं० रामनरेश त्रिपाठी
७. हिंदी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल
८. हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री
९. हिंदी साहित्य का इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा

१० हिंदी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

११ सूरदास जीवन सामग्री—स्व० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सम्पादक—डॉ० भगीरथ मिश्र

आलोचनात्मक पद्धति से सूर के जीवनवृत्त पर छोटे-छोटे निबंध लिखकर र विषयक आलोचनात्मक सामग्री प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम प्रयास क्रमशः शी देवीप्रसाद, बाबू राधाकृष्ण तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही किया और नके पश्चात् ब्रजभाषा के आधुनिककालीन सुप्रसिद्ध कवि बाबू जगन्नाथदास ो रत्नाकर' ने भी इस दिशा में कतिपय उल्लेखनीय प्रयास किए लेकिन आधुनिक ग से ब्रजभाषा साहित्य की समीक्षा कर सूर-साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन ी परम्परा प्रारंभ करने का श्रेय डॉ० धीरेन्द्र वर्मा को ही है। 'विचारधारा' मक निबंध-संग्रह में उनके सूर विषयक सारगर्भित निबंध संकलित भी हैं। ॉ० धीरेन्द्र वर्मा के पश्चात् तो सूर सम्बंधी अनेक समीक्षात्मक ग्रन्थ प्रकाशित ए और होते जा रहे हैं जिनमें से निम्नांकित कृतियाँ विशेष रूप से ल्लेखनीय हैं—

१. भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास—श्री नलिनीमोहन सान्याल
२. सूरदास—डॉ० जनार्दन मिश्र
३. सूर साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४. सूर पंचरत्न—लाला भगवानदीन
५. सूर साहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी
६. सूरदास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल
७. सूर सौरभ—डॉ० मुंशीराम शर्मा
८. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयालु गुप्त
९. सूरदास—डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा
१०. सूर निर्णय—श्री द्वारकादास परीख तथा श्री प्रभुदयाल मीतल
११. महाकवि सूरदास—श्री नंददुलारे वाजपेयी
१२. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा

नाभादास जी के 'भक्तमाल' में सूर विषयक केवल एक छप्पय मात्र दिय या है और उसमें सूर की ——— जो कि परम्परा से प्रसिद्ध है तथा

कवित्व वैशिष्ठ्य का ही उल्लेख है इसके अतिरिक्त सूर विषयक अन्य कोई बा उसमें नही कही गई। यद्यपि भक्तमाल का रचनाकाल सूर के समकालीन ही कहा जाता है लेकिन प्रियादासकृत भक्तमाल की टीका मे सूर विषयक कोई टिप्पणी नहीं दी गई और चूंकि स्वयं नाभादास ने भी 'सूर' नामक अन्य कवियों का भी उल्लेख किया है अतः प्रियादास जी की कृति में सूरसागर के प्रणेता सूरदास पर कुछ न कह कर अन्य सूरदास नामक कवियों के विषय मे ही कहा गया है। भक्तनामावली में तो सूरदास का जीवनवृत्त अत्यंत संक्षेप में दिया गया है तथा रामरसिकावली में यद्यपि सूर के सम्बंध में विस्तार-पूर्वक लिखा गया है लेकिन कई ऐसे तथ्य उसमें भी हैं जिनकी कि प्रामाणिकता विवादास्पद ही है। भक्तविनोद तो प्रचालित जनश्रुतियों का संगुफन मात्र ही जान पड़ता है और व्यासवाणी में तो केवल सूर की कवित्वशक्ति की ही प्रशंसा की गई है तथा मूल गुसाईं चरित को तो प्रामाणिक कृति ही नही माना जाता अतः उसमें दिए गए तथ्यों का भी कोई ऐतिहासिक महत्व नहीं है। तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रंथों से भी हमारी आशा पूर्ण नहीं होती कारण कि आइने अकबरी और मुन्तखिबुल-तवारीख में केवल मात्र सूर के पिता रामदास का उल्लेख है जिन्हें कि अकबर की राजसभा का एक गायक कहा गया है तथा उनके पुत्र सूरदास का अपने पिता के साथ दरबार म आने जाने का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार 'मुंशियात अबुल फजल' में भी किन्ही 'सूरदास' का एक पत्र है जिसमें कि न तो कोई तिथि ही दी गई है और न कोई महत्वपूर्ण घटना ही। इसलिए वार्ता साहित्य तथा अन्य साम्प्रदायिक साहित्य में जो सूरदास सम्बंधी उल्लेख मिलते हैं उन्हीं के आधार पर सूर की जीवन सम्बंधी कतिपय घटनाएँ जानी जा सकती हैं।

चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे सूर के पुष्टि सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के उपरान्त का ही जीवनवृत्त उपलब्ध होता है और जन्मस्थान माता-पिता आदि के सम्बंध में वार्ताकार मौन ही रहा है। पुष्टि सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध है कि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य से केवल दस दिन छोटे थे अतः इस जनश्रुति के आधार पर सूर की जन्मतिथि विक्रम संवत १५३५ वैशाख शुक्ल

पचमी कही जाती है परन्तु कतिपय विद्वान उनका जन्म १५४० वि० स० मे मानते हैं । चौरासी वैष्णावों की वार्ता के अनुसार सूरदास गऊघाट पर जो कि आगरा व मथुरा के बीच है रहते थे तथा वल्लभाचार्य जी से मिलने के पूर्व सन्यासी हो चुके थे और अनेक शिष्य उनकी सेवा मे रहते थे । साथ ही वे गाते बहुत अच्छे ढंग से थे अतः महाप्रभु से भेंट होने पर उन्होंने उनसे कुछ पद सुनाने के लिए कहा । सूर की जन्मभूमि के सम्बंध मे गोपाचल, मथुरा का कोई ग्राम, रुनकता तथा सीही नामक चार स्थानों का अनुमान किया जाता है । गोपाचल और गोपाद्रि ग्वालियर के प्राचीन नाम हैं तथा डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल इसे ही सूर का जन्मस्थान मानते हैं । आचार्य शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दरदास रुनकता को उनकी जन्मभूमि मानते है लेकिन वार्ता साहित्य के अनुसार दिल्ली से चार कोस दूर सीही ग्राम को सूर का जन्म स्थान कहा गया है जो युक्तिसंगत भी जान पडता है । वस्तुतः चौरासी वैष्णवन की वार्ता के भाव-प्रकाश में श्री हरिराय जी ने ही प्रथम बार सूर का जन्म स्थान दिल्ली से चार कोस की दूरी पर सीही ग्राम को माना था और गोकुलनाथ जी के समकालीन 'प्राणनाथ' कवि ने भी 'अष्टसखामृत' में सीही को ही उनकी जन्मभूमि कहा है ।

सूर की जाति तथा वश भी विवादग्रस्त ही हैं और भाव-प्रकाश के आधार पर उन्हें सारस्वत ब्राह्मण कहा जाता है लेकिन उन्हें ब्रह्मभट्ट, ब्राह्मणेतर तथा 'डाढ़ी' और 'जगा' सिद्ध करने के प्रयास भी कुछ कम नहीं हुए परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो सूर को सारस्वत ब्राह्मण मानना ही उपयुक्त होगा । सूर के परिवार के सम्बंध में अनेक भ्रामक कथन प्रचालित हैं तथा कतिपय विचारक तो बिल्वमंगल की कहानी को सूरदास के जीवन की घटना मानने का भी लोभसंवरण नहीं कर सके । हरिराय जी के कथनानुसार कहा जाता है सूर छः वर्ष की आयु में ही घर से विरक्त होकर अपने गाँव से चार कोस दूर एक तालाब के तट पर पीपल के वृक्ष के नीचे रहने लगे और अठारह वर्ष की आयु तक वहीं रहे । कहा जाता है एक जमींदार ने उनके लिए एक कुटी बना दी थी और भोजन का प्रबंध भी कर दिया था लेकिन वैराग्य-भग होने के भय से वे वहाँ अधिक समय तक न रह सके । यह भी कहा जाता है कि वे अलौकिक प्रा [illegible] थे और न केवल [illegible] थे अपितु उनक

चक्षु नाममात्र को भी न थे । कहते हैं सूर सीहीं की किसी रूपवती युवती पर मुग्ध हो गए थे तथा अंत में उसी के सामने उन्होंने अपने नेत्र फोड़ लिए लेकिन यह जनश्रुति बिल्वमंगल के विषय में प्रसिद्ध है और इससे हमारे चरित नायक सूरदास का तनिक भी सम्बंध नहीं है ।

स्मरण रहे प्रचलित जन श्रुतियों में भी सूर के अन्धत्व का ही समर्थन किया गया है लेकिन आधुनिक अधिकांश समीक्षक उनके सौंदर्य-चित्रण को ध्यान में रखकर उन्हें जन्मान्ध मानने के पक्ष में नहीं हैं परन्तु जैसा कि डा० मुंशी-राम शर्मा का मत है "यह तो साधारण मनुष्यों की बात हुई । सूर जैसे उच्चकोटि के संत की तो बात ही निराली है । वे भगवद्भक्त थे, अघटित घटना घटा देने वाले प्रभु के सच्चे भक्त के सामने विश्व के निगूढ़ रहस्य भी अनवगत नहीं रहते । साधारण कवि जिस वस्तु को नेत्र रहते हुए भी नहीं देख सकता उसे क्रान्तदर्शी व्यक्ति एवं महात्मा अनायास ही देख सकता है ।"

(सूर सौरभ—डॉ० मुंशीराम शर्मा; पृ० २४)

कहा जाता है अठारह वर्ष की आयु तक उन्हें काफी प्रसिद्धि मिल चुकी थी तथा वे वैभव-सम्पन्न भी हो गए थे लेकिन अपना समस्त धन वे अपने माता-पिता को सौंप आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट में रहने लगे । चमत्कारी और निष्णात गायक होने के कारण यहाँ भी इनके अनेक सेवक हो गए तथा यहाँ आने के बहुत दिनों पश्चात् उनका वल्लभाचार्य जी से साक्षात्कार हुआ । वल्लभ सम्प्रदाय में सूर का प्रवेशकाल अभी तक ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो सका है कारणकि इस सम्बंध में विचारक एकमत नहीं हैं लेकिन जैसाकि अधिकांश विद्वानों का मत है विक्रम सं० १५६७ को हम सूर का शरणागति काल मान सकते है । कहा जाता है वल्लभाचार्य जी से इनकी भेंट होने पर उन्होंने इनसे कुछ पद सुनाने के लिए कहा तब इन्होंने विनय सम्बंधी कुछ पद सुनाए जिन्हे सुन कर आचार्य महाप्रभु प्रभावित तो अवश्य हुए लेकिन उन्हें इनकी दैन्य भावना रुची नहीं अतः उन्होंने इनसे कुछ भगवत्लीला सम्बंधी पद सुनाने को कहा । तदनंतर वल्लभाचार्य जी ने उन्हें पुष्टि मार्ग में दीक्षित कर श्री-कृष्ण लीला से परिचित कराया और अपने साथ गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी के मंदिर ले जाकर उन्हें 'कीर्तन का मंडान' सौंपा यहां रह कर सूर ने कृष्ण

की विभिन्न लीलाओं के सहस्त्रावधि पद रचे और गाए । महाप्रभु के पश्चात् उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने चार पिता जी के और चार अपने प्रमुख शिष्यों को ले आठ प्रमुख कवियों का कीर्तनमंडल 'अष्टछाप' के नाम से स्थापित किया तथा सूर को इसका प्रमुख बनाया । कहा जाता है सूर की अकबर से भेंट तानसेन ने कराई थी लेकिन इस सम्बंध में प्रामाणिक तथ्य अनुपलब्ध हैं ।

सूर के गोलोकवास के सम्बंध में भी बहुत अधिक मतभेद है फलतः उनकी निधन तिथि वि० सं० १६२० से १६४२ तक मानी जाती रही और कोई भी तिथि निश्चित न हो सकी लेकिन जैसा कि डॉ० दीनदयालु गुप्त और डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने उनका देहावसान सं० १६१० के लगभग माना है वह उचित ही है । कहते हैं सूरदास को जब यह मालूम हुआ कि उनका अंतिम समय सन्निकट है तब वे पारसोली के चन्द्र सरोवर के निकट पहुँच श्रीनाथ जी की ध्वजा के सामने दंडवत् लेट गए और जैसे ही कीर्तन के समय विट्ठलनाथ जी को यह समाचार ज्ञात हुआ वे भी वहीं पहुँचे तथा उन्हें देख गद्-गद् हो सूर कृष्णलीला सम्बंधी एक पद गाने लगे । इसी बीच चतुर्भुजदास ने उनसे कहा कि आपने भगवान का यश तो गाया लेकिन गुरु महाराज का यश वर्णन नहीं किया । यद्यपि सूर भगवान के यश को ही गुरु यश मानते थे परन्तु इतने पर भी उन्होंने कहा—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो ।
श्री बल्लभ नख चन्द छटा बिनु सब जग मांझ अंधेरो ॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरो ।
सूर कहा कहि दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो ॥

कहते है इसके पश्चात् विट्ठलनाथ जी ने उनसे पूँछा कि सूरदास जी चित्त की वृत्ति कहाँ है तब उन्होंने उत्तर दिया कि—

बलि बलि हौं कुमारि राधिका, नंद सुवन जासों रति मानी ।
वे अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि प्रीति करी कैसे होत है हानी ॥

गुँसाई जी ने फिर पूछा कि सूरदास जी नेत्र की वृत्ति कहाँ है तब उन्होंने यह पद गाया—

खंजन नैन रूप रस माते ।
अतिसै चारु चपल अनियार पल पिंजरा न समाते

चलि चलि जात स्रवनन के उलटि पलटि ताटंक फँदाते ।
सूरदास अंजन गुन अटके नातरु अब उड़ि जाते ।।

कहा जाता है इतना कह कर उन्होंने अपने प्राण तज दिए ।

अन्त: साक्ष्य

बाह्य साक्ष्यों के आधार पर सूर के जीवनवृत्त की झाँकी इस प्रकार दी जा सकती है परन्तु यहाँ अन्त:साक्ष्यों पर भी विचार करना आवश्यक है । वस्तुत: अन्त:साक्ष्य के रूप में केवल मात्र इतनी सामाग्री ही प्राप्त है—

सूर सारावली का एक पद, साहित्य लहरी के दो पद तथा सूरसागर के कई पद । इनके आधार पर सूर के जीवनवृत्त के विषय मे थोड़ी बहुत जानकारी हमें प्राप्त हो जाती है । सूर सारावली की निम्नांकित पंक्तियो के अनुसार उसका सृजन करते समय सूर ६७ वर्ष के थे और आचार्य महाप्रभु से मिलने के पूर्व शैव थे—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन ।
शिव विधान तप कर्‌यो बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन ।।

सूर सारावली के अतिरिक्त साहित्य लहरी के दो पद इस दिशा में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जिनमें प्रथम पद उसके रचनाकाल पर प्रकाश डालता है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख ।
दसन गौरी नंद को लिखि, सुबल संवत पेख ।।
नंदनंदन मास, छै ते हीन तृतिया बार ।
नंदनंदन जनम ते हैं बाण सुख आगार ।।
तृतिय ऋक्ष, सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन ।
नंदनंदन दास हित साहित्य लहरी कीन ।।

इसके अनुसार साहित्य लहरी भगवान कृष्ण के भक्तों के लिए लिखी गई है । यद्यपि अंतिम पंक्ति के आधार पर यह भी अनुमान किया जाता है कि कृष्णदास के कहने पर सूर ने इसका निर्माण किया था । उपर्युक्त पंक्तियो के अनुसार साहित्य लहरी का निर्माणकाल इस प्रकार है—मुनि=७, रसन अर्थात् रसना=१ या कार्यों की दृष्टि से=२, रस=६, दसन गौरी-नन्द १ वामतो गति के अनुसार पढने से संवत १६१७ या

१६२७ को साहित्य लहरी का निर्माणकाल मान सकते हैं। नंदनंदन मास से अभिप्राय बैशाख के महीने से है और क्षय से हीन तृतीया का अर्थ अक्षय तृतीया है। तृतीय ऋक्ष से तात्पर्य कृत्तिका नक्षत्र से है। साथ ही योग सुकर्म कहा गया है और चूंकि नंदनंदन कृष्ण का जन्म बुधवार को हुआ था अतः उससे वाण अर्थात् पाँचवा दिन रविवार हुआ तथा संवत् का नाम था सुवल।

स्मरण रहे, 'रसन' शब्द को लेकर इस पद में उल्लिखित संवत् के सम्बंध मे विचारकों में मतभेद है क्योंकि रसन के तीन अर्थ माते गए है। कुछ ने तो 'रसन' का अभिप्राय रसना से ले उसका अर्थ एक ही माना है लेकिन डॉ० मुंशीराम शर्मा रसना के दो कार्य—रसास्वादन और बोलना मानकर यहाँ दो का अर्थ लेना ही युक्तिसगत समझते हैं। साथ ही गणना करने से सुबल का पर्यायवाची वृषभ संवत् १६२७ में ही पड़ता है। परन्तु कतिपय विद्वान तो 'रसन' से 'रस नहीं है जिसमें अर्थात् शून्य' यह अर्थ भी मानते हैं और उनकी दृष्टि मे इसका अर्थ संवत् १६०७ अधिक उपयुक्त है। साहित्य लहरी के इस पद से केवल मात्र इतना ही ध्वनित होता है कि संवत् १६२७ तक सूर जीवित अवश्य थे लेकिन इस पद को प्रामाणिक मानने के सम्बन्ध में भी मतभेद है।

साहित्य लहरी का दूसरा पद बहुत लम्बा है और उसमें सूर के जीवनवृत्त पर पर्याप्त प्रकाश भी डाला गया है जिसका कि सारांश संक्षेप में इस प्रकार है—सूर चंद बरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट थे तथा उनका नाम बचपन मे सूरजदास व सूरजचंद था और वे जन्मांध थे। कहते हैं कि वे सात भाई थे जिनमें छै तो यवनों से युद्ध करते हुए मारे गए अतः अंधे सूरजदास को बहुत दिनों तक इधर उधर भटकना पड़ा। एक दिन वे एक कुएँ में गिर पडे और छै दिनों तक उसी में पड़े रहे तब सातवें दिन भगवान कृष्ण प्रकट हुए और उन्हें दृष्टि प्रदान कर अपना दर्शन दिया तथा कहा कि दक्षिण के एक प्रवल विप्र कुल द्वारा शत्रुओं का नाश होगा। श्रीकृष्ण ने उन्हें सब विद्याओ मे निपुण होने का आशीर्वाद भी दिया और उनसे वर माँगने के लिए कहा तब उन्होंने कहा कि मैंने जिन आँखों से आपका दर्शन किया है अब उनसे और कुछ न देखूँ तथा सर्वदा आपका ही भजन करता रहूँ। इस प्रकार कुएँ से बाहर निकाले जाने पर वे पुन ज्यों के त्यों अंधे ही गए और ब्रज आकर भजन करने लग तथा ९ के पुत्र गोसाई ८ जी ने उन्हे

टछाप म शीष स्थान प्रदान किया।। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने साहि
'री के इस पद को प्रामाणिक मानने पर बहुत अधिक जोर दिय
कन मिश्रबन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० दीनदयालु गुप्त, डॉ० ब्रजे
ी, श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल आदि विद्वान
त नहीं मानते।

इनके अतिरिक्त सूरसागर मे भी कई एक स्थल हैं जहाँ कि कवि
ने जीवन के सम्बन्ध में कुछ कहा है। उनके गार्हस्थ्य जीवन के सम्बन्
नांकित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

१. कितक दिन हरि सुमरन बिनु खोए।
पर निन्दा रसना के रस में अपने पर तर बोये॥
तेल लगाइ कियो रुचि मर्दन बस्त्रहिं मलि मलि धोये।
तिलक बनाय चले स्वामी ह्वै विषयनि के मुख जोये॥ इत्यादि

२. अब कैं नाथ मोहिं उधारि।
मगन हौं भव-अंबुनिधि में कृपासिंधु मुरारि॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग॥
मीन इन्द्री तनहिं काटति मोट अघ सिर भार। इत्यादि

३. आधौ गात अकारथ गार्यो।
निशिदिन विषय विलासन विलसत फूटि गई तब चार्यौ॥ इत्यादि

४. कीजै प्रभु अपने विरद की लाज।
माया सबल, धाम, धन, बनिता बाँध्यौं हौं इहि साज॥ इत्यादि

५. अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहरि चोलना कंठ विषय की माल॥
महामोह को नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल। इत्यादि

६. स्रक चन्दन बनिता विनोद सुख यह जर जरन बितायो।
मैं अजान अकुलाइ अधिक लै जरत माँझ घृत नायो॥
भ्रमि भ्रमि हौं हार्यो हिय अपने देखि अनल जग छायौ।
सबै दिन गये विषय के हेत।

तीनों पन ऐसे ही बीते केश भये शिर सेत ॥
आँखिनु अंध, श्रवण नहिं सुनियत, थाके चरण समेत ॥

८. दीनानाथ अब बार तुम्हारी ।
पतित उधारन बिरद जानि कैं बिगरी लेहु सँभारी ।
बालापन खेलत ही खोयो युवा विषय रस माते ।
वृद्ध भये सुधि प्रकटी मोकों दुखित पुकारत तातें ।
सुतनि तज्यो, तिय तज्यो, भ्रात तजि तन त्वच भई जुन्यारी ।
श्रवन न सुनत, चरन गति थाकी, नैन बहैं जलधारी ॥

इन उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त कई अन्य पद भी सूरसागर मे है जिनमें कि सूर के जीवनवृत्त सम्बन्धी कतिपय अन्तःसाक्ष्य उपलब्ध होते है। इन सभी अन्तःसाक्ष्यों में सूर ने अपने वैभव एवं विलासपूर्ण जीवन के विषय में कहा है तथा अपने पापों का भी वर्णन किया है और इसके अतिरिक्त इनसे सूर की जन्मान्धता के विषय में भी पता चलता है लेकिन कतिपय विचारकों का तो यह भी मत है कि "सूर के इन पदों मे तत्कालीन स्थिति का ही अधिक ज्ञान होता है। सम्भवतः जनसाधारण की यही स्थिति उस समय थी।" इस प्रकार अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर सूर का जीवनवृत्त अंकित करना सहज नहीं है कारण कि न तो पर्याप्त मात्रा मे तथ्य ही उपलब्ध होते हैं और न उन्हें निर्विवाद रूप से प्रामाणिक माना जाता है अतः बाह्य साक्ष्यों का आधार लेकर ही सूर के जीवनवृत्त की झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है जैसाकि अभी हम अंकित कर चुके हैं।

प्रश्न ५—सूरदास जी की कृतियों पर प्रामाणिकता और विषय की दृष्टि से विचार कीजिए।

प्रश्न ६—सूरदास जी की रचनाओं की प्रामाणिकता पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—महाकवि सूरदास के जन्मकाल जाति वेश तथा मृत्युकाल आदि की भाँति उनके द्वारा निर्मित कृतियों के सम्बन्ध में भी कुछ कम मतभेद

नहीं है और इस विषय में पर्याप्त खोज की जाने पर भी अभी तक इस सम्बन्ध में कोई भी सर्वमान्य मत स्थिर नहीं किया जा सका कि सूर के नाम से कही जाने वाली रचनाओं में से वास्तव में कौन कौन सी उनकी कृतियाँ हैं। स्मरण रहे वार्ता साहित्य अथवा सूर के समसामयिक इतिहास-ग्रंथों मे उनकी कृतियों के सम्बन्ध में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता वार्ता साहित्य में तो केवल सूर के सहस्रावधि पदों के रचे जाने की बात कही गई है लेकिन सूरदास या उनसे सम्बद्ध अन्य नामों की टेक वाले सभी पदों को सूरदासकृत मानकर बाद में संगृहीत किए गए ग्रंथों की संख्या पर्याप्त है। इस प्रकार काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट, इतिहास ग्रंथ एवं पुस्तकालयों में सुरक्षित ग्रंथों की नामावली के अनुसार सूर से सम्बद्ध पच्चीस ग्रंथ कहे जाते हैं जिनमें से कई ऐसे हैं जो एकमात्र सूरसागर के ही अंश हैं और कुछ ऐसे हैं जो केवल टेक के ही कारण सूरकृत माने जाते हैं। इन पच्चीस ग्रंथों की तालिका इस प्रकार दी जाती है—

१. सूर सारावली २. साहित्य लहरी ३. सूरसागर ४. भागवत भाषा ५. दशमस्कन्धभाषा ६. सूरसागरसार ७. सूर रामायण ८. मानलीला ९. राधारसकेलिकौतूहल १० गोवर्धनलीला ११. दान लीला १२. भँवर गीत १३. नाग लीला १४. ब्याहलो १५. प्राणप्यारी १६. दृष्टिकूट १७. सूरशतक १८. सूरसाठी १९. सूरपचीसी २०. सेवाफल २१. सूरदास विनय आदि के स्फुट पद २२. हरिवंश टीका (संस्कृत) २३. एकादशी माहात्म्य २४. नल दमयंती २५. रामजन्म।

इन ग्रंथों में से कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित हैं तथा इन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास के पदों एवं उनके नाम से प्रचलित पदों का संग्रह लिख-लिख कर कुछ स्थानों पर प्रतिलिपियाँ सुरक्षित रखी गईं और जब अनुसंधान कार्य प्रारम्भ हुआ तो इन हस्तलिखित प्रतियों को सूर का स्वतन्त्र ग्रंथ ही मान लिया गया। इस संदर्भ में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उनमें से कई रचनाएँ तो सूरसागर के कुछ पदों का संकलन मात्र है। साथ ही इस तालिका में उल्लिखित हरिवंश टीका को सभी विचारक सूरदास की रचना नहीं मानते कारण कि संस्कृत का कोई अन्य ग्रंथ अभी तक

सूर का नहीं मिला और फिर सूर ही क्या अष्टछाप के अन्य किसी भी कवि ने संस्कृत में रचना नहीं की। इसके अतिरिक्त डॉ० मोतीचन्द्र जी की खोज से यह भी सिद्ध हो चुका है कि नल-दमयन्ती वास्तव में नलदमन नामक सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है जो कि सं० १६८५ में किसी अन्य सूरदास द्वारा लिखा गया था। इसी प्रकार एकादशी माहात्म्य की रचना एक तो अवधी भाषा में तुलसीदास की तरह दोहे, चौपाइयों में की गई है और दूसरे यह सूर द्वारा स्वीकृत पुष्टिमार्ग के सिद्धातो पर भी आधारित नहीं है अतः इन दोनों दृष्टियों से इस रचना का सूरदास से सम्बंध जोड़ना नितान्त भ्रमपूर्ण है। 'रामजन्म' रचना भी सूर द्वारा स्वीकृत वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और मत की कसौटी पर खरी नहीं उतरती तथा यह रामचरितमानस और पद्मावत की शैली में अवधी भाषा में लिखी गयी है अतः यह अष्टछापी सूरकृत न होकर किसी अन्य रामोपासक सूरदास द्वारा लिखी गयी है। डॉ० जनार्दन मिश्र ने तो अपने गवेषणात्मक प्रबंध 'सूरदास' में सूर के उन पदों को भी प्रक्षिप्त ही माना है जो कि सूरजदास और सूरश्याम के नाम से लिखे गए हैं अतः इस दृष्टि से तो एकादशी-माहात्मय और रामजन्म को सूरदास की कृतियाँ नहीं माना जा सकता क्योंकि इनके प्रणेता का नाम सूरजदास दिया गया है।

अब दी गई तालिका में जो इक्कीस कृतियाँ अवशिष्ट बच जाती हैं उनके सम्बंध में विचार करने के पश्चात् श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने 'सूर निर्णय' में सूर की ये प्रामाणिक रचनाएँ मानी हैं—सूर सारावली, साहित्य लहरी, सूरसागर, सूर साठी, सूर पचीसी, सेवा-फल और सूरदास के विनयादि के स्फुट पद। शेष चौदह कृतियों को तो वे सूरसागर के अंतर्गत ही मानते हैं। परन्तु 'सूर निर्णय' में दी गई सात कृतियों को भी सूर की स्वतंत्र रचनाएँ स्वीकार करने के पक्ष में अन्य अधिकांश विचारक नहीं हैं तथा डा० दीनदयालु गुप्त एवं अन्य कुछ आधुनिक समीक्षक सूर सारावली, साहित्य लहरी और सूरसागर नामक तीन कृतियों को ही सूरदास की रचना मानते हैं। अब हम इन पर क्रमश विचार करेंगे।

सूर सारावली

श्री   और श्री वाचस्पति त्रिपाठी ने लिखा

कि "सूर सारावली, साहित्य लहरी और सूरसागर के तुलनात्मक अध्य करने से पता लगता है कि ये वास्तव में तीन ग्रंथ नहीं हैं। सूरसाराव जैसा कि उसके नाम से ही ज्ञात होता है स्वतंत्र ग्रंथ होने के बजा सूरसागर की अनुक्रमणिका ही समझी जा सकती है। संभव है f सूरदास ने इन पदों की रचना की हो और उन्हें सूरसागर की भूमि स्वरूप रख दिया हो।" (सूर साहित्य की भूमिका; पृ० २१)। यहाँ य भी स्मरण रहना चाहिए कि यह ग्रंथ सूरसागर के प्रारम्भ में दिय हुआ है और वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई तथा नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित सूरसागर के दोनों ही संस्करणों के प्रारम्भ में यह ग्रंथ मुद्रित है और इसके नामकरण से ऐसा आभास होता है कि यह सूरसागर की भूमिका या सारांश रूप में प्रस्तुत हुआ है लेकिन वास्तव में न तो यह सूरसागर की भूमिका ही है और न उसका सारांश ही। कुल ११०७ पदों की इस कृति में कृष्ण की संयोग लीला, वसन्त, हिंडोला और होली आदि का विस्तृत वर्णन है। समीक्षकों द्वारा सूर सारावली की प्रामाणिकता पर भी काफी विचार किया गया है और डॉ० दीनदयालु गुप्त, डॉ० मुंशीराम शर्मा, श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल तथा डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने इसे सूरकृत ही माना है परन्तु डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा इसे सर्वथा अप्रामाणिक कृति ही मानते हैं लेकिन श्री द्वारकादास परीख तथा श्री प्रभुदयाल मीतल इसकी प्रामाणिकता पर सांगोपांग विचार कर इसे प्रामाणिक मानते हुए निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से यह सारावली निस्संदेह सूरदास की प्रामाणिक रचना है। इसमें प्राप्त आत्म-कथन और कवि-छापों से भी इसकी पुष्टि होती है।

(२) सारावली की रचना वि० सं० १६०२ में हुई है।

(३) सारावली का आधार पुरुषोत्तम-सहस्त्रनाम है।

(४) सारावली का दृष्टिकोण सैद्धांतिक रहा है।

(५) विक्रम संवत् १६०२ पर्यन्त सूरदास ने श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कंध के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय की नित्य और वर्षोत्सव की सेवा के जिन पदों को गाया था उन्हीं का यह सूची-पत्र अथवा
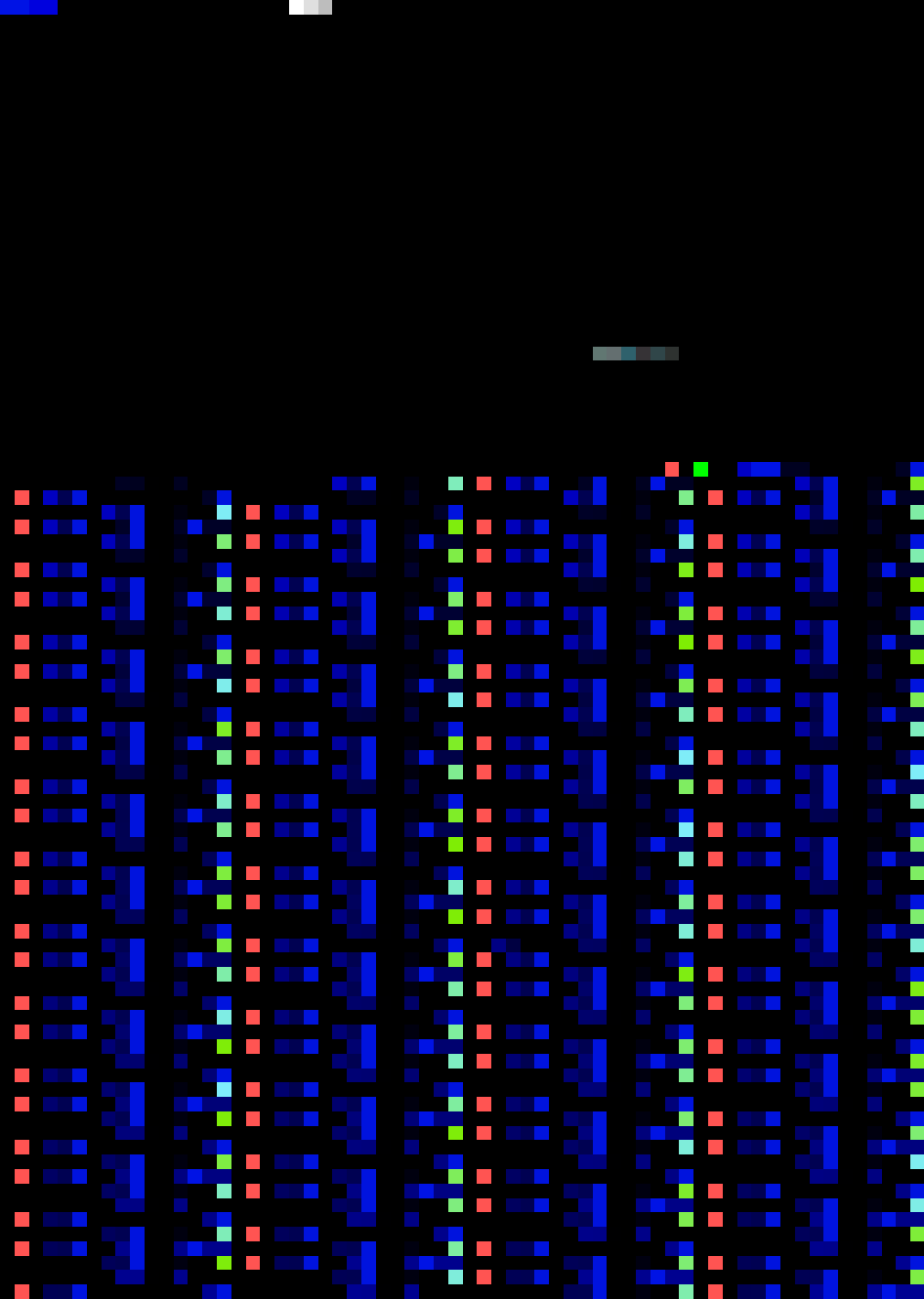
सिद्धान्तात्मक सार है सृष्टिरचना के लिये उसकी प्रारंभिक विशिष्ट प्रस्तावना और होरी खेल की कल्पना इस सिद्धान्तात्मक दृष्टि की पुष्टि करती है।

(६) द्वादश-स्कन्धात्मक भागवत के सार रूप में इसमें प्रधानतः २४ अवतारों का वर्णन और नित्य एवं उत्सव की सेवाओं के पदों के साररूप से 'सरस सवत्सर लीला' की भावनाओं का वर्णन है। इस प्रकार सारावली में कथा-वस्तु को दो भागों में प्रथक्-प्रथक् बांटना भी 'ताकौ सार सूर सारावली' वाले कथन की पुष्टि करता है।

इस प्रकार सारावली सूरदास की एक स्वतंत्र सैद्धांतिक रचना है।"

(सूर निर्णय; पृष्ठ १४२–१४३)

सूर सारावली के एक पद की इस पंक्ति के अनुसार कि " ता दिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्द" सूर के एकलक्ष पद लिखने की बात भी कही गयी है लेकिन एक लक्ष पद बन्द से एक अथवा सवा लाख पदों की कल्पना निराधार ही है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने तो 'अष्टछाप परिचय' में एक लक्ष का अर्थ संख्यावाचक न मान कर एक लक्ष भगवान अर्थात् लक्ष-अक्षय-स्वरूप श्रीकृष्ण कहा है। परन्तु मीतल जी के इस कथन से सहमत होना असम्भव ही है कारण कि इस पद के पूर्वापर सम्बन्ध से लक्ष शब्द संख्यावाचक ही है। डा० हरबशलाल शर्मा की दृष्टि में तो इस पद का निर्वाह निम्नांकित दो प्रकार से हो सकता है—

१—'लक्ष पद बन्द' में लक्ष शब्द तो संख्यावाचक ही है परन्तु 'बन्द' शब्द प्रत्येक पंक्ति का सूचक है। इस प्रकार एक लाख पंक्तियाँ दस सहस्र पदों से भी कम में आ सकती हैं और ६७ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने अवश्य इतने पदों की रचना कर ली होगी अथवा भावि-पद-निर्माण-योजना का भी यह सूचक हो सकता है।

२—यह पद भी इस भ्रांति का कारण है कि सूर सारावली ग्रंथ सूरसागर का सारांश है। संभव है कि यह प्रक्षिप्त हो और बाद में ही किसी ने जोड़ दिया हो।

सूर और उनका साहित्य डॉ० शर्मा पृ० ९६२

साहित्य लहरी

साहित्य लहरी सूर के ११७ दृष्टिकूट पदों का संग्रह है जिनमे से पद संख्या १०९ में साहित्य लहरी का रचनाकाल तथा ११७ में सूर की वंशावली दी गई है; अवशिष्ट पदों में भगवान कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया गया है। साहित्य लहरी के विषयों में तारतम्यता का अभाव सा है तथा कृष्ण की बाल-लीला और नायिका-भेद के रूप में राधिका की मान-लीला के वर्णन के साथ ही महाभारत की कथा के कुछ प्रसंग भी दिए गए हैं। साहित्य लहरी प्रधान रूप से एक साहित्यिक रचना है और भक्ति का आधार इसमें उस रूप में नहीं मिलता जिस रूप मे कि पुष्टिमार्गी कविता मे मिलता है। साथ ही यह साधारण काव्य-ग्रंथ न होकर लक्षण-ग्रंथ ही प्रतीत होता है और इसमें स्वकीया, परकीया, मुग्धा, प्रौढ़ा, धीरा, ज्येष्ठा, विदग्धा आदि नायिकाओं का वर्णन करने के साथ-साथ दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, प्रस्तुत आदि अलंकारों का भी श्लिष्ट शब्दों मे उल्लेख किया गया है।

यद्यपि कतिपय विचारक इस तथ्य पर संदेह ही करते हैं कि सूर ने दृष्टि-कूट पदों की रचना स्वतंत्र रूप से की थी लेकिन यह तो अब सिद्ध सा हो चुका है कि महाकवि सूरदास ने दृष्टिकूट पदों की रचना स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में की थी और काँकरौली विद्या-विभाग मे तो सरदार कवि की टीका के अतिरिक्त इसकी अन्य दो टीकाएँ भी हैं। यह भी अनुमान किया जाता है कि सूर ने केवलमात्र दृष्टिकूट सम्बन्धी पदों की रचना की होगी और उनके जीवनकाल में उनका संकलन भी हो गया होगा तथा हो सकता है बाद मे कुछ पद उसमें और भी जोड़ दिए गए हों क्योंकि इतना अवश्य है कि साहित्य लहरी का जो रूप इस समय है उसमें कुछ पद प्रक्षिप्त अवश्य हैं।

सूर सारावली की भाँति साहित्य लहरी की प्रामाणिकता भी सूर साहित्य के आलोचकों का प्रमुख आलोच्य विषय रहा है और डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के अतिरिक्त सभी ने इसे प्रामाणिक माना है। डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के अनुसार साहित्य लहरी के प्रणयन में उसके कवि की मूल प्रेरणा साहित्यिक है, भक्ति नहीं और साथ ही इन दृष्टिकूट कहे जाने वाले पदों में स्पष्टत. राधा तथा कृष्ण के वर्णन नहीं हैं बल्कि कुछ पद शृंगार से सम्बद्ध होते हुए भी

राधा का उल्लेख नहीं करते और कुछ स्पष्टतया राधा और दाम्पत्य रति से सम्बद्ध है। उन्होंने यह तर्क भी प्रस्तुत किया है कि सूरसागर के सभी पदों मे कवि ने अपनी भक्तिभावना किसी न किसी रूप में अवश्य प्रकट की है जबकि साहित्य लहरी में इसका अभाव सा है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि यदि इसे सं० १६२७ की रचना मानें तो यह सम्भव नहीं दीखता कि सूरदास ने अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व अपनी भक्ति-भावना-पूर्ण मनोवृत्ति में आकस्मिक परिवर्तन कर इस ग्रंथ की रचना की थी।" (**सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा पृ० ८७-९३**) इन्हीं तर्कों के आधार पर डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा साहित्य लहरी को अष्टछापी सूर की कृति नहीं मानते लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उनके ये तर्क ठोस भित्ति पर आधारित नहीं जान पड़ते। इन सभी तर्कों मे विचारणीय तर्क केवलमात्र यही है कि सूर का अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व अपनी भक्ति-भावना की मनोवृत्ति तजकर शृंगारपूर्ण रचना करना उचित नहीं है तथा अन्य सभी तर्क तो इसी से सम्बन्धित जान पड़ते हैं। जहाँ तक सूरदास का अपनी मृत्यु के कुछ ही समय पूर्व अपनी भक्ति-भावना की मनोवृत्ति त्याग कर शृंगारपूर्ण रचना करने का प्रश्न है हमारी दृष्टि मे इसमें सूर की मनोवृत्ति का किसी भी प्रकार परिवर्तन नहीं हुआ कारणकि 'भाषा सुबोधिनी' के "तस्नु ब्रह्माण्ड मध्ये आनन्दोऽभिव्यक्तिस्तिष्ठति भगवद्-रूप" के अनुसार ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं जो भी आनन्दाभिव्यक्ति है कृष्ण का ही रूप है। पुष्टिमार्ग की इस भावना और विश्वास के अनुरूप साहित्य लहरी मे प्रयुक्त शृंगार रस—नायिका भेद, रस और अलकार आदि—के उदाहरण आनन्द रस के ही परिपोषक हैं—तथा उनमें भी पर्याय से भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का ही चित्रण है अतएव उसे सूर की भक्ति-भावना से पृथक् समझना उचित नहीं है क्योंकि उसमें राधा और उनके आराध्य कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित राधा और गोपियो के रूप का ही वर्णन है। साथ ही वल्लभाचार्य जी ने सुबोधिनी टीका मे यह भी लिखा है कि—

काव्य कथा अपिनीताः। काव्योक्त प्रकारेण गीत गोविन्दोक्त।
न्यायेनारपि रति कृतवान्। तत्र हे तुः रसाश्रया इति।

इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण ने के अनु

सार नायिकाभेदादि की प्रणाली से भी रमण किया था। साथ ही श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल का भी यही मत है कि सूर के समस्त रचनाओं का मूलाधार श्रीमद्भागवत ही रहा है क्योंकि महाप्रभु ने उनको अपनी शरण में लेते ही पुरुषोत्तम सहस्रनाम और दशम स्कन्ध की अनुक्रमणिका के द्वारा श्रीमद्भागवत की दशविधि लीलाओं का बोध कराया था अतः उसी के आधार पर सूर ने समस्त भागवत की कथाओं का सामान्य अनुवाद और दशम स्कन्ध की स्पष्ट लीलाओं का विशेष रूप से सविस्तृत वर्णन किया है। चूँकि साहित्य लहरी में दशम स्कन्ध की अस्पष्ट सांकेतिक लीलाओं में उस विषय का भी समावेश हो जाता है अतः यदि सूर ने इस ग्रंथ की रचना न की होती तो उनके द्वारा श्रीमद्भागवत् की लीलाओं का पूर्ण रूप से वर्णन न हो पाता। (**सूर निर्णय, पृ० १४५—४६**)

साथ ही यदि साहित्य लहरी की भाषा की सूर के अन्य ग्रंथों की भाषा से तुलना की जाय तो उसमें हमें कोई भिन्नता नहीं दिखाई देती और उसी प्रकार साहित्य लहरी की दृष्टिकूट शैली भी सूरसागर में दृष्टिगोचर होती है+ अतः भाषा-शैली की दृष्टि से भी यह सूर की ही कृति ज्ञात पड़ती है। डॉ० वर्मा का यह तर्क भी निरर्थक ही है कि साहित्य लहरी साहित्यिक कृति है अतः वह सूर की रचना नहीं हो सकती क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उसका उद्देश्य भगवान की रहस्यमय लीलाओं का वर्णन करना मात्र था। साथ ही वर्मा जी की यह आपत्ति भी युक्तिसंगत नहीं है कि वार्ता साहित्य में साहित्य लहरी का नाम नहीं आया है क्योंकि वार्ताओं का अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य लहरी कथा-प्रसंग रूप में कही गई है तथा उसमें ऐतिहासिक शैली का अभाव सा है। अतः इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर यही स्पष्ट होता है कि साहित्य लहरी सूरदास की ही कृति है।

+ समतासूचक कुछ उदाहरण देखिए—

(१) **गृह ते चली गोप कुमारि ।**
खरिक ठाढ़ो देख अद्भुत एक अनुपम मार ।।
कमल ऊपर सरल कदली कदलि पर मृगराज ।

साहित्य लहरी को प्रामाणिक मानते हुए भी हम यह स्वीकार करना ही होगा कि उसमें कुछ प्रक्षिप्त पद अवश्य हैं और इस संदर्भ में डॉ० दीनदयालु गुप्त का यह मत विचारणीय है "साहित्य लहरी सूरदास के दृष्टिकूट पदों का ग्रंथ है जिसका संकलन सूर के जीवनकाल में हो गया था। इसकी रचना के बाद भी सूर ने सूरसागर में दृष्टिकूट पद लिखे और उनको छाँट कर लोगों ने बाद को मूल साहित्य लहरी में मिला दिया। यह ग्रंथ यद्यपि सूरसागर का अंश कहा जा सकता है फिर भी एक स्वतन्त्र

---

[1] सिंध ऊपर सर्प दोई सर्प पर ससि साज।
मध्य ससि के मीन खेलत रूपकान्त सुजुक्ति।
सूर लखि भई मुदित सुन्दर करत आधी उक्ति॥

—साहित्य लहरी

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज वर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।

—सूरसागर

(२) जब तें हौं हरि रूप निहारो।
तब तें कहाँ कहौं री सजनी लागत जग अँधियारो॥

—साहित्य लहरी

जब ते सुन्दर बदन निहारो।
ता दिन तें मधुकर मन अटक्यो बहुत करी निकरै न निकारो।

—सूरसागर

(३) ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध करि खात हरष मन बाढ़ौ।

—साहित्य लहरी

ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध करि को बरजै हमें खात॥

—सूरसागर

(४) नंद नंदन बिनु ब्रज में ऊधो सब विपरीति भई।

—साहित्य लहरी

मदनगोपाल बिना या तन की सबै बात बदली।

ग्रंथ है जो अपनी निजी विशेषतायें रखता है।" (**अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय; पृ० २९४**) डॉ० दीनदयालु जी गुप्त ११८ वें पद को तो पूर्णतः प्रक्षिप्त मानते ही हैं बल्कि साथ ही यहाँ तक कहते हैं कि १०९ वें पद के अनन्तर सभी पदों का समावेश साहित्य लहरी में बाद में ही हुआ है। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने साहित्य लहरी को समग्रतः प्रमाणिक माना है और ११८ वें पद के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ की हैं लेकिन वास्तविकता तो यही है उसकी अप्रामाणिकता पूर्णतः सिद्ध हो चुकी है अतः उसकी प्रामाणिकता पर विचार करना आवश्यक नहीं है ।

सूरसागर

सूरदास की तृतीय और सर्वश्रेष्ठ तथा वृहत् रचना सूरसागर की प्रामाणिकता तो असंदिग्ध ही है तथा इस ग्रंथ के सूरकृत होने में सभी विचारक एक मत हैं। सम्भवतः सूर के जीवनकाल में ही उसका किसी न किसी रूप मे संकलन हो गया होगा और गोकुलनाथ जी कृत सूरदास की वार्ता मे इस बात का संकेत भी है कि सूर ने सहस्त्रवधि पदों की रचना की है जिनका सागर सारे संसार मे प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार गोस्वामी हरिराय जी कृत 'सूरदास जी की वार्ता' मे लिखा है—"सो तब सूरदास जी मन में विचारें, जो मैं तो मन मे सवा लाख कीर्तन प्रकट करिवे को संकल्प कियो है । सो ता में ते लाख कीर्तन तौ प्रकट भये है सो भगवत् इच्छा तें पच्चीस हजार कीर्तन और प्रकट करने है।" इसी वार्ता के ६० वें पृष्ठ पर लिखा है— "और सूरदास जी ने श्री ठाकुर जी के लक्षावधि-पद किये हैं ।" यह एक लाख पदों वाली बात सूर सारावली के निम्नांकित उद्धरण से भी सिद्ध हो जाती है—

> **ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद ।**
> **ता को सार सूर सारावलि गावत अति आनन्द ।।**

इस सहस्त्रावधि एवं एक लक्ष पद वाली उक्ति को लेकर आधुनिक विचारकों ने कई तर्क प्रस्तुत किए हैं और यों तो हरिराय जी ने स्पष्टतः सवा-लाख पदों का उल्लेख किया है लेकिन अब तक के अनुसंधान के फलस्वरूप सूरसागर के आठ, दस सहस्त्र पद से अधिक नहीं प्राप्त हो सके हैं । 'शिवसिंह सरोज' के लेखक का कहना है कि उन्होंने साठ हजार पद देखे हैं परन्तु साठ हजार

पदों वाली कौन सी प्रति है इसका उल्लेख कहीं नहीं किया। बाबू राधाकृष्ण दास तो सवा लाख पदों की जनश्रुति ठीक मानते हैं और उनका कहना है कि सूर ने एक लाख पद तो सारावली के समाप्त होने तक बना लिए थे अतः इसके पश्चात् और भी पद बनाए होंगे। परन्तु डॉ० श्यामसुन्दरदास सूर के केवल ६ हजार पद ही मानते हैं तथा श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल उनकी संख्या ९३२५० मानते हैं। श्री मोतीलाल मेनारिया तो सहस्त्रावधि पद-संख्या को आधार मानकर सूरसागर को एक हजार पदों की परिधि में समाप्त होने वाला ग्रंथ ही बतलाते हैं। डॉ० हरवंशलाल शर्मा का विचार है कि "वार्ता-साहित्य के इन उल्लेखों से ऐसा आभास मिलता है कि सूरदास जी के कीर्तन पदों का संकलन उनके जीवन-काल में ही हो गया था तथापि उनके समय की कोई प्रति उपलब्ध नहीं होती। सूरदास जैसे सिद्ध कवि के लिए अपने भक्ति-भाव-भरित दीर्घ जीवनकाल में सवा लाख पदों की रचना करना कोई असम्भव बात नहीं थी। इस कारण हम सहज ही निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं—

१—सूर ने अवश्य सवा लाख के लगभग पदों की रचना की।

२—छै वर्ष की ही अल्पायु में वे गृह त्याग कर चार कोस की दूरी पर एक गाँव में रहने लगे और वहाँ अपने भक्त एवं सेवकों को विरह के पद सुनाते थे। १८ वर्ष की आयु तक यही क्रम चलता रहा, इस दीर्घ काल में उन्होंने कितने ही पदों की रचना की होगी।

३—१८ वर्ष की अवस्था से ३१ वर्ष की आयु तक गौ-घाट पर रहे। उनकी वार्ता में लिखा है—

"सूरदास को कंठ बहुत सुन्दर हतो, सो गान विद्या में चतुर और सगुन बताइबे में चतुर, उहाँ सेवक बहुत भये, सो सूरदास जगत में प्रसिद्ध भये।"

इन तेरह वर्षों में सरस्वती कंठाभरण आशुकवि सूर ने निस्संदेह अगणित पदों की रचना की होगी।

४—इसके पश्चात् लगभग ७०-७२ वर्ष के साम्प्रदायिक जीवन में भगवान् की लीला के विषय में इतने पद रचना करके गाये होंगे जिनकी गणना करना अत्यंत कठिन है। अपनी अप्रतिम प्रतिभा कलित कल्पना

एवं भाव भरे अन्तःकरण में न जाने कितने छंद, राग-रागनियों और भावों की उद्भावना प्रज्ञाचक्षु सूर ने की होगी।"

(सूर और उनका साहित्य : डॉ० हरवंशलाल शर्मा पृ० ५५-५६)

इस प्रकार सूरसागर की पद संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न अनुमान लगाए जाते हैं परन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि सूर के बहुत से पद आज अलभ्य हैं अन्यथा यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो कि उन्होंने सवा लाख पदों की रचना की हो पर लेकिन आज तक जितने भी पद मिले हैं वे ही सूरदास को महाकवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

प्रश्न ७—विषय-वस्तु की दृष्टि से सूरसागर और श्रीमद्भागवत की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए सूर की मौलिकता का निर्देश कीजिए।

प्रश्न ८—'सूरसागर श्रीमद्भागवत की काव्यमयी छाया है, अनुवाद नहीं।'' इस कथन की सोदाहरण विवेचना कीजिए।

उत्तर—वल्लभाचार्य जी के पुष्टि सम्प्रदाय में श्रीमद्भागवत की विशेष रूप से मान्यता रही है और उसे चौथा प्रस्थान माना जाता है तथा यह भी सर्वविदित ही है कि सूरदास जी न केवल इस सम्प्रदाय में दीक्षित थे बल्कि आचार्य महाप्रभु से 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' सुनकर ही उनके हृदय में भगवल्लीला का स्फुरण हुआ था। 'सूरदास की वार्ता' में लिखा भी है "ता पाछे श्री आचार्य जी ने सूरदास कूँ पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम सुनायौ तब सगरे श्रीभागवत की लीला सूरदास के हृदय में स्फुरी, सो सूरदास ने प्रथम स्कन्ध श्रीभागवत सो द्वादश स्कन्ध पर्यन्त कीर्तन वर्णन किये। तामें अनेक दान लीला, मान लीला आदि वर्णन किये गये हैं।" जहाँ तक सूरसागर की विषय-वस्तु का प्रश्न है यह तो प्रायः सभी हिन्दी के पाठक जानते ही हैं कि कृष्ण-लीला का गायन ही उसका प्रमुख विषय है और सूरसागर में कृष्ण के जिस रूप का वर्णन किया गया है वह भी बहुत कुछ श्रीमद्भागवत के अनुरूप ही है। साथ ही श्रीमद्भागवत की भाँति सूरसागर में भी बारह स्कंध हैं लेकिन यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उसमें श्रीमद्भागवत के सभी प्रसंग नहीं हैं। स्मरण रहे सूरसागर की संग्रहात्मक एवम् द्वादश

क नामक दो प्रकार की प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं तथा संग्रहात्म
न ना प्राय. इस बात का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता कि की
न का अनुसरण किया है परन्तु द्वादश-स्कन्धात्मक प्रतियों में इ
' अनेक उक्तियाँ मिलती हैं ; कुछ उदाहरण देखिए—

श्री मुख चारि श्लोक दए ब्रह्मा को समुझाइ ।
ब्रह्मा नारद सों कहे नारद व्यास सुनाइ ।।
व्यास कहे सुकदेव सों द्वादस-स्कन्ध बनाइ ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ ।।
व्यास देव जब सुकहिं पढ़ायो सुनि कै सुक सो हृदय बसायौ ।
सुक सौं नृपति परीक्षित सुन्यौ तिनि पुनि भली भाँति करि गुन्यौ
सूत सौनकादि सों पुनि कह्यौ बिदुर सो मैत्रेय पुनि लह्यौ
सुनि भागवत सबनि सुख पायौ सूरदास सो बरनि सुनायौ
कहौं सुकथा सुनौ चित धारि सूर कह्यौ भागवत बिचारि ।
कहौं सुकथा सुनौ चित धारि सूर कह्यौ भागवत अनुसारि ।
सूर कहो क्यों कहि सकै जन्म कर्म अवतार ।
कहै कछुक सुक कृपा तें श्री भागवत अनुसार ।।
सुकदेव कह्यो जाहि परकार सूर कह्यो ताही अनुसार ।
तहँ कियौ जज्ञ पुरुष अवतार सूर कह्यो भागवत अनुसार ।
पारवती बिवाह व्यवहार सूर कह्यौ भागवत अनुसार ।
सुक ज्यों राजा को समुझायो सूरदास त्यों ही कहि गायौ ।
ज्यों सुक नृप कौं कहि समुझायौ सूरदास त्यों ही कहि गायौ ।
सुकदेव ज्यौं दियौ नपहि सुनाइ सूरदास कह्यौ ताही गाइ ।
सुक नृपति पाहि जिहि बिधि सुनाई सूरजन हूँ तिही भाँति गाई ।
सुक जैसे वेद अस्तुति गायौ तैसे हीं मैं कहि समुझायौ । ।

ागर की द्वादश स्कंधात्मक प्रति में इस प्रकार के उदाहरणों की सं
और हम देखते हैं कि प्रायः प्रत्येक स्कंध में कवि ने भागवत
था वर्णन की बात एक से अधिक बार अवश्य कही है लेकिन
में कहीं भी अनुवाद या रूपान्तर की बात न कह कर केवल
ा अनुसरण करने की बात ही बार-बार दुहराई गई है ।

इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सूरदास जी ने अपनी पद-रचना म श्रीमद्भागवत का आधार अवश्य लिया था लेकिन यह कहना कि उन्होंने भागवत का अनुवाद किया था पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री के अभाव में युक्ति-सगत नहीं दिखता। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'हिन्दुस्तानी' अप्रैल १९३४ के अंक में प्रकाशित अपने निबंध 'भागवत और सूरसागर' में श्रीमद्भागवत तथा सूरसागर की तुलना करते हुए कहा है कि "वर्तमान सूरसागर एक ग्रंथ नहीं है बल्कि सूरदास की प्रायः समस्त कृतियों का संग्रह है और इसका मूल ढाँचा वास्तव में भागवत के बारह स्कन्धों का अत्यंत संक्षिप्त अनुवाद मात्र है।" परन्तु सूरसागर को श्रीमद्भागवत का अनुवाद मात्र कहना सूर के प्रति अन्याय करना ही होगा। यदि हम आकार-विस्तार एवं विषय की दृष्टि से इन दोनों ग्रंथों की तुलना करें तो अनुवाद वाली बात निस्संदेह अनुपयुक्त ही जान पड़ती है। दोनों ग्रंथों का आकार-विस्तार इस प्रकार दिया जा सकता है—

श्रीमद्भागवत			सूरसागर	
स्कन्ध	अध्याय	श्लोक संख्या	स्कन्ध	पदसंख्या
१	१९	१६९२	१	३४३
२	१०	३९२	२	३८
३	३३	१५०२	३	१३
४	३१	१४०७	४	१३
५	२६	६६६	५	४
६	१९	८५१	६	८
७	१५	७५०	७	८
८	२४	९३१	८	१७
९	२४	९६३	९	१७४
१० पूर्वार्द्ध	४९	१९३५	१० पूर्वार्द्ध	४१६०
१० उत्तरार्द्ध	४१	१५१६	१० उत्तरार्द्ध	१४९
११	३१	१३७४	११	४
१२	१३	५६६	१२	५
१२	३३५	१४६१५	१२	४९३६

इस तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरसागर के अन्य सभी स्कन्ध मिलकर दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध की पद संख्या के लगभग आठवें अंश के बराबर है, और यदि प्रथम स्कन्ध से विनय के पदों को पृथक् कर दिया जाय क्योंकि भागवत के प्रथम स्कन्ध की सामग्री से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है तब शेष स्कन्धों में नवम् स्कन्ध के पदों की संख्या सबसे अधिक है। स्मरण रहे भागवत में भी दशम् स्कन्ध पूर्वार्द्ध अन्य स्कन्धों की अपेक्षा बृहत् है और समस्त स्कन्धों का वह छठा भाग है लेकिन उसके स्कन्धों की श्लोक संख्या का अनुपात इतना विषम नहीं है जितना सूरसागर के पदों का। वस्तुतः सूरसागर के अन्य स्कन्धों की श्लोक संख्या तथा सूरसागर के स्कन्धों की पद-संख्या देखते हुए यह मत कि सूरसागर श्रीमद्भागवत का अनुवाद या रूपान्तर है या उसमें श्रीमद्भागवत के अनुसार सब विषयों का वर्णन है उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। आकार-विस्तार के उपरान्त जब हम विषय की दृष्टि से दोनों ग्रंथों की तुलना करते हैं तब सबसे पहला हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि श्रीमद्भागवत में विषय क्रमानुसार हैं जबकि सूरसागर में उनका कोई निश्चित क्रम नहीं है। इसी प्रकार विषय-वस्तु मे भी तदनुरूपता नहीं दृष्टिगोचर होती। संक्षेप मे यहाँ इस पर प्रकाश डालना अनुपयुक्त न होगा।

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में संकलित विनय के पदों का सम्बन्ध श्रीमद्भागवत से नहीं है और इस प्रकार अवशिष्ट पदों में भागवत के प्रथम स्कन्ध के बहुत से प्रसंगों का समावेश नहीं हुआ तथा शुकदेव जन्म की कथा, विदुर और द्रौपदी की कथाएँ आदि प्रसंग भागवत के इस स्कन्ध में नहीं हैं। साथ ही अवतारों की गणना और भागवत धर्म का विस्तार आदि विषय तो सूरसागर में हैं ही नहीं तथा विभिन्न कथाओं के मध्य कवि ने भक्ति-विषयक पद भी दिए हैं जिनका कि कथा से तनिक भी प्रासंगिक सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार सूरसागर के द्वितीय स्कन्ध का प्रारम्भ तो कवि ने श्रीमद्भागवत के अनुसार ही किया है लेकिन अड़तीस पदों में भक्ति-माहात्म्य, नाम-महिमा, हरिविमुख निंदा आदि विषयों का ही वर्णन किया है तथा बहुत से प्रसंग छोड़ दिए है। तेरह पदों के तृतीय स्कन्ध में भी 'देवहूति और कपिल प्रसंग' आदि कई

ऐसी कथाओं का वर्णन नहीं है जिन्हें कि भागवत में अंकित किया गया है तथा 'विदुरजन्म' की कथा उसी में दे दी गई है जबकि वह श्रीमद्भागवत के इस स्कन्ध में नहीं है। साथ ही सूरसागर का यह स्कन्ध उद्धव के पश्चाताप से प्रारम्भ होता है जबकि श्रीमद्भागवत में यह उद्धव और विदुर की भेंट से प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार चतुर्थ स्कन्ध में भी केवल तेरह पद ही हैं और यज्ञ पुरुष के अवतार के प्रसंग में शिव-पार्वती का प्रसंग स्वतन्त्र रूप से ही दिया गया है। भागवत में यह स्कन्ध अत्यधिक महत्वपूर्ण है कारणकि उसमें बड़ी लम्बी-लम्बी वंशावलियाँ, स्तोत्र, लाक्षणिक और आध्यात्मिक संकेतों के साथ कथात्मक विवरण तथा समकालीन सामाजिक परिस्थितियों, ब्राह्मणों की दीन-हीन अवस्थाओं और शैवों के पतन का वर्णन किया गया है परन्तु सूरसागर में तो इन्हें स्पर्श तक नहीं किया गया। चतुर्थ स्कन्ध की भाँति पंचम स्कन्ध में भी बहुत सी कथाएँ और प्रसंग बिलकुल ही छोड़ दिए गए हैं तथा केवलमात्र ऋषभदेव और जड़ भरत की कथाएँ ही वर्णनात्मक शैली में दी गई हैं। यही दशा षष्ठ स्कन्ध की भी है और उसमें अजामिल उद्धार से प्रारम्भ कर सुरगुरु बृहस्पति, विश्वरूप एवम् वृत्रासुर की कथाएँ संक्षेप में दे दी गई हैं तथा भागवत के कई उल्लेखनीय प्रसंग बिल्कुल ही छोड़ दिए गए हैं। सप्तम स्कन्ध में भी केवल तीन ही कथाएँ—नृसिंह अवतार, त्रिपुरवध और नारद उत्पत्ति की दी गई हैं जो कि बहुत संक्षिप्त और एक दूसरी से स्वतन्त्र हैं। साथ ही राम नाम की महिमा भी गाई गई है लेकिन श्रीमद्भागवत में ये कथाएँ दृष्टान्त रूप से दी गई हैं और कथाओं के विवरण के साथ-साथ भक्ति की व्यापकता, भागवत धर्म की महत्ता, शिव की अपेक्षा विष्णु का महत्व-प्रतिपादन आदि उल्लेखनीय प्रसंग भी हैं जिनकी कि ओर सूरदास का ध्यान नहीं गया है। सूरसागर के अष्टम स्कन्ध की न केवल कथाएँ संक्षिप्त हैं अपितु उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन भी है। उदाहरणार्थ सुन्द उपसुन्द की कथा भागवत के इस स्कन्ध में नहीं है और मत्स्य अवतार का कारण भी उससे बहुत कुछ भिन्न माना गया है। नवम स्कन्ध की पहली पाँच कथाएँ—पुरुरवा की कथा, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर विवाह की कथा, अम्बरीष की कथा, सौभरि ऋषि की कथा—तो भागवत के आधार पर ही दी गई हैं लेकिन श्रीमद्भागवत की हरिश्चन्द्र की कथा उसमें नहीं है तथा और परशुराम अवतार की कथा के पश्चात्

१२४६५

का वर्णन किया गया है जो भागवत की अपेक्षा अधिक विस्तृत और भावात्मक है। सूरसागर के इस स्कन्ध में दी गई कच और देवयानी की कथा भी भागवत की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र एवं विस्तृत है तथा साथ ही कई सामाजिक, ऐतिहासिक और आध्यात्मिक महत्व के प्रसगों को बिल्कुल ही छोड़ दिया गया है। इसी प्रकार केवलमात्र चार पदों के एकादश स्कन्ध में भक्तिभाव का प्रदर्शन कर नारायण और हंस अवतारों का अस्पष्ट वर्णन है तथा श्रीमद्-भागवत की भाँति कर्मज्ञान, भक्ति का विस्तृत विवेचन, योग और सांख्य की व्याख्या, वर्णाश्रम धर्म का निरूपण आदि प्रसंगों का स्पर्श तक नहीं किया गया। सूरसागर का द्वादश स्कन्ध भी केवल पाँच पदों का है और उसमें अत्यन्त संक्षेप में बुद्धावतार, कल्कि अवतार, राजा परीक्षित की हरि-पद-प्राप्ति तथा जनमेजय के यज्ञ का उल्लेख है। यद्यपि भागवत का भी यह स्कन्ध आकार में छोटा ही है परन्तु सूरसागर का द्वादश स्कन्ध तो उसकी छायामात्र भी नहीं है।

स्मरण रहे कि यदि हम सूरसागर के अत्यधिक महत्वपूर्ण अंग दशम-स्कन्ध की तुलना श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध से करें तब भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसे भी भागवत का अनुवाद मात्र कहना उचित नहीं है। यह हम स्वीकार करते है कि पुष्टिमार्ग में भागवत के दशम स्कन्ध का अत्यधिक महत्व है तथा वल्लभाचार्य जी ने स्वयं भी सुबोधिनी टीका में दशम स्कन्ध की व्याख्या में विशेष रुचि दिखाई है और हो सकता है उन्होंने दशम स्कन्ध की लीलाओं का गान करने के लिये सूर को आदेश भी दिया हो लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि भागवत की अपेक्षा कई नवीन प्रसंग सूर ने अपनी ओर से इसमें जोड़े हैं और जो नवीन उद्भावनाएं की हैं उनमें उनकी मौलिकता स्पष्ट रूप से झलक उठती है। सूरदास ने श्रीमद्भागवत के ऐतिहासिक वर्णन, वंशानुक्रम, धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों की उपेक्षा सी की है और भगवान के लीलापरक लोकरंजक रूप का ही चित्रण किया है तथा भक्ति में दृढ़ता लाने के हेतु उसमें प्रसंगानुसार अलौकिकता का भी समावेश किया है। स्मरण रहे सूर का उद्देश्य श्रीमद्भागवत की भाँति अलौकिकता और भक्ति से पुष्ट आध्यात्मिकता का प्रदर्शन नहीं है तथा उनकी भक्ति में सख्य एव भाव की ही प्रधानता है साथ ही राधा और कृष्ण का

प्रथम भेंट का चित्रण भी भागवत से सर्वथा निरपेक्ष अर्थात मौलिक ही है। वस्तुत: श्रीमद्भागवत मे तो कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करते समय उनके देवत्व विशिष्ट रूप पर ही अधिक बल दिया गया है जबकि सूरदास ने नरत्व मे देवत्व की प्रतिष्ठा की है। इसलिए कृष्ण की बाल-लीला से लेकर मथुरा-गमन तक के सभी प्रसंग सूरसागर मे स्वाभाविक ही प्रतीत होते है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर तो सूर का बालवर्णन न केवल श्रीमद्भागवत अपितु विश्व के अन्य सभी साहित्य ग्रंथों से बेजोड़ है और वह कवि की मौलिक कल्पना का प्रतीक ही है। मुरली-विषयक प्रसंग भी मौलिक ही माना जाएगा कारणकि श्रीमद्भागवत का वेणुगीत आध्यात्मिक ही है तथा इसमे वैसी सरसता नहीं है। सूरसागर में जो चीरहरण लीला दी गई है उसका मूल स्रोत यद्यपि श्रीमद्भागवत ही है लेकिन दोनों में बहुत ही अधिक अन्तर है और जबकि भागवतकार प्रकृति के अनेक सुरम्य चित्र अंकित करने, वर्षा एवं शरद् ऋतु का उपदेशात्मक चित्रण करने तथा नग्न स्नान के औचित्य-अनौचित्य की विवेचना में ही उलझा रहा है सूरदास ने अपनी कृति में मनोवैज्ञानिक विकास दिखाना चाहा है अत: यह उनकी स्वतन्त्र कल्पना ही मानी जाएगी। इसी प्रकार गोवर्द्धनलीला, दानलीला, पनघट-लीला और रासलीला मे भी सूर की मौलिक उद्भावनाएँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणार्थ—रासलीला नामक प्रसंग में सूर ने जो राधा का उल्लेख कर कृष्ण के साथ उनका विवाह और राधा-कृष्ण के विहार का चित्रण किया है वह सब भागवत में नहीं है। श्रीमद्भागवत के कृष्ण तो अन्तर्धान होने के पश्चात् जब लौटते हैं तब गोपियों के सामने दार्शनिकता से ओत-प्रोत वक्तृता सी देने लगते हैं परन्तु सूरसागर के कृष्ण प्रकृत मानव के समान ही आचरण कर पुन: रास प्रारम्भ कर देते है। सूरदास ने भागवतकार की भाँति न तो गोपियों की रतिक्रीड़ा तथा रमण का वर्णन करने के पश्चात् उसकी व्याख्या ही की है और न रास के अंतर्गत उसी शरद् रात्रि में यमुना के जल विहार का संक्षिप्त वर्णन किया है। उन्होंने रास के अन्त में ब्रह्मा और भृगु के संवाद रूप में यह भी बताया है कि गोपियाँ वास्तव में श्रुतियाँ थी जो कृष्ण के सगुण रूप में संभोग का आनन्द लेने के लिए ब्रज-बालाओ के रूप में अवतीर्ण हुई थीं इसके साथ साथ भागवत से सर्वथा निरपेक्ष और मौलिक कृष्ण की कई लीलाओं का चित्रण सूर ने किया है कृष्ण के मथुरागमन का

प्रसग भी श्रीमद्भागवत से बहुत कुछ भिन्न है और सूरसागर म नारद स्वय कृष्ण की सम्मति से कंस को कृष्ण और बलराम को बुलाने का परामर्श देने जाते हैं तथा उसमें कंस के दुःस्वप्नों का जो वर्णन है वह भी भागवत मे नही है। कृष्ण के मथुरागमन तथा कंसवध तक के चित्रण में भी सूर ने अनेक नवीन उद्भावनाएँ की है और नंद के अकेले व्रज लौटने पर यशोदा का विलाप, ग्वालो का करुण-क्रंदन तथा ब्रज की दयनीय दशा आदि कई पूर्णरूपेण मौलिक प्रसंग सूरसागर में अंकित किए हैं। यद्यपि उद्धव की ब्रजयात्रा मे कवि ने भागवत का ही अनुसरण किया है परन्तु सूरसागर में उद्धव के पांडित्य एव ज्ञानगर्व को खडित कर उन्हें प्रेमाभक्ति मे दीक्षित करना ही उनका मूल लक्ष्य रहा है जबकि भागवतकार ने उद्धव को ब्रज भेजने का उद्देश्य केवलमात्र नंद यशोदा को संदेश देकर सुखी करना और गोपियों को सान्त्वना देना माना है। कृष्ण का अपने माता-पिता और गोपियों को पत्र लिखना, कुब्जा का संदेश, उद्धव और ब्रजवासियों की भेंट आदि कई सर्वथा मौलिक और भागवत से स्वतंत्र प्रसंग भी सूर ने अंकित किए हैं। साथ ही सूर ने भ्रमरगीत में भी श्रीमद्भागवत की अपेक्षा कई नवीन कल्पनाएँ की हैं। यद्यपि सूरसागर के दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में भागवत की बहुत सी कथाओ का वर्णन किया गया है लेकिन वे बहुत ही संक्षेप में अंकित है तथा उन कथाओ के साथ-साथ विवरणात्मक प्रसंगों और ऐतिहासिक, धार्मिक तथा दार्शनिक सामग्री का आभाव ही है। सूर ने प्रायः अपनी कथाओं में भावात्मकता पर ही विशेष ध्यान दिया है और इसीलिए जिन प्रसंगों में उनकी मनोवृत्ति रमी है उन्हीं का वर्णन उन्होंने किया है तथा कई कथाएँ छोड़ भी दी है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भागवत की सामग्री तथा सूरसागर की काव्य-सम्पदा मे कहाँ तक और कितना पारस्परिक सम्पर्क है? जैसा कि डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने सूरसागर के द्वादश स्कधों की श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कंधो से तुलना कर निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किए है; हम भी उद्धरण विशद होते हुए उसकी उपयुक्तता को ध्यान मे रख उसे उद्धृत कर रहे हैं; देखिए—

१ दशम स्कन्ध को छोडकर अन्य स्कन्धों में भागवतानुसरण की बात दुहराइ गई है, अनुसरण नही किया गया है अन्य स्कन्वो म केवल वे ही स्थल

आये हैं जहाँ भगवान के यश का वर्णन, हरि-भक्ति की महिमा अथवा भक्त-गुण-गान है। भागवतानुसार वाली बात वर्णनात्मक प्रसंगों तक ही सीमित है। गेय पदों में उसका अनुसरण नहीं मिलता।

२. पौराणिक तथा ऐतिहासिक आख्यानों की पूर्ण उपेक्षा की गई है और कथाओं में पारस्परिक सम्बंध भी नहीं है। पद भरती के से प्रतीत होते हैं।

३. भागवत के दार्शनिक पक्ष को भी सूरसागर में प्रश्रय नहीं दिया गया है। स्तोत्रों और प्रवचनों के रूप में भागवत में दार्शनिक सिद्धान्तों की जैसी विस्तृत व्याख्या मिलती है उसका लेश भी सूरसागर में नहीं है।

४. सूरसागर में वर्णनात्मक तथा गेय-पद-शैली ये दो प्रकार की शैलियाँ दीख पड़ती है। ऐतिहासिक उपाख्यान अथवा पौराणिक कथाओं के उल्लेख में कवि ने वर्णनात्मक शैली को और हरि-लीला-गान में गेय पद शैली को अपनाया है।

५. जिस स्थल पर सूरसागर में भागवत के वर्णन को ज्यों का त्यों अपनाने का प्रयास किया गया है वहाँ उसमें शिथिलता आ गई और वर्णन में अस्वाभाविकता सी प्रतीत होती है। ऐसे प्रसंगों में कवि का कथन नीरस और केवल कथा-पूर्ति हेतु किया हुआ प्रतीत होता है। ऐसे स्थानों में कहीं तो वर्णनात्मक शैली के दर्शन होते हैं और कहीं ऐसी अस्पष्ट समास शैली मिलती है कि ज्ञात होता है कि मानों कवि को कथाओं का भार ढोना पड़ रहा है। अनुवाद की बात तो दूर रही कथाओं का सार भी पद में नहीं आ पाया।

६. सूरदास में चार प्रकार की हरि-लीलाओं का गान हुआ है—

(अ) वे लीलाएँ जिनका आधार पूर्णतया श्रीमद्भागवत है। ऐसी लीलाएँ केवल दशमस्कंध में हैं किन्तु उनका क्रम भागवत से भिन्न है।

(ब) वे लीलाएं जिनका सूत्र तो कवि को भागवत मे ही प्राप्त हुआ किन्तु सागर में कवि ने उनकी विस्तृत व्याख्या की है। उन प्रसंगों के वर्णन मे सूर की दृष्टि भागवत पर नहीं जमती, अपितु भावना के विस्तृत प्रांगण में चौकड़ी भरती हुई दीख पड़ती है। ऐसे स्थलों पर कवि भागवत के कथा स्रोत को केवल मोड़ ही नहीं देता अपितु एक बाँध-बाँध कर स्वतः प्रवाहित कल्लोलिनी की ओर उन्मुख कर देता है ऐसे स्थलों पर कवि की गाम्भीर

पूर्ण तन्मयता एव परिपक्व शैली के दर्शन होते हैं । ये रचनाएं खंडकाव्य की कोटि तक पहुँच जाती हैं ।

(स) सूरसागर में कुछ ऐसी लीलाएँ भी हैं जिन्हें हम पूर्णतया मौलिक, स्वतंत्र और भागवत निरपेक्ष कह सकते हैं जैसे राधाकृष्ण मिलन, पनघट-प्रस्ताव, दान-लीला आदि ।

(द) सूरसागर में कुछ ऐसी लीलाएँ भी हैं जिनका स्रोत भागवत पुराण न होकर अन्य पुराण हैं ।

(सूर और उनका साहित्य; पृ० २३५-२३६)

इस विवेचन से यह स्पष्ट होजाता है कि सूरसागर को श्रीमद्भागवत का अनुवाद समझना उचित नहीं है लेकिन इस विषय पर सूर-साहित्य के समीक्षकों ने विभिन्न मत दिए हैं । डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी का विचार है कि "प्रत्येक स्कंधों के कथा प्रसंगों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरसागर भागवत का केवल आंशिक अनुवाद है, यदि उसे अनुवाद कहा जा सकता है । + + + सूरसागर के मौलिक और महत्वपूर्ण भाग प्रथम स्कंध के वे पद हैं जो विनय के नाम से प्रसिद्ध ह तथा सम्पूर्ण दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध और अन्य स्कंधो मे बिखरे हुए भक्ति, गुरु-महिमा आदि विषयो के पद है । वास्तव में ये ही अंश सूरसागर के प्रधान अंग कहे जा सकते हैं जो मौलिकता, रसात्मकता और भक्ति-भावना के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है ।" (सूर साहित्य की भूमिका; पृ० ३९-४३) डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का कहना है कि सूर ने श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध पूर्वार्द्ध पर पूर्णतया नियमित रूप से और अन्य स्कंधों पर कभी-कभी रचना की तथा कालांतर में कथासूत्र जोड़ने के लिए स्वयं सूर ने या अन्य किसी कवि ने कुछ पद बनाए । डॉ० वर्मा के शब्दों में " अनुमान तो यह होता है कि भागवत की कथा को सुन कर कवि ने दशमस्कंध पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त अन्य स्कंधों पर अपने भाव के अनुकूल कभी प्रबन्धात्मक और कभी स्फुट रीति से पद रचना की । इस पद रचना को स्कंधों के कथाक्रम से संग्रह करके देखने से जहाँ कथा-सूत्र छूटे हुए पाए गए वहाँ वे पूर्ति मात्र के विचार मे वर्णनात्मक शैली मे रच दिए गए यह भी संदेह हो सकता है कि ये वर्णनात्मक अंश स्वयं हमारे कवि सूरदास की रचना भी हैं या अन्य किसी ने सूरसागर का भागवत का

बाह्य रूप दे दिया।" (**सूरदास: डा० ब्रजेश्वर वर्मा; पृ० ७९-८०**) अपने इस गवेषणात्मक प्रबंध के पश्चात् प्रकाशित सूर मीमांसा नामक कृति में भी डॉ० वर्मा ने पुनः कहा है कि "भागवत का आधार लेते हुए भी यह कृति सूर की मौलिकता प्रमाणित करती है।" (**सूर-मीमांसा; पृ० ५४**) श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'सूर निर्णय' में विस्तार सहित इस विषय पर विचार किया है लेकिन न तो वे दोनों लेखक सूरसागर को श्रीमद्-भागवत का अनुवाद ही मानते हैं और न सर्वांश में उसे सूरसागर का आधार ही बतलाते हैं परन्तु 'श्रीमद्भागवतत्व' को उसका मूलाधार अवश्य कहते हैं तथा यह अनुमान भी करते हैं कि नित्य-कीर्तन और वर्षोत्सवों के पदों में से ही किसी ने बाद में उन्हे सूरसागर का रूप प्रदान किया है। डॉ० मुंशीराम शर्मा तो सूरसागर को भागवत का अविकल अनुवाद नहीं मानते बल्कि उसे एक स्वतंत्र रचना बतलाते है और उनका कहना है कि " भागवत जहाँ निवृत्तिमूलक साधना का उपदेश करती है वहाँ सूरसागर की राधाकृष्ण लीला मनुष्यों को प्रवृत्तिमार्ग में लाने वाली है अतः सूरसागर भागवत का अक्षरशः अनुवाद नहीं है। (**सूरसौरभ; पृ० १६९-१७०**)

इस प्रकार इन सभी मतों पर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सूरसागर को श्रीमद्भागवत का अनुवाद मानने के पक्ष में सभी विचारक नहीं है। किसी ग्रंथ का आधार लेने या उससे प्रेरणा प्राप्त करने और अनुवाद करने में बहुत अधिक अंतर है अतः यदि सूर ने कहीं-कहीं भागवत का आधार लिया हो तो उसका यह अर्थ नही है कि हम सूरसागर को अनुवाद मात्र समझ लें।

प्रश्न ९—सूरदास जी की दार्शनिक विचारधारा पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालिए।

प्रश्न १०—सूरदास की आध्यात्मिक मान्यताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—यद्यपि सूरदास जी का लक्ष्य दार्शनिक सिद्धांतों की व्याख्या करना नहीं था कारणकि वे मूलतः दार्शनिक न होकर भक्त हृदय कवि थे और भगवान कृष्ण की विविध लीलाओ का गान ही उनकी काव्य-रचना का उद्देश्य था परन्तु पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण वे सम्प्रदाय की प्रत्येक बैठक म धार्मिक और दार्शनिक सिद्धांतों की चर्चाएं श्रवण करते रहे

प्रश्न १२—सूर की भाषा के विविध रूपों का परिचय देते हुए उसके महत्व का मूल्यांकन कीजिए ?

प्रश्न १३—सिद्ध कीजिए कि सूरदास ही प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है।

उत्तर—इसमें कोई संदेह नहीं कि विचारकों का यह कथन सर्वथा उचित है कि "संस्कृत साहित्य में जो स्थान आदि कवि वाल्मीकि का है, ब्रजभाषा साहित्य में वही स्थान सूरदास को भी दिया जा सकता है। ब्रजभाषा साहित्य के आरम्भिक काल में ही सूरदास ने अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा जैसा सर्वांगपूर्ण काव्य उपस्थित किया, वैसा कई शताब्दियों के साहित्यिक विकास के उपरांत भी कोई कवि नहीं कर सका। यही एक बात सूरकाव्य की विशेषता को चरमसीमा पर पहुँचा देने वाली है।" (**सूर निर्णय : श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल; पृ० ३१३**) वस्तुतः भाषा के विचार से सूरदास ही प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। सूर से पूर्व हिंदी साहित्य का सृजन डिंगल या अपभ्रंश में हुआ है और चन्दबरदायी तथा कबीर, नामदेव आदि सन्तों की बानियों में जो ब्रजभाषा की झलक देख पड़ती है उसमें विशुद्धता नहीं है लेकिन सूर ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह विशुद्ध ब्रज ही है अतः ब्रज को साहित्य-क्षेत्र में ले आने का श्रेय सूरदास को ही है।

स्मरण रहे सूर ने जिस ब्रजभाषा का प्रयोग किया है वह कोमलकांत पदावली से युक्त है और उसमें स्वाभाविकता, सरलता तथा सरसता की त्रिवेणी सी प्रवाहित हो रही है। शब्दों की तोड़-मोड़ और असंगत भावों का समावेश आदि के उदाहरण बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं। सूर-काव्य में अधिक लालित्य होने का एक कारण यह भी है कि उन्होंने अलंकारों का प्रयोग करने के लिए भी अपने मनोगत भावों को सीधे-सादे शब्दों में ज्यों का त्यों प्रकट कर दिया है। साथ ही उन्होंने शब्द-योजना पर भी विशेष ध्यान दिया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका शब्द-भंडार विशाल था अतः वे अपनी भावनाएँ स्पष्ट रूप में सफलतापूर्वक व्यक्त कर सके है। कवि ने यद्यपि भिन्न-भिन्न स्थानों में एक ही बात विभिन्न रूप से व्यक्त की है लेकिन उनके विशाल शब्द कोश के कारण ही रचना में

पुनरोक्ति दोष न आ सका और शब्दों की नवीनता ने विषय की पुनरावृत्ति ढाक दी है। चूँकि उन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक जगत में प्रविष्ट किया है अतः स्वाभाविक ही उनकी भाषा में विभिन्न प्रकार के शब्द आ गए हैं। भाषा-संस्कार के हेतु उन्हें संस्कृत से सर्वाधिक शब्द ग्रहण करने पड़े तथा वास्तविकता भी यही है कि हिंदी में संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों की बहुलता ही है। साथ ही सूर ने प्रचलित शब्दों में प्रायः परिवर्तन नहीं किया इसलिए संस्कृत के तद्भव शब्द ही उनकी भाषा में अधिक संख्या में हैं और तत्सम शब्द उन स्थलों पर हैं जहाँ कि उन्हें अप्रस्तुत-योजना करनी पड़ी है या भागवत के आधार पर कुछ कहना हुआ है या सिद्धान्त-निरूपण की आवश्यकता हुई है। सूर की भाषा में कई ऐसे शब्द भी मिलते हैं जो कि उनके समय में तो प्रचलित थे लेकिन कालान्तर में उनका प्रयोग ब्रज प्रदेश में तथा ब्रजभाषा काल की परम्परा में न चल सका परन्तु इतना अवश्य है कि इन शब्दों का प्रयोग अपने स्थान पर बड़ा ही उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त उन्होंने विदेशीय अरबी-फारसी के शब्दों को भी अपनाया है परन्तु उनका प्रयोग करते समय उन्हें ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप ही बना लिया गया अतः काव्यानुशीलन के समय स्वाभाविक ही उनका विदेशीपन दृष्टिगोचर नहीं होता। साथ ही अर्थ की दृष्टि से भी इनका सौंदर्य अनुपम है। इस प्रकार सूर ने ब्रजभाषा की व्यंजकता और अर्थ-वैभव की वृद्धि की है तथा उसे सर्वमान्य साहित्यिक भाषा बनाने में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। अब हम यहाँ सूर द्वारा प्रयुक्त कुछ तत्सम, तद्भव और अन्य विदेशी शब्दों की संक्षिप्त सूची देंगे।

तत्सम शब्द—सूर ने तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रायः उन्हीं प्रसंगों में किया है जहाँ कि उन्हें सिद्धान्त-निरूपण करना था या अप्रस्तुत-योजना करनी थी और लीला-सम्बंधी पदों में तो तत्सम शब्द अपेक्षाकृत कम ही है। सूर द्वारा प्रयुक्त कुछ तत्सम शब्द इस प्रकार हैं—

अंबर, अपवाद, अहिपति, अंगीकार, आच्छादित, आभा, आमिष, आयुध, इदु, इंदीवर, उपहास, कृत, कृपा, कुंभ, क्रीडा, कलत्र, कलेवर, कुन्तल, खजन, खगपति, गृह, गह्वर, गयंद, घृत, चंद्र, चिबुक, जलज, डिम्भ, तिष्ठति, दधि दाहक नीलाम्बर नारिकेल नृपति पुनीत पंक मय भगिनी मम मण्डित,

मुकुलित राका रुचिर लचन तल वसुधा खण्ड सभ्रम हाटक आदि ।

अर्ध तत्सम शब्द—सूर ने अनेक तत्सम शब्दों में परिवर्तन कर स्वतंत्रता-पूर्वक नवीन शब्द भी गढ़े हैं जो कि अर्ध तत्सम शब्द ही कहे जाएँगे; कुछ उदाहरण देखिए—

अपजस, अनुमान, आरत, उभँगना, कलेस, गनिका, घिरत, जोजन, तीरथ, दुरबासा, पोषना, भासना, तूनीर, भच्छि, भिनुसार, मरकट, राजना, लाजना, विलसना, सूकर, स्वान, सृंग, हर्षना, हरना, आदि ।

तद्भव—सूर ने सबसे अधिक तद्भव शब्दों का ही प्रयोग किया है और तद्भव शब्दावली की अधिकता के फलस्वरूप ही उनकी काव्य-भाषा का आडम्बरहीन सहज सौंदर्य स्वभावतः ही बढ़ गया है। सूर द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्दों की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

अंकवारि, अँचरा, आँगन, अगहर, अकरी, अनन, अनियारे, काठ, केहरि, खंभ, गुसाईं, घरनी, चकचौंधी, छहियाँ, जुगति, जोति, टक, ढीठ, दूब, धनु, पनहियाँ, तुरत, बियौ, निसंक, बनिज, भौह, भौन, मसान, बिसारि, रूखा, साँवरो, सजनी, सरिस आदि ।

तद्भव शब्दों में बहुत से ऐसे हैं जो कि संस्कृत धातुओं और शब्दों के आधार पर तो बने हैं लेकिन वे स्वतंत्र रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त कई ऐसे शब्द भी सूर की काव्य-भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं जिनका कि प्रयोग अब या तो होता ही नहीं या विरल रूप में होता है। वस्तुतः इसी प्रकार के शब्दों की अधिकता से सूर की भाषा हिंदी साहित्य में अनोखी कही जाती है और भले ही परवर्ती ब्रजभाषा कवियों ने साहित्यिकता के मोह में पड़ इस लोक भाषा के प्रचलित रत्नों की आभा न पहचानी हो अतः कलांतर में इनका प्रचलन ही बंद हो गया हो लेकिन इनसे सूर-काव्य में जो औज्वल्यता और मार्दवता आई है वह अन्यत्र नहीं देख पड़ती। इस प्रकार के शब्दों के कुछ उदाहरण देखिए—

अटक्यो, अकुचत, अठिलात, ईंगुर, उनस, उपराजी, उबरनी, उरहत, ओढर, औधाई, कचपची, कछोटी, कनौड़े, कलबल, कसक, कीक, खनावै, घटत, घालि, चपरि, चबाई, चुरकुट, छाक, जनारा, जुहार, जोरत, झकझोरत, झमकना, झरोखो झीनी टेक टेव ठाकुर ठग ठाना डगमगाति

डगर, ढुराबति, तरसायौ, तलफति, नेवाज, पटतर, पयान, बगराई, बूड़त, भुलाई, मुसुकाहि, लुनिए, सुकुचात, साध, सीत, हिय।

विदेशी शब्द—राजनीतिक एवम् सामाजिक परिस्थितियों के कारण सूरकाल में अनेक फारसी, अरबी, तुरकी शब्द भाषा की सम्पत्ति बन चुके थे अत काव्य-भाषा में इनका प्रयोग स्वाभाविक ही था लेकिन सूर ने जिन विदेशी शब्दों का प्रयोग अपनी पदावली मे किया है उनके सम्बन्ध में यह ध्यान मे रखना चाहिए कि उन्होंने फारसी और अरबी के तत्सम रूप की प्रतिष्ठा की परवाह नहीं की बल्कि उन्हें शब्द का वही रूप प्रिय प्रतीत हुआ जो कि उनकी ब्रजमाधुरी में खप सकता हो। इस प्रकार उन्होंने भाषा की ध्वनियों के अनुसार शब्दों को समुचित परिवर्तित रूप में अपनाया है और इस सम्बन्ध में निम्नांकित पद दृष्टव्य है—

हरि हौं ऐसौ अमल कमायौ।
साबिक जमा हुती जो जोरी मिन जालिक तल ल्यायौ॥
वासिल बाकी स्याहा मुजमिल, सब अधर्म की बाकी।
चित्रगुप्त सु होत मुस्तौफी, सरन गहूँ मैं काकी॥
मोहर्रिल पाँच साथ करि दीने तिनकी बड़ी विपरीति।
जिम्मैं उनके माँगैं मोतैं, यह तो बड़ी अनीति॥
पाँच-पचीस साथ अगवानी सब मिल काज बिगारे।
सुनी तगीरी बिसरि गई सुधि मो तजि भए निवारे॥
बढ़ौ तुम्हार बरामद हूँ कौ लिखि कीनौ है साफ।
सूरदास की यहै बीनती दस्तक कीजै माफ॥

उपर्युक्त पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर ने विदेशी शब्दों को किस प्रकार अपनाया है। इस संदर्भ मे हमे यह सर्वदा स्मरण रहना चाहिए कि सूर ने बिना किसी परिवर्तन के कुछ विदेशी शब्दों को नहीं स्वीकार किया है और इस प्रकार कुछ में तो स्वर-परिवर्तन है तो कुछ में ध्वनि-परिवर्तन कुछ मे स्वरागम है तो किसी में स्वर लोप, किसी मे हिंदी प्रत्यय आदि लगाएँ है तो कहीं वर्णो का भ्रमण कर दिया गया है। सूर द्वारा प्रयुक्त अरबी फारसी के कुछ शब्द इस प्रकार है

अरबी शब्द—अकस, अमन, अमीन, आदमी, उजीर, उमराव, कलक, हसम, कसाई, कहर, कलाद, काजी, कुरबानी, कैद, खबरि, खसम, गरज, गुलाम, जमा, तलकार, दगाबाज, निहाल, बाकी, मौज, महल, लायक, वासिल, सदकी, साबित, सुलतान, हकीम।

फारसी शब्द—अंदेस, आब, कंगूरा, कमान, कुलही, खाक, खुमारी, गुनहगार, गुलामी, गुजरान, चंग, चुगली, जहाज, जोर, तलक, तगीरी, दस्तक, दरजा, दरद, दरबार, दाग, दिवानी, निसान, नीम, परवाह, परदा, बकसना, बरामदा, बेसरम, रुख, रेसम, लस्कर, सरदार, सिकार, सोर, हरज्यौ।

प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों में अवधी के होइस, मोर, तोर, इहवाँ, कौन आदि शब्दों को उन्होंने अपनाया है तथा पंजाबी का प्यारी जो कि मूल्यवान के अर्थ में प्रयुक्त होता है, गुजराती का वियो, बुंदेलखंडी के गहिबी, सहिबी और प्राकृत के सायर आदि शब्द उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही सूरकाव्य में ग्रामीण शब्दों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है; उदाहरणार्थ औघट, करतूति, करनी, खुनुस, चुचकारे, चुटिया, भुगियाँ, टकटोरत, टूकटूक, डहकावै, डाटैं, ढोरत, तलबेली, कौआ, बिरियाँ, बोहनी, भाँड़ी, मोट, लठवाँसी, सठिया, सोज आदि। सूर ने अपनी रचनाओं में उस काल में प्रचलित अनेक मुहावरों और लोकोक्तियों को भी स्थान दिया है तथा उनके प्रयोग से भाषा में प्रौढ़ता भी आ गई है। स्मरण रहे कि सूरकाव्य में मुहावरों और लोकोक्तियों की अधिकता सी है लेकिन उनकी प्रचुरता सर्वत्र समान रूप से नहीं मिलती और उनके स्थल निश्चित हैं। लगभग ९० प्रतिशत मुहावरे और लोकोक्तियाँ उद्धव और कुब्जा के प्रति कहे गए गोपियों के वचनों में मिलती हैं तथा शेष दस प्रतिशत मुरली के प्रति गोपियों के वचन, नेत्र-वर्णन-सम्बन्धी पद, मानलीला और ऐसे प्रसंग जहाँ किसी प्रकार की मानसिक आकुलता या विह्वलता की स्थिति है। गोपियों का विरह वर्णन, कृष्ण के प्रति संदेश, उद्धव-कृष्ण वार्ता आदि भ्रमरगीत के प्रसंगों में तो इनका अभाव सा है और साथ ही रूपवर्णन, बाललीला, शृंगारलीला, रासलीला तथा अन्य वर्णनात्मक पदों में भी इनका उपयोग नहीं हुआ। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूर ने इनका प्रयोग निष्प्रयोजन नहीं किया। सूर द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहावरे और लोकोक्तियाँ इस प्रकार हैं

मुहावरे—अँगुरी गहत गह्यौ जिहिं पहुँचौ, आँखि धूरि सी दीन्ही, आँसू बरसना, उनहिं हाथ कर पाऊँ, इक दुख दूजै हाँसी, गाढ़े दिन के मीत, गगन में कूप खोदना, जिय में सूल रही, चाम के दाम चलावत तुम नो, ढोल बजाइ ठगी, तारे गिनना, दई की घाती, नाच नचाना, पाठ पढ़ाना फिरत धतूरा खाए, भौंह तानना, मरत लोचन प्यास, मधु तोरे की माखी, बाल खसना, लेन न देन, सीस चढ़ा लेना आदि।

लोकोक्तियाँ—अपने स्वारथ के सब काऊ, एक आँधरौ हिय की फूटी दौरत पहिरि खराउँ, काटहु अंब बबूर लगावहु चंदन की करि बारि, कह कथत मासी के आगे जानत नानी नानन, खाटी मही कहा रुचि मानै सूर खवैया घी को, जाकौ मन मानत है जासौं मो नहँ ही सुख मानै, जो खोटी लेई है खोटी, जोबन रूप दिवस दस ही के, ज्यों ऊजर खेरे की पुतरी को पूजै को मानै, तुमसौं प्रेम कथा का कहिबौ मनों काटिबौ घास, धोखे ही बिरवा लगाइ कै काटत नाहिं बहोरी, सूर सुकन हठि नाव चलावत ये सरिता है सूखी, सूर सु बैद कहा लै कीजै कहै न जानै रोग, स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै सूधी कहुँ न करी, सूरदास जे मन के खोटे अवसर परै जाहिं पहचाने।

सूर की काव्यभाषा की एक अन्य विशेषता उसकी प्रसंगानुकूलता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने प्रसंगानुकूल भाषा ही लिखी है। इस प्रकार सूर की काव्यभाषा को निम्नांकित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. **विनय के पदों की भाषा**—इन पदों की भाषा में वह सरसता और हृदयग्राही प्रवाह नहीं है जो कि कविता में होना चाहिए तथा भाषा रूखी-सूखी और प्रवाहहीन ही है। माया का चित्रण करते समय अवश्य कवि ने अच्छे रूपक बाँधे हैं लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि भाषा सर्वथा निकृष्ट है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अलंकारों के उदाहरण भी उसमें मिलते हैं। एक उदाहरण देखिए—

अब कैं राखि लेहु भगवान।
हा अनाथ बैठ्यौ द्रुम-डरिया पारधि साँधे बान॥
ताके डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह कौन उबारे प्रान

सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यौ संधान ।
सूरदास सर लग्यौ सचानहिं जय जय कृपानिधान ॥

२. चौपई-चौपाई छंदों की भाषा—सूरकाव्य में चौपई-चौपाई शैली का भी कहीं-कहीं प्रयोग किया गया है लेकिन चूँकि इनमें प्रबंधात्मकता का अभाव है अतः साहित्यिक - सौष्ठव की भी स्वाभाविक ही कमी है। यों भी सूरदास पदों के सृजन में ही विशेष रूप से सफल रहे हैं और चौपई-चौपाई छंद में रचना करते समय भी उन्होंने बीच-बीच में पदों को रखा है अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूर काव्यात्मक सरस प्रसंगों को पदों में ही लिखते थे ।

३. दशम स्कंध के लीला-सम्बंधी पदों की भाषा—वस्तुतः इन लीला-सम्बंधी पदों में ही कवि की काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ है और इन पदों की भाषा न केवल सरल, सरस एवम् सारगर्भित है अपितु इनमें आलंकारिकता भी है। उपमाओं पर उपमा और उत्प्रेक्षाओं पर उत्प्रेक्षा का जाल बिछाने तथा सांगरूपकों के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करने में सूर को अप्रतिम सफलता मिली है । भावात्मकता और रागात्मकता का ऐसा अदभुत संगम अन्यत्र नहीं दृष्टिगोचर होता । एक उदाहरण देखिए—

लालन हौं तेरे मुख पर वारी ।
बाल गोपाल लगौ इन नैननि रोग बलाइ तुम्हारी ॥
लट लटकनि मोहन मसि बिंदुका, तिलक भाल सुखकारी ।
मनहुँ कमल अलि सावक पंगति उठति मधुप छबि न्यारी ॥
लोचन ललित कपोलनि काजर छबि उपजत अधिकारी ॥
सुख में सुख औरे रुचि बाढ़ति हँसत देत किलकारी ।
अल्प दसन कल बल करि बोलनि बिधि नहिं परत बिचारी ॥
निकसति ज्योति अधर बिच ह्वै मनु बिधु में बिज्जु उज्यारी ।
सुंदरता को पार न पावति रूप देखि महतारी ॥
सूर सिंधु की बूँद भई मिलि मति-गति-दृष्टि हमारी ॥

४. दृष्टिकूट पदों की भाषा—इन पदों में रसप्रवाह, गंभीरता, और अनुभूति की अपेक्षा कवि का बौद्धिक व्यायाम ही विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है

५. भ्रमरगीत की भाषा—यद्यपि भ्रमरगीत प्रसंग सूरसागर के दशम स्कंध के ही अंतर्गत आता है लेकिन यहाँ हम उसका स्वतंत्र रूप से उल्लेख इसलिए कर रहे हैं क्योंकि इसमें कवि की भाषाशैली का उत्कृष्टतम रूप दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः वाग्वैदग्ध्यता और चित्रकारिता जैसी इस प्रसंग में दृष्टिगोचर होती है वैसी अन्यत्र नहीं। उपालम्भ और व्यंग्य के इतने सुंदर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ ही हैं। उद्धव और गोपियों के पारस्परिक वार्तालाप में उक्ति और तर्क को भी प्रधानता मिली है लेकिन उनमें चित्रात्मकता और रोचकता की कमी नहीं है। स्मरण रहे ज्ञान की बातें करते समय भी सूर इन पदों में नीरस नहीं हुए हैं। भाषागत यही विशिष्टता मुरली विषयक पदों में भी दृष्टिगोचर होती है।

सूर की भाषा प्रवाहमयी है और उसमें माधुर्य तथा प्रसाद-गुण विशेष रूप से देख पड़ते हैं। कंसवध या ऐसी ही एक दो घटनाओं में ओजगुण का समावेश है अन्यथा सर्वत्र ही माधुर्य और प्रसाद गुण युक्त पदावली की ही अधिकता है। साथ ही सूर अलंकार-व्यंजना में भी पूर्ण सफल रहे है। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में "सूर की रचना में जैसी भावप्रवणता है, वैसी ही चमत्कृति भी। उनकी अलंकार योजना में न तो केशवदास के समान काव्य-शास्त्र-ज्ञान-प्रदर्शन की प्रवृत्ति है और न जायसी के समान एक-एक पंक्ति में कई-कई अलंकार ठूँस कर संकर और संसृष्टि करने का आग्रह ही। जहाँ रीतिकालीन कवि अनेक अलंकारों से सजाने की धुन में अपनी कविता नागरी को ग्राम्यरूप देकर, 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' वाली उक्ति को चरितार्थ कर आलोचकों के उपहास्य बने वहाँ सूर ने भाव और कला पक्ष का उचित संतुलन रख कर अपनी कला को 'कला' ही बना दिया।" (**सूर और उनका साहित्य; पृ० ४३८**) वस्तुतः सूर की भाषा में अलंकारों की योजना स्वाभाविक ही है तथा कवि को अलंकारों की अभिव्यंजना में परिश्रम नहीं करना पड़ा। यद्यपि शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों के प्रयोग में उन्हें अप्रतिम सफलता मिली है लेकिन अर्थालंकार के उदाहरणों की अधिकता सी है। साथ ही सूर ने अलंकारों को सार्थकता प्रदान करने का भी उद्योग किया है और एक-एक उपमा की सार्थकता पर विचार कर उसके द्वारा मधुर

की हैं

उपमा न्याय कहो अगम की

गये मधुपुरी क्यों फिरि आवैं, सोभा कोटि अनंगन की ॥

मोर मुकुट सिर सुरवनु की छबि दूरहिं तें दरसावै ।

जो कोऊ करै कोटि कैसे हू नेकहु छुवन न पावैं ॥

अलक-भ्रमर भ्रमि भ्रमत सदा वन बहु बेलीरस चाखै ।

कमल-कोस-बासी कहियत पै बंस-बंस अपनो मन राखै ॥

कुंडल मकर, नयन नीरज से, नासा सुक कवि कुल गावै ।

थिर न रहै सकुचै निसि-बस ह्वै पंजर रहिके बैन सुनावै ॥

उपमा के साथ-साथ सूर का सबसे प्रिय अलंकार रूपक ही है और उसकी अधिकता ही सूरसागर में दृष्टिगोचर भी होती है। वस्तुतः तुलसी की ही भाँति वे भी सांगरूपक का प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे और उसकी सहायता से उन्होंने विभाव-चित्रण भी किया है तथा संयोग और वियोग के भी वर्णन किए हैं। एक उदाहरण देखिए:—

देखो माई सुंदरता को सागर।

बुधि विवेक बल पार न पावत मगन होत मन नागर ॥

तनु अति स्याम अगाध अंबु निधि कटि पट पीत तरंग।

चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भँवर परत अंग अंग ॥

मीन नैन मकराकृत कुंडल भुजबल सुभग भुजंग।

मुकुतमाल मिलि मानों सुर सरि द्वै सरिता लिये संग ॥

संयोग शृंगार में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की ही अधिकता रही है तथा राधाकृष्ण के नेत्रों के सम्बन्ध में कवि ने नूतन-नूतन उत्प्रेक्षाएँ की हैं; उदाहरणार्थ—

नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकत माल रुनाई।

सनि गुरु असुर देवगुरु मिलि मानों भौम सहित समुदाई ॥

सूर में अलंकारों की ध्वनि के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं। प्रतीप की ध्वनि का यह उदाहरण देखिए—

तब तें इन सबहिन सचु पायो।

जब तें हरि संदेस तिहारो सुनत ताँवरो आयो ॥

फूले ब्याल दुरे तें प्रगटे पवन पेट भरि खायो।

भूले मृगा चौंक चरनन तें हुतो जो जिय बिसरायो ।

ऊँचे बैठि विहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायौ ।।

रूपकातिशयोक्ति में तो उनका 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग' वाला पद प्रसिद्ध ही है । उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और प्रतीप जैसे सादृश्य-मूलक अलंकारों के साथ-साथ सूरसागर में स्मरण और संदेह नामक स्मृति-मूलक अलंकारों का प्रयोग भी बहुलता से मिलता है तथा वक्रोक्ति और विभावना जैसे विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग प्रायः कम ही किया गया है । अर्थालंकार की भाँति शब्दालंकारों के प्रयोग में भी कवि को पूर्ण सफलता मिली है और 'विलसत विपिन विलास विविध वर बारिज बदन विकच सचुपाये' जैसी अनुप्रासयुक्त पंक्तियों की अधिकता सी है । दृष्टि-कूट सम्बंधी पदों में सूर ने यमकालंकार का बहुत अधिक प्रयोग किया है तथा राधा और कृष्ण के सौंदर्य की रहस्यात्मक व्यंजना में भी उससे सहायता ली है । एक उदाहरण देखिए—

हरि सम आनन हरि सम लोचन हरि तह लोचन हरिवर आगी ।

हरिहि चाहि हरि न सोहावए हरि हरि कए उठि जागी ।

सूर की भाषा में लाक्षणिकता तथा ध्वन्यात्मकता भी विद्यमान है और निम्नांकित पंक्तियों में ध्वन्यात्मक शब्दों ने सूर की भाषा में सजीवता सी ला दी है—

तरपत नभ डरपत ब्रजलोग ।

घहरात, तररात, गरगरात, हहरात, झहरात, पररात माथ नायें ।

स्मरण रहे सूर की भाषा में दोषों की अधिकता नहीं है और दुरूह तथा अस्वाभाविक शब्दावली के प्रयोग से सूर ने अपनी काव्य-कृति को भरसक बचाया है । तुकान्त के लिए अथवा छंदों की गति को नियमानुकूल रखने के हेतु उन्होंने कतिपय शब्दों को विकृत भी कर दिया है जैसे पगु को पग, नव-नीत को लवनी, वर्ष को बरीस, गमन को गैन आदि । परन्तु सब प्रकार से विचार करने पर यही विदित होता है कि सूर की भाषा सबल, सजीव और सरस है तथा डॉ० मनमोहन गौतम ने उचित ही लिखा है 'भाषा के समग्र रूप को देखते हुए हम कह सकते हैं कि सूर की भाषा में ब्रजभाषा का प्रौढ़ और शिष्ट रूप है । प्रसंगानुकूल उसमें भाषा के विविध रूपों के दर्शन होते है ।

साधारण बोलचाल की भाषा से लेकर अलंकृत और नादवैभव से सम्पन्न भाषा सूरसागर में मिलती है। रास में जहाँ नृत्य की रुनझुन सुन पड़ती है वहाँ दावानल में भीषणता भी साकार हो जाती है। संक्षेप में भाषा सूर के हाथ की पुत्तलिका रही है जैसा कवि ने चाहा है वैसा उसने रंग दिखाया है।"
(सूर की काव्यकला : डॉ० मनमोहन गौतम; पृ० २५६)

प्रश्न १४—सूरदास के प्रकृति-चित्रण पर प्रकाश डालिए ?

प्रश्न १५—सिद्ध कीजिए कि सूरदास जी ने प्रकृति के विशुद्ध रूप का चित्रण किया है।

उत्तर—यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति उपेक्षा प्रकट करना सृष्टिनिर्माता ईश्वर के प्रति ही उपेक्षा दिखाना है क्योंकि प्रकृति-सौंदर्य-दर्शन से स्वाभाविक ही मन आनन्द-विह्वल हो उठता है। वस्तुतः प्रकृति तो मानव की आदिम सहचरी हो है तथा आदिकाल के प्रथम पुरुष ने जब अपने चक्षुपटल खोले होंगे तब उसको सर्वप्रथम प्रकृति की अनूठी छवि ही दृष्टिगोचर हुई होगी और इस प्रकार मानव का प्रकृति के साथ स्वाभाविक ही चिर साहचर्य स्थापित हो गया होगा। चूँकि प्रारम्भ से ही मानव में चिर साहचर्य से उद्भूत वासना अथवा संस्कार रूप में प्रकृति के प्रति आकर्षण की भावना विद्यमान रही है अतएव प्राचीन से लेकर अर्वाचीन कवियों तक ने प्रकृति के सुन्दर, विराट् और भयंकर रूपों का विशद वर्णन किया है। इस प्रकार काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है और अधुनातन कवियों तक ने उसे हर्ष के साथ अपनाया है।

यह तो सर्वविदित ही है कि हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में काव्य के अन्तर्गत प्रकृति विषयक भावना का कोई विशेष विकास दृष्टिगोचर नहीं होता लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि तत्कालीन कवि इसमें अक्षम थे बल्कि युग की परिस्थितियों की निरन्तर विपरीत गति के कारण उस समय इसके लिए पर्याप्त अवकाश ही न था परन्तु इतना होते हुए भी प्रकृति का निरा अभाव वहाँ भी नहीं है और उसने किसी न किसी रूप में युगीन साहित्य को अवश्य प्रभावित किया है मे म काव्यधारा

में तो वर्ण्य-विषय की परिधि का विस्तार करते हुए प्रकृति-चित्रण की प्रणाली को विशेष रूप से पल्लवित किया गया तथा सूर एवं तुलसी ने अपनी काव्य-चेतना को इस ओर उन्मुख किया। चूँकि कृष्णभक्ति शाखा के कवियों की काव्यधारा के नायक श्रीकृष्ण यमुना तट के निवासी हैं तथा वहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियों का विशद चित्रण ही उन कवियों ने किया है अतः जैसा कि श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल का मत है "सूरकाव्य के अधिकांश भाग का विकास प्रकृति देवी के कमनीय क्रीड़ा-स्थल ब्रजभूमि के विस्तृत प्रांगण में हुआ है; जहाँ पर जमुना है और उसके निकटवर्ती वृन्दावन के रमणीक वन-उपवन हैं, जहाँ पर गिरि गोवर्द्धन और उसकी सुन्दर कदराएँ हैं, जहाँ पर करील के सघन कुंज और कदंब के सुवासित वृक्ष हैं, जहाँ पर मोर-कोकिल आदि पक्षियों का मधुर कलरव गूँजा करता है। ऐसे प्राकृतिक वातावरण से सूरकाव्य का प्रभावित होना स्वाभाविक है।" **(सूर निर्णय : श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल; पृ० ३२६)**

यह तो सर्वविदित ही है कि सूरदास के काव्य नायक—बल्कि उपास्य श्रीकृष्ण—ब्रजभूमि में अवतरित हुए थे तथा उनका व्यक्तित्व प्रकृति की ही गोद में विकसित हुआ और प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र ही उनकी बालक्रीड़ाओं एवं किशोर-केलियों का रंगस्थल रहा। यमुना तट, गोचारण-भूमि, करील कुंज, कदम्ब वन, वीथिका और गोवर्द्धन आदि प्रकृति के वे रम्यस्थल हैं जो कि मथुरा जाने के पूर्व कृष्ण के विहारस्थल रहे हैं तथा विहार के इस क्षेत्र में उनकी विविध लीलाओं के साथ ही प्रकृति की भी विभिन्न लीलाएँ चलती रही हैं अतः जिस प्रकार सूर के आराध्य बालकृष्ण का जीवन ब्रज की प्राकृतिक रंगस्थली के रंग में डूबा हुआ है उसी प्रकार सूर का अधिकांश साहित्य भी उसी प्रकृति के रँग से अनुरंजित है तथा उन्होंने ब्रज के प्रति अपना अनन्य प्रेम प्रकट भी किया है—

कहाँ सुख ब्रज कौ सौं संसार।
कहाँ सुखद बंसीबट यमुना यह मन सदा विचार॥
कहाँ बनधाम कहाँ राधासंग कहाँ संग ब्रज बाम।
कहाँ रस रास बीच अंतर सुख कहाँ नारि तनु ताप

कहाँ लता तरु प्रति झूलनि कुंज कुंज बल घाम ।
कहाँ विरह सुख बिनु गोपिन संग सूर स्याम मन्न काम ॥

और भी—

सोहि बसिए ब्रज की बीथिन्न ।
साधुनि के पनवारे चुनि चुनि उदरजु भरिए सीतनि ॥
पैंड़े मे के बसन बीनि तन छाया परम पुनीतनि ।
कुंज कुंज तर लोटि लोटि रचि रज लागौं रंगी तनि ॥
निसि दिन निरखि यसोदा नंदन और जमुना जल पीतनि ।
दरसन होत सूर तन पावत दरसन मिलन अनीतनि ॥

जैसा कि कतिपय समीक्षकों का मत है "हिंदी काव्य में प्रकृति का पहला विशद वर्णन सूर काव्य में मिलता है ।" (सूर साहित्य की भूमिका : डा० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी; पृ० २१०) चूँकि श्रीकृष्ण की जीवनलीला का सम्बंध एक ऐसे स्थान से था जो कि प्राकृतिक विभूतियों से पूर्ण है अतः सूरसागर में स्वाभाविक ही नायक कृष्ण के जीवन के साथ यमुना, कदम्ब कुंज, ऋतु परिवर्तन, दावानल और इसी प्रकार न जाने प्रकृति के अन्य कितने अंग गूँथ दिए गए । साथ ही स्वयं कविवर सूरदास का अधिकांश जीवन कलिन्दजा के तट पर तथा व्रजभूमि में ही व्यतीत हुआ था अतः ब्रज की सम्पूर्ण भूमि से परिचित होने के कारण वही उनके काव्य का विषय भी बन गयी । ब्रज-भूमि में श्रीनाथ की स्थापना कर इधर वल्लभाचार्य ने भी उसकी महत्ता स्थापित कर दी थी अतः लीलानायक श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान होने के अतिरिक्त यह पुष्टिमार्गी भक्तों की इष्टदेव मूर्ति का निवास स्थान भी था । इन्हीं सब कारणों के फलस्वरूप सूर ने ब्रज-प्रकृति को अपने काव्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया है और यही कारण है कि 'सूर काव्य प्रकृति में डूबा हुआ है । कृष्ण का विकास जैसे व्रज की प्रकृति में होता है उसी प्रकार सूर साहित्य का विकास भी ब्रज-प्रकृति की छाया में ही होता है । ब्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिए ही सामग्री नहीं दी है, वह उनके काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित हुई है ।" (सूर साहित्य की भूमिका: डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी, पृ० २११)

सूरकाव्य के प्रकृति-चित्रण का सौंदर्य एवं महत्व समझने के पूर्व हमें उनके प्रकृति निरीक्षक दृष्टिकोण को समझ लेना भी आवश्यक है और यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो हमें प्रकृति-विषयक उनके दो पहलू स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं अर्थात् एक ओर तो वे ब्रज-प्रदेश के यमुना तट, करील कुंज, गोचर भूमि, मधुवन, गोवर्द्धन, वृन्दावन आदि में प्रकृति-सौंदर्य का अनन्त भंडार भरा देखते हैं तथा दूसरी ओर ब्रज-भूमि की नित्यता पर विश्वास कर उसे लोकोत्तर मानते हैं अतः उनकी दृष्टि में उस भूमि का नित्य परिचालित प्रकृति व्यापार भी नित्य है—

नित्य धाम वृंदावन स्याम। नित्य रूप राधा ब्रज बाम ।।
नित्य रास जल नित्य बिहार। नित्य मान खंडिताऽभिसार ।।
नित्य कुंज सुख नित्य हिंडोर। नित्यहिं त्रिबिध समीर झकोर ।।
सदा बसन्त रहत जहँ बास। सदा हर्ष जहँ नहीं उदास ।।
कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर ।।
बिबिध सुमन बन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार ।।

वस्तुतः सूर द्वारा चित्रित प्रकृति ब्रज प्रकृति ही है और उन्होंने इस प्रकृति का चित्रण इन्हीं दोनों दृष्टियों से किया है लेकिन उनके प्रकृति-वर्णन मे एक वैशिष्ट्यता हम यह देखते है कि उनका अधिकांश प्रकृति-चित्रण ऐसा है जिसमें ब्रज-भूमि, उसकी प्रकृति और कृष्ण की बाल-लीलाएँ एकात्म हो गई हैं। सम्भवतः यही कारण है कि सूर के प्रकृति-वर्णन का कदाचित् ही कोई ऐसा स्थल होगा जहाँ उनके आराध्य कृष्ण प्रकृति से प्रथक् होंगे। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि सूर आदि कृष्णभक्ति शाखा के कवियों को प्रकृति प्रायः कृष्ण के नाते ही प्रिय रही है और यही कारण है कि उनकी पैनी दृष्टि ने विस्तृत जगत की रंगस्थली से असंख्य पदार्थ खोज निकाले है लेकिन उनका सौंदर्य एकमात्र कृष्ण के सम्बंध से ही सार्थक हो सका है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में "प्रकृति चाहे उपमान बनकर आए, चाहे चित्रों की पृष्ठभूमि के निर्माण में उसका उपयोग हो, उसका अवलोकन सूरदास कृष्ण-प्रेम से रंजित दृष्टि द्वारा ही कर सकते हैं। प्रभात इसीलिए सुन्दर है कि उस वेला में श्रीकृष्ण जागते हैं। प्रभात में विकसित होते हुए कमल श्रीकृष्ण के अर्धोन्मीलित नेत्रों का सुखद स्मरण दिलाते हैं कलरव करते हुए

बाव कृष्ण की विरुदावली सी गाते हुए जान पडते है विकसित कमलों पर मंडराते हुए गुंजायमान भ्रमरों के झुंड कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त उनका गुणगान करने वाले सेवकों जैसे लगते हैं । जिस प्रकार अरुण उदय होकर अंधकार को विदीर्ण कर देता है उसी प्रकार कृष्ण के जागने से समस्त दुःख-दैन्य, द्वन्द्व भ्रम, मत्सर-मद दूर हो जाते हैं और चारों ओर आनन्द का प्रकाश हो जाता है ।" (**सूरमीमांसा : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा; पृ० १९२-१९३**) साथ ही सूर के प्रकृति-चित्रण की एक अन्य विशिष्टता यह भी है कि उन्होंने अपने अधिकांश प्रकृति-वर्णन में प्रकृति की कोमल वृत्ति की ही प्रतिष्ठा की है तथा कोमलता और आनन्द ही उनके प्रकृति-चित्रण के मूल तत्त्व हैं। संभवतः इन दोनों तत्त्वों की प्रधानता के कारण ही हम इन्द्र-प्रेरित प्रलयंकारी वारिद खडों द्वारा वृष्टि होने और दावानल के विकराल स्वरूप धारण कर लेने के पश्चात भी प्रकृति का वही पूर्व नित्य स्वरूप देखते है। इसी प्रकार सूरकाव्य के प्रकृति-वर्णन में आनन्द-तत्त्व भी इतना अधिक है कि वियोग संतप्त गोपियों का विदग्ध हृदय भी एक आलौकिक आनन्द से डूबा हुआ सा दीख पड़ता है ।

स्मरण रहे कि प्रकृति-चित्रण की निम्नांकित प्रणालियाँ हिन्दी काव्य-जगत में प्रचलित हैं—१. आलंबन २. उद्दीपन ३. अलंकार ४. मानवीकरण ५. नीति और उपदेश का माध्यम तथा ६. प्रकृति में परम तत्त्व के दर्शन और सुविधानुसार कविगण इन सभी को या इनमें से किसी विशेष को अपनाते है । जैसा कि डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का मत है "कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग केवल अपनी भावना और कल्पना को सजग और मूर्त करने में किया है अतः प्रकृति-चित्रण की विविधता उसके काव्य में नहीं मिल सकती।" (**सूरदास : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा; पृ० ४९८**) परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सूर प्रकृति में निरा उदासीन रहे है। डॉ० मुंशीराम शर्मा का कहना है कि " सूर ने प्रकृति का वर्णन निम्नांकित रूपों में किया है—

(१) प्रकृति का विषयात्मक चित्रण
(२) प्रकृति का अलंकृत चित्रण
(३) कोमल और भयंकर रूप
४ प्रकृति मानव कि की पृष्ठभूमि

(५) अलंकारों के रूप में प्राकृतिक दृश्यों का प्रयोग ।

(सूर सौरभ : डॉ० मुंशीराम शर्मा; पृ० ४४८)

यद्यपि सूर ने प्रकृति को मुख्यतः उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण किया है लेकिन कई ऐसे प्रसंग भी हैं जिनमें कि प्रकृति को आलम्बन रूप में अंकित किया गया है। वस्तुतः इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण में प्रकृति बहुधा साधन न बनकर साध्य बन जाती है और कवि अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षणी शक्ति द्वारा प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के प्रति आकृष्ट होकर प्राकृतिक वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आस-पास की परिस्थितियों का परस्पर संश्लिष्ट वर्णन करता है और अर्थग्रहण की अपेक्षा बिम्बग्रहण पर ही विशेष ध्यान देता है। सूरदास जी ने भी प्रभात, वन, पत्र-लता, पुष्प, यमुना, चन्द्रमा, मेघ, वसंत, वर्षा और शरद् का वर्णन करते समय प्रकृति के आलम्बन रूप की ही झाँकी प्रस्तुत की है; उदाहरणार्थ प्रातःकाल का यह वर्णन देखिए—

बोले तमचुर, चारयौ जाम कौ गजर मारयौ
पौन भयो सीतल तमि तें तमता गई ।
प्राची अरुनानी, भानु किरनि उज्यारी नभ छाई
उडुगन चन्द्रमा मलीनता लई ॥
मुकुले कमल, वच्छबंधन बिछोह्यौ ग्वाल
चरैं चली गाईं द्विज लैंतो कर कौं दई ।
सूरदास राधिका सरस बानी बोलि कहै
जागो प्रान प्यारे जू सबारे की समै भई ॥
चिरई चुहचुहानी, चाँद की ज्योति परानी
रजनी बिहानी प्राची पियरी प्रभान की ।
तारिका दुरानी तम घट्यौ तमचुर बोले
स्रवन भनक परी ललिता के तान की ॥
भृंग मिले मारजा, बिछुरी जोरी कोक मिले
उलटी पनच अब काम के कमान की ।
अथवत आए गृह, बहुरि उवत भानु
उठै प्राननाथ महा जान मनि जानकी ॥

कवि ने प्रातःकाल का वर्णन करते समय कहा है कि ब्रह्मयाम में मुर्गा बाँग

देता है। शीतल पवन चलने लगता है, अंधकार दूर हो जाता है, पौ फटने पर सूर्य उदय हो जाता है, नक्षत्र और चन्द्रमा निष्प्रभ हो जाते हैं, कमल विकसित हो उठते हैं, गायें चरने के लिए जंगल चली जाती हैं, ब्राह्मण नित्य कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, चिड़ियाँ चहचहाने लगती हैं और चकवा-चकवी की बिछुड़ी जोड़ी मिल जाती है। वस्तुतः इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण में पाठकों को प्रकृति के प्रत्यक्ष-दर्शन का सा आनन्द प्राप्त होता है। सूरदास ने प्रकृति का केवल सौम्य, स्वच्छ और सुनिर्मल रूप ही अंकित नहीं किया है बल्कि उसके विराट्, विकराल एवं भयावह रूपों के भी दर्शन कराए हैं। यद्यपि प्रकृति का इस प्रकार का चित्रण केवल प्रसंगवश ही हुआ है तथा उससे परोक्ष रूप में कृष्ण के शक्ति और शौर्य की व्यंजना ही हुई है लेकिन प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से ये उल्लेखनीय अवश्य हैं। उदाहरणार्थ दावानल के प्रसंग में सूरदास ने प्रकृति के कठोर अंग का ही चित्रण किया है—

> महरात झहरात दवा (नल) आयौ।
> घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ॥
> बरत बन बाँस, थरहरत कुसकाँस जरि उड़त हैं भाँस अति प्रबल छायौ।
> झपटि झपटत लपट, फूलफल चट चटकि फटत लटलटकि द्रुम द्रुमे नवायौ॥
> अति अगिनि झार, भभार, धुंधार करि, उचटि अंगार झंझार छायौ।
> बरत बनपात महरात झहरात अररात तरु महा धरनी गिरायौ॥

जैसाकि डॉ० हरवंशलाल शर्मा का मत है "वस्तुतः सूर के प्रकृतिवर्णन का महत्व उद्दीपन रूप में ही सर्वाधिक है। व्रजभूमि की मोदमयी गोद में खेलते हुए राधा और कृष्ण के हृदय में जो पारस्परिक स्नेह का अंकुर फूटा, उसे व्रज की प्रकृति ने अपनी सरसता से पल्लवित और पुष्पित किया; फिर उससे जो आनन्दमय प्रेम भक्ति सौरभ उड़ा, वह सांसारिक विषयों के कटुरस में बहते हुए जनमन मधुपों को प्रेरणा देकर सच्चे आनन्द रस का आस्वादन करा सका। चतुर सखी की भाँति प्रकृति राधा और कृष्ण के मिलन के लिए उनके प्रेमभाव को उद्दीप्त करने के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करती है। (सूर और उनका साहित्य : डॉ० हरवंशलाल शर्मा; पृ० ५२१-५२२) वस्तुतः संयोगावस्था में समस्त प्राकृतिक-शोभा आनन्दोल्लास की उन्मुक्त अभिव्यक्ति ही करती है और उद्दीपन रूप में पारस्परिक रतिभाव की अभिवृद्धि करती

हुई वह शारीरिक उपभोग की वस्तु बन जाती है तथा उनके शीतल स्पर्श एवं सुगन्धि से सात्विक भाव उत्पन्न होते है। निम्नांकित पंक्तियों में कवि ने दिखलाना चाहा है कि किस प्रकार ब्रज के निकुंज, कालिन्दी कूल और वसन्त का सुखद वातावरण राधा, कृष्ण एवं गोपियों को उत्साहित करता है तथा वे सब मिलकर फाग खेलने लगते हैं—

सुन्दर वर संग ललना बिहरति बसन्त सरस रितु आई।
लै लै छरी कुमार राधिका कमल नैन पर धाई।
सरिता सीतल बहति मंद गति रवि उत्तर दिसि आयो।
अलि रस भरी कोकिला बोली बिरहिनि बिरह जगायो॥
द्वादस बन रतनारे देखियत चहुँ दिसि टेसू फूले।
भौंरे अंबुजा अरु द्रुम बेली मधुकर परिमल भूले॥
इत श्री राधा उत श्री गिरिधर इत गोपी उत ग्वाल।
खेलत फागु रसिक ब्रज बनिता सुन्दर स्याम तमाल॥

संयोग की भाँति वियोग मे भी प्रकृति भावोद्दीपन का कार्य करती है तथा प्रिय के सयोगकाल में तो उद्दीपन-पदार्थ भावोत्कर्ष कर सुखदायी बनते हैं लेकिन वियोग में उनके द्वारा उद्दीप्त हुए भावों का आलम्बन समक्ष न होने के कारण प्रणय-चेष्टाओं द्वारा रेचन संभव नहीं होता अत वियोगी हृदय भार का अनुभव करता हुआ व्यग्र हो उठता है और उसे वे ही सुखदायी पदार्थ दाहक प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार प्रकृति का सम्पूर्ण शोभा-सौंदर्य वियोग के समय विषादमय बन जाता है। प्रकृति के इस रूप का चित्रण सूर-काव्य में विस्तार के साथ किया गया है तथा डॉ० किरण-कुमारी गुप्ता का तो यहाँ तक कहना है कि "विप्रलम्भ श्रृंगार में तो सूर के उद्दीपन रूप में किये गये प्रकृति-वर्णन इतने अनूठे, सूक्ष्म तथा सरस हैं कि गोस्वामी तुलसीदास भी उनकी समता मे नहीं लाये जा सकते।" (**हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण : डॉ० किरणकुमारी गुप्ता; पृष्ठ १५८**) कृष्ण के विरह में सूरदास की गोपियों को प्रकृति की सुहावनी शोभा रुचिकर नही लगती कारण कि कृष्ण की याद उन्हें अत्यंत व्यथित कर रही है—

बरन बरन अनेक जलधर. अति मनोहर वेष।
तिहि समय ससि गगन सोभा सबहि तें सुविशेष।

कूजत खग मृग वृन्द राजत रटत चातक मोर।
बहुत विधि चित रचि बढ़ावत दामिनी घनघोर॥
धरति तन तृन रोम पुलकित पिय समागम जानि।
द्रुमनि बर बल्ली बियोगिनि, मिलति पति पहिचानि॥
हंस सुक पिक सारिका अलि गुंज नाना नाद।
मुदित मंडल-मेघ बरषत, गत बिहंग बिषाद॥
कुटज, कुंद, कदम्ब, कोबिद करनिकार, सुकंजु।
केतकी, करबीर, बेला, बिमल बहु बिधि मंजु॥
सघन दल, कलिका अलंकृत, सुमन सुकृत सुबास।
निकट नैन निहारि माधौ, मन मिलन की आस॥

वियोग मे बारहमासे की परम्परानुगत प्रथा के अनुसार सूर ने वसंत, पावस और शरद् ऋतु का वर्णन भी किया है तथा विरहिणी गोपियों की मनोभावनाओं का चित्रण करने में उन्हें अप्रतिम सफलता मिली है। गोपियों को प्रकृति में अपने प्रिय के से रूप या गुण को देखकर प्रिय की स्मृति हो आती है तथा श्याम मेघों में उन्हें प्रिय की श्यामता, इन्द्र धनुष में पीतपट, की छवि, विद्युत में दाँतों की द्युति और बक पंक्ति में मुक्ताहार का पूर्ण सादृश्य प्रतीत होता है। विरहिणी गोपिकाएँ अनवरत दुःख से दुःखी हो प्रकृति से अपना तादात्म्य भी स्थापित करती हैं और चेतन-अचेतन का भेद भूलकर उसे अपनी सखी समझ लेती हैं तथा अपना दुःख निवेदन करती हैं। स्मरण रहे सूर ने गोपियों के साथ समस्त विश्व को न रुलाकर केवल कृष्ण से सम्बन्धित प्रकृति को ही रुलाया है तथा सजीव प्राणियों में कृष्ण की पालित गायें ही दुःखी अंकित की गई हैं अन्यथा वन के स्वच्छन्द वातावरण मे मग्न रहने वाली कोयल और सभी पक्षी सुखी माने गए हैं। इसी प्रकार कृष्ण-वियोग में केवल कालिन्दी तट एवं तटस्थ वृक्ष समूह ही श्री विहीन कहे गये हैं; संसार के समस्त तरु नहीं। इन्हीं सब दृष्टियों से सूर के उद्दीपन रूप में किए गए प्रकृति-चित्रण में स्वाभाविकता अधिक है।

सूर ने अलंकारों के रूप में प्रकृति का बहुत ही अधिक प्रयोग किया है तथा उपमा और उत्प्रेक्षा की उनके काव्य में भरमार सी है। इसी प्रकार सांगरूपक के भी विस्तृत चित्रण हैं तथा अद्भुत एक अनूपम बाग' वाला

उनका पद तो अतिशयोक्ति जगत में अपनी सानी ही नहीं रखता। रूप और सौंदर्य के चित्रण में सूर ने उपमा और उत्प्रेक्षा के अनेक उदाहरण दिए हैं परन्तु उनके अधिकांश उपमान परम्परा-प्राप्त एवं कवि-समय-सिद्ध हैं तथा प्रकृति के गिने-चुने स्वरूपों का ही उन्होंने बार-बार वर्णन किया है। फिर भी प्रकृति के प्रति कवि का जो प्रेम है वह इस प्रकार के उदाहरणों में स्पष्ट हो जाता है तथा अप्रस्तुत-विधान में दी हुई वस्तु-व्यापार-योजना में उसके मौलिक निरीक्षण का भी पता चलता है; उदाहरणार्थ—

पिय बिनु नागिनि कारी रात।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी, मुरि मुरि लहरैं खात॥

अलंकारों के रूप में प्रकृति-चित्रण करने के अतिरिक्त कवि ने प्राकृतिक दृश्यों को भी आलंकारिक शैली में प्रकट किया है और इस प्रकार के उदाहरणों में प्रकृति का अलकृत चित्रण भी मिलता है। साथ ही सूरकाव्य में कृष्ण के क्रियाकलापों की पृष्ठभूमि के रूप में भी प्रकृति का यथातथ्य चित्रण किया गया है। उदाहरणार्थ; निम्नांकित पंक्तियों में कवि ने हिंडोला लीला की प्राकृतिक पृष्ठभूमि अंकित करते हुए कहा है—

बन बननि कोकिल कंठ निरखति करत दादुर सोर।
घन घटा कारी, स्वेत बग पंगति निरखि नभ ओर॥
तैसोये दमकति दामिनी तैसोई अंबर घोर।
तैसोई रटत पपीहरा, तैसोई बोलत मोर॥
तैसोयै हरियरि भूमि बिलसति होत नहिं रुचि थोरि॥
तैसोयै नन्हीं बूँद बरसति झमकि झमकि झकोरि।
तैसोयै भरि सरिता सरोवर उमँगि चली मिति फोरि॥

तुलसी की भाँति सूर ने कहीं भी प्रकृति को उपदेश और नीति का माध्यम बनाकर अंकित नहीं किया। चूँकि उनका क्षेत्र वात्सल्य और श्रृंगार तक ही सीमित था और उन्होंने कृष्ण के जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं को न लेकर केवल उनके मनोमुग्धकारी रूप को ही अपनाया था अतः स्वाभाविक ही प्रकृति चित्रण का यह रूप उनके काव्य में कहीं भी नहीं दृष्टिगोचर होता।

हा प्रकृति में मानव रूप मानव गुण मानव क्रिया और मानव भावना का आरोप करने की ओर उनकी भी दृष्टि गई है तथा इस प्रकार उन्होंने प्रकृति का उपयोग उसका मानवीकरण करके भी किया है। यद्यपि कतिपय विचारकों का मत है कि मानवीकरण की यह प्रवृत्ति पाश्चात्य साहित्य की देन है लेकिन वास्तविकता यह है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति का आदि रूप वैदिक युग में ही दृष्टिगोचर हो जाता है। सूरकाव्य में प्रकृति मानवीय भावों, क्रियाओं और व्यापारों की प्रतिकृति के रूप में बहुत थोड़े से ही प्रसंगों में अंकित हुई है परन्तु इन थोड़े से उदाहरणों से ही हमें कवि की काव्य प्रतिभा का परिचय मिल जाता है; यथा—

देखियति कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों भई बिरह जुर जारी॥
गिरि-प्रजंक तें गिरति धरनि धँसि तरंग तरफ तनभारी।
तट बारू उपचार चूर, जलपूर प्रस्वेद पनारी।
बिगलित कच कुस कांस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति दिसि-दिसि दीन दुखारी।
निसि दिन चकई पिय जु रटति है भई मनो अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी।

प्रकृति में परम तत्व का आभास या उसे विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम मानने की ओर कवि ने रुचि नहीं दिखाई है अतः सूरकाव्य में ऐसे प्रसंगों का अभाव ही है जहाँ कि प्रकृति के माध्यम से आध्यात्मिक सत्य और प्रेम व्यंजना दोनों को प्रस्तुत किया गया हो। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कतिपय न्यूनताओं से सूर का प्रकृति-चित्रण निरा उपेक्षणीय समझा जाय बल्कि वास्तविकता तो यह है कि अपने इस छोटे से क्षेत्र में भी उनकी दृष्टि का अद्भुत विस्तार है और उन्होंने प्रकृति से न केवल विशेष प्रेरणाएँ ग्रहण की है अपितु उसकी शोभा से अपने काव्य को पूर्णतः अलङ्कृत किया है।

प्रश्न १६—सूरदास के रूप-चित्रण पर एक निबन्ध लिखिए।

प्रश्न १७—सूर की सौंदर्य-भावना पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—कविता का राज्य सौंदर्य ही है और सत्य कहा जाए तो कविता सौंदर्य का ही मूर्तिमान रूप है। कला का प्रधान गुण सौंदर्य ही माना जाता

है तथा वह नूतन सौंदर्य की सृष्टि भी करती है। वस्तुतः सौंदर्य बाह्य जगत और आभ्यंतरिक जगत दोनों में ही पाया जाता है तथा बाह्य जगत वह जगत है जो नेत्र आदि बाहरी इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है और यदि विचार-पूर्वक देखा जाए तो बाह्य जगत का अनुभूत ज्ञान ही कवि के अन्तर्जगत का मूल आधार है। स्मरण रहे कवि जहाँ नारी के अंग-प्रत्यंग का बाह्य-सौंदर्य वर्णन करते हैं वहाँ उसके मानस की प्रेम एवं करुणा आदि आभ्यंतरिक भावनाओं का भी चित्रण करते हैं। यों तो एकमात्र बाह्य-सौन्दर्य का ही वर्णन करने वाले भी कवि कहे जाते हैं लेकिन वे कवि जो कि मनुष्य के मानसिक सौन्दर्य का भी वर्णन करते हैं उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ कवि या महाकवि कहलाते हैं परन्तु अन्तर्जगत का सौन्दर्य-चित्रण भावनाओं से ही सम्बन्धित होता है अतः कवि विशेष के भावपक्ष पर विचार करते समय ही उस पर विचार किया जाता है। हम यह स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्य के ये दोनों रूप पार्थिव और आध्यात्मिक इतने अधिक संश्लिष्ट हैं कि एक के अभाव में दूसरे की सत्ता अपने आप ही विलीन हो जाती है और सौन्दर्यानुभूति में सौन्दर्य के इन दोनों रूपों का घनिष्ट और परस्परावलम्बित सम्बन्ध है अत सूरदास की सौंदर्य-भावना पर विचार करते समय हमें रूप-सौंदर्य और भाव-सौंदर्य दोनों पर ही विचार करना चाहिए लेकिन यहाँ हम रूप-सौंदर्य पर ही विचार करेंगे कारणकि भाव-सौंदर्य दूसरे प्रश्न से सम्बन्धित है और वहाँ हम उस पर प्रकाश डाल भी चुके हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'सूरसागर' रूप-सौन्दर्य का पारावार है और उसके अधिकांश पदों में सौन्दर्य कूट-कूट कर भरा हुआ है। जैसा कि विचारकों का कहना है "रूप-सौन्दर्य की इतनी सुन्दर सृष्टियाँ संसार के किसी भी महाकाव्य में विरल हैं। सूरदास को भगवान के विभिन्न रूपों से इतना प्रेम है कि वह उनकी प्रत्येक मुद्रा का विस्तृत वर्णन करते हैं और अपनी सारी सहृदयता और प्रतिभा का प्रयोग करते हैं। उन्होंने माधव के त्रिभंगी रूप को सैकड़ों पदों में अंकित किया है। राधामाधव के परस्पर प्रेम-प्रदान करते हुए अनेक उत्कृष्ट चित्र कदाचित सूर ने इसलिए लिखे हैं कि उनकी कल्पना नए-नए रूपों की सृष्टि करते हुए थकती नहीं।" (सूरसाहित्य की भूमिका: डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी- पृ० १६७)

रही है तथा हम देखते है कि कवि ने वचन विदग्धा क्रिया विदग्धा वासक सज्जा, खंडिता, मानवती, उत्कंठिता, प्रोषित पतिका, विप्रलब्धा, कल-हान्तरिता, धीरा, अधीरा, अन्य संभोग दुःखिता आदि का सुन्दर वर्णन किया है। इतना ही नहीं नायकों के भी कुछ स्वरूप सूरसागर में उपलब्ध होते हैं और दूती का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार कवि ने संयोग शृंगार का अत्यन्त व्यापक वर्णन किया है तथा संयोग शृंगार का ऐसा कोई भी पक्ष नहीं बचा जिसका वर्णन सूर की लेखनी ने न किया हो।

स्मरण रहे शृंगार रस के ही अतर्गत वीर रस का चित्रण करने की ओर भी कई कवियों ने ध्यान दिया है और मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' मे बादल नामक एक पात्र के सम्बन्ध मे उसकी द्विरागमन में आई हुई पत्नी के शृंगार वर्णन में इसी प्रकार का चित्र अंकित किया है लेकिन उसमें प्रधानता शृंगार रस की ही है। हाँ सूर ने निम्नांकित पद में अवश्य रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों के योग से शृंगार में वीर रस का चित्रण किया है तथा इससे रसाभास भी नहीं हुआ—

रुंधे रति संग्राम खेत नीके।
एक ते एक रणवीर जोधा प्रबल मुरत नहिं नेक सबल जी के।।
भौंह कोदण्ड शर नैन जोधानु की काम छूटनि कटाक्षनि निहारें।
हँसति द्विज चमक करिवरनि लोहन झलक नखन छत नेजा संभारें।।
पीतपट डारि कंचुकी मो चित करनि कवच सन्नाह ए छुटे तन तें।
भुजा भुज धरत मनों द्विरद शुंडनि लरत उर उरन भिरे दोउ जुरे मन तें।।
लटकि लपटानि मानों सुभट लरि परे खेत रति सेज चुम्बितान कीन्हीं।
सूर प्रभु रसिक प्रिय राधिका रसिकिनी कोक गुन सहित सुख लूटि लीन्हीं।।

सूरदास का ध्यान संयोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलभ शृंगार की ओर अधिक रहा है* और इसमें कोई संदेह नहीं कि शृंगार रस में वियोग के चित्र अधिक मर्मस्पर्शी भी होते हैं। शेली ने लिखा भी अधिक है—

Our sweetest songs are those
That tell saddest thoughts

वस्तुतः मानव-जीवन में सफलता की अपेक्षा विफलता की ही अधि

*एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न सूर के विरह वर्णन पर एक निबन्ध लिखि

संभावना रहती है अतएव वियोग शृंगार में जितनी अधिक वास्तविकता विद्यमान रहती है उतनी संयोग शृंगार में नहीं। राम और सीता विग्रह के उपरांत जब राजभवन में सुख के दिन व्यतीत करते हैं तब सर्वसाधारण इस अप्राप्य वैभव के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते क्योंकि उसमें उन्हें अपने जीवन का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर नहीं होता लेकिन सीता-हरण के उपरान्त जब राम वन में असहाय से हो सजल नेत्रों से विलाप करते हैं तब सर्वसाधारण को यह अपने निकटतर प्रतीत होता है क्योंकि यह उनकी सामान्य भाव-भूमि के अधिक समीप पड़ता है। वस्तुतः वियोग वर्णन से कवि की भावुकता का परिचय भी हमें मिलता है क्योंकि विप्रलंभावस्था का चित्रण करते समय वियोगियों की हृदगत भावनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण आवश्यकीय है। जो कवि मानसिक भावनाओं को जितने अधिक सुंदर ढंग से प्रस्तुत कर सकेगा उसका विरह-वर्णन उतना ही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होगा। इस प्रकार विप्रलंभ में रसव्यंजना अधिक हृदयस्पर्शी होती है तथा यहाँ तक कहा जाता है कि शृंगार को रसराजत्व प्रदान करने का श्रेय वियोग को ही है कारणकि इसमें संयोगजन्य सुख की भाँति उथलापन न होकर अनुभूति की गहनता ही होती है। सम्भवतः इसीलिए श्री सुमित्रानंदन पंत को तो विरह भी वरदान ही जान पड़ता है—

विरह है अथवा यह वरदान

कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है।
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है॥

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान॥

संयोग शृंगार की ही भाँति सूर ने वियोग का भी व्यापक वर्णन किया

है और वे स्वयं तो विरह को ही प्रेम की ट मानते हैं।* आचार्य शुक्ल का कहना है कि "गोपियों की वियोग-दशा का जो धाराप्रवाह वर्णन है उसका तो कहना ही क्या है। न जाने कितनी मानसिक दशाओं का संचार उसके भीतर है। कौन गिना सकता है।" (सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १९९) कृष्ण के मथुरा जाते समय ब्रज-बालाओं को वियोग-जन्य जड़ता घेर लेती है और नेत्रों से अश्रु-धारा बहने लगती है तथा उनका रह-रह कर यही विचार होता है कि 'अब देखि लै री स्याम कौ मिलनौ बड़ी दूरि।' विरहाग्नि की ज्वाला से वे इतना अधिक तड़प उठती हैं कि उन्हें अब वह अग्नि से भी अधिक दाहक प्रतीत होती है—

> अनल ते बिरह अगिनि अति तातो।
> माधव चलन कहत मधुबन कौं सुने तपति अति छाती॥
> न्यारहिं नागरि नारि बिरह बस जरति दिया ज्यौं बाती।
> जे जरि मरीं प्रगट पावक परि ते तिय अधिक सुहाती॥

स्मरण रहे न केवल ब्रजबालाओं को अपितु समस्त ब्रज के लिए कृष्ण-वियोग का यह प्रथम अवसर है अतः सभी गोप-ग्वाले तथा नंद-यशोदा भी दुखी हो उठते हैं। इस प्रकार कृष्ण के रथ में बैठते ही यशोदा तो पुत्र-पुत्र चिल्लाती हुई धरती पर गिर पड़ती हैं तथा अन्य गोपिकाएँ चित्रवत् स्तब्ध खड़ी रहती हैं और कोई किसी से नहीं बोलता। उन सबका मुखड़ा फीका पड़ जाता है तथा आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है। उनके पैर घर की ओर नहीं मुड़ते और वे आगे की ओर दृष्टि न कर पीछे देखने लगती हैं जिस ओर कि कृष्ण रथ पर बैठ कर गए हैं। वे तो कृष्ण का साथ

---

*विरहाग्नि में जलनेवाली गोपियाँ कहती हैं—

> ऊधौ बिरहौ प्रेमु करै।
> ज्यों बिनु पुट पट गहत न रंगहिं पुट गहि रसहि परै॥
> ज्यों धर देह बीज अंकुर चिरि तौ सत फरनि फरै।
> ज्यों आवाँ घट दहत अनल तन तो पुनि अमिय भरै॥
> ज्यों रन सूर सहत सर सन्मुख तौ रवि रथहिं सरै।
> सूर गोपाल प्रेम-पथ चलि कै क्यों न दुखहिं डरै

छोड़ना ही नहीं चाहती थीं तथा अब वे यह सोचने लगती हैं कि यदि ईश्वर ने उन्हें पवन या कृष्ण के रथ की पताका ही बनाया होता तो वे भी अपने प्रिय के साथ चली जातीं—

पाछे ही चितवत मेरे लोचन आगे परत न पाइ।
मन लै चली माधुरी सूरत कहा करौं ब्रज जाइ॥
पवन न भई पताका अंबर भई न रथ के अंग।
धूरि न भइ चरन लपटाती जाती उहँलौं संग॥
ठाढ़ी कहा करौ मेरी सजनी जिहि बिधि मिलहिं गोपाल।
सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी मुरझि परीं ब्रजबाल॥

यद्यपि 'मुरझि पड़ी ब्रजबाल' से कृश, विषण्ण और विवर्ण गोपियों का सजीव चित्र स्पष्ट हो जाता है लेकिन इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कहना है कि "परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग मे भी वह गभीरता नही दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थी। गोपियो के गोपाल केवल दो चार कोस के एक नगर में राज-सुख भोग रहे थे। सूर का वियोग-वर्णन, वियोग-वर्णन के लिए ही है परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते कुंज या झाड़ी में जा छिपते हैं या यों कहिए कि थोड़ी देर के लिए अंतर्द्धान हो जाते है। बस गोपियाँ मूर्छित होकर गिर पड़ती हैं।" (सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; पृ० १७२) परन्तु शुक्ल जी के इस कथन से सहमत होना आवश्यकीय नहीं है तथा जैसा कि डॉ० हरवंशलाल शर्मा का कहना है "वियोग वियोग ही है चाहे वह क्षणिक हो या अनन्त, प्रियतम कहीं समीप ही छिपा हो या दूर, प्रेमाप्लावित हृदय में विरह के तूफान से विक्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। विरह की गंभीरता की माप प्रिय के निवास की दूरी पर ही आधारित है ? हमारी समझ में तो प्रिय के चले जाने पर यह निश्चय कि न जाने अब कभी मिलन होगा या नहीं, विरह की पूर्ण अनुभूति के लिए पर्याप्त है, उसमें काल या देश का हस्तक्षेप हमें उपयुक्त नही जंचता रास की में सयोग की मधुरतम अनुभूति मे वियोग

भर के लिए ही सही—क्या असह्य नही होगा। (सूर और उनका साहित्य, पृ० ४९५) अतएव कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का करुण-क्रंदन स्वाभाविक ही है क्योंकि बिना श्याम के ब्रज-बालाओं को समस्त ब्रज सूना दीख पड़ता है। इतना ही नहीं विरह-विदग्धा गोपियों और राधा एवं यशोदा के साथ पुष्प-लतायें भी जल रही हैं; यमुना भी विरह-ज्वर से काली पड़ गई है, गायें क्षीण एवं कृशगात हो गई हैं तथा ब्रज की शस्यश्यामला वसुधा सुनसान एवं वीरान हो रही है।* इस प्रकार कवि की दृष्टि में कृष्ण का वियोग सामान्य विरह का ही द्योतक नहीं है वरन् उसमें ब्रजधरा के मिस समग्र वसुन्धरा तथा गोपियों के मिस निखिल प्राणि-समूह का विरह अंकित किया गया है। जो गोपिकाएँ संयोग के दिनों मे सर्वदा श्याममय रहना ही पसंद करती थीं वे ही अब अपना पृथक् अस्तित्व कैसे रख सकती है? साथ ही जो घर श्याम की विद्यमानता में स्वर्ग के नन्दन-कानन सदृश्य लग रहा था वही आज उन्हे काटने को दौड़ रहा है और वे इस विरह-व्यथा को सहन करने की अपेक्षा अपने हृदय का विदीर्ण हो जाना अधिक उचित समझती है। वस्तुत. अनुभूति का केन्द्र तो हृदय ही है और यदि हृदय ही न होता तो इस विरह का अनुभव भी न करना पड़ता।

विरह पूर्ण मानसिक दशा में विगत सुखद स्मृतियों की याद हो आना स्वाभाविक ही है अत: ब्रजवासियों को कभी तो कृष्ण की माखन-चोरी याद आती है, कभी बालकों की पंक्ति में बैठकर सबको भोजन बाँट-बाँटकर खिलाना

---

* एक उदाहरण देखिए—

तब तें मिटे सब आनंद।
या ब्रज के सब भाग संपदा, लै जु गए नंद नंद॥
बिह्वल भई जशोदा डोलति दुखित नन्द उपनंद।
धेनु नहीं पय स्रवतिं रुचिर मुख चरति नहीं तृण कंद॥
विषम वियोग दहत उर सजनी बाढ़ि रहे दुख दंद।
सीतल कौन करै री माई, नाँहि इहाँ ब्रजचंद॥
रथ चढ़ि चले गहे नहिं काहू चाहि रहीं मति-मंद।
सूरदास अब कौन छुड़ावै परे बिरह कैं फंद

ौर गाय चराना। साथ ही संध्याकाल में कृष्ण का गायें चराकर लौट-
भी वंशी बजाना और कभी नटखटपन से भरी हुई बाल-लीलाएँ आ
गल स्मृतियाँ अब इस विरहावस्था में वृश्चिक-दंशन का कार्य कर रही है
थ ही मानव-हृदय की भावनाओं के साथ प्रकृति का सामंजस्य भी सूर
खाया है और इस प्रकार वियोगिनी ब्रजांगनाओं को यमुना नदी कृष्ण
रहज्वर से पीड़ित जान पड़ती है—

देखियत कालिंदी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सौं भई बिरह जुर जारी॥
गिरि प्रजंक तें गिरति धरनि धसि तरँग-तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर जल-पूर प्रस्वेद पनारी॥
बिगलित कच कुस काँस कूल पर पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित मति दिस दिस दीन दुखारी॥
निसि दिन चकई पिय जु रटति है भई मनौं मनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी॥

परन्तु प्रिय वियोग के अवसर पर संयोग के क्रीड़ा-धामों को उसी प्रका
भरा देखकर अत्यधिक पीड़ा होती है और इस प्रकार उस मधुवन को जि
ब्रजवल्लभ की अगणित क्रीड़ाओं का साक्षात्कार करने का सौभाग्य मिल
हराभरा देख कर गोपियाँ विक्षुब्ध हो जाती हैं तथा कहने लगती है—

मधुबन तुम क्यों रहत हरे।
बिरह बियोग स्याम सुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे॥
मोहन बेनु बजावत तुम तर साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम मुनि जन ध्यान टरे॥
वह चितवनि तू मन न धरत है फिरि फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु बिरह दवानल, नख सिख लौं न जरे॥

प्रिय या प्रेमिका के साक्षात दर्शन के अभाव में विरहिणी और विरही
-कथन, नामस्मरण तथा लीलाओं के अनुकरण द्वारा अपने आपको संतोष
का प्रयास करते हैं। इस प्रकार कृष्ण-विरह में गोपियाँ उनकी लीलाओं
अनुकरण करती हैं—"एक ग्वारि गोधन लै रेंगत, एक लकुटि कर नाचति
ग्वारि नटवर बहुलीला एक कर्म गुन गावत परन्तु उनकी विरह-व्यथा

सयोग-वियोग म होती है और जितना रूप-माधुरी का सुख किसी सुन्दर, चचल तथा क्रीड़ाशील बालक को देख कर दर्शकवृंद लेता है उन सबका अनुभव सूर का भक्तिभावुक हृदय प्रबलता के साथ करता था। सूरसागर मे कृष्ण की बाललीला तथा कृष्ण - वियोग में यशोदा-विरह के सम्पूर्ण पद सूर की इस भक्ति के प्रमाण हैं।" (**अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय: डॉ० दीनदयालु गुप्त; पृ० ६१६-६१७**)

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि बहुत से विचारक वात्सल्य को स्वतन्त्र रस नहीं मानते और वे उसकी गणना शृंगार रस के ही अंतर्गत कर लेते हैं परन्तु विश्वनाथ, मुनीन्द्र और भोजदेव जैसे प्रसिद्ध आचार्यों ने वात्सल्य को भी स्वतंत्र रस माना है तथा यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो वात्सल्य के स्थायी भाव स्नेह की जड़ हमारी सहज वृत्तियों तक पहुँचती है और इसका विस्तार पशुपक्षियों में भी मिलता है। शृंगार रस के अंतर्गत वात्सल्य को रखना इस दृष्टि से भी उचित नहीं है क्योंकि दोनों ही रतियों में जो एक विशेष प्रकार की कोमलता रहती है वह एक नहीं होती और साथ ही उनके आलम्बनों में भी भेद रहता है तथा संचारी अनुभाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार साहित्य-दर्पण के रचयिता विश्वनाथ ने 'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः' कह कर जो वात्सल्य रस की सत्ता स्वीकार की है वह उचित ही है और सूर के बाल-वर्णन का अनुशीलन करने के पश्चात् तो वात्सल्य को स्वतंत्र रस मानने में संदेह ही नहीं रह जाता। उदाहरणार्थ, निम्नांकित पद में वात्सल्य रस के समस्त तत्त्व मिल जाते हैं—

बलि गइ बाल-रूप मुरारि।
पाइ पैंजनि रटति रुन-झुन, नचावति नंद-नारि॥
कबहुँ हरि कौं लाइ अंगुरी चलन सिखवति ग्वारि।
कबहुँ हृदय लगाइ हित करि लेति अंचल डारि॥
कबहुँ हरि कौं चितै चूमति कबहुँ गावति गारि।
कबहुँ लै पाछे दुरावति ह्याँ नहीं बनवारि॥
कबहुँ अंग भूषन बनावति, राइ-लोन उतारि।
सूर सुर-नर सब मोहे निरखि यह अनुहारि।

किस प्रकार उसकी समस्त क्रियाएँ और भावनाएँ उसी में
ा हैं तथा वह उस दिन को देखने की अभिलाषा करने लगती है ज
घुटनों के बल चल कर उसके पास तक आने लगेगा। साथ ही वह उसक
ा से प्रथम बार निःसृत 'माँ' शब्द की मधुरता पर संसार की
तियाँ न्यौछावर करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है; देखिए—

जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरौ लाल घुटरुनि रेंगै, कब धरती पग द्वैक धरै ।।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरे मुख बचन भरै ।
कब नंदहि बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं ररै ।।
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन, जोइ सोइ कहि मोसौं झगरै ।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै अपने कर सौं मुखहि भरै ।।
कब हँसि बात कहैगौ मोसौं जा छबि तें दुख दूरि हरै ।

बालक की अत्यंत साधारण चेष्टाएँ भी माता-पिता के प्रमोद
जाती हैं और इसीलिए यशोदा जब अपने नन्हें से बालक की
ाएँ देखती हैं तब उनके आनन्द का ठिकाना नहीं रहता—

चलत देखि यशुमति सुख पावै ।
ठुमुक ठुमुक धरनी धर रेंगत जननी देखि दिखावै ।।
देहरि लौ चलि जात बहुरि फिर, फिर इतही को आवै ।
गिरि गिरि परत बनत नहिं लांघत सुर मुनि सोच करावै ।।
कोटि ब्रह्मांड करत छिन भीतर हरत बिलम्ब न लावै ।
ताको लिये नंद की रानी नाना खेल खिलावै ।।
तब यशुमति कर टेकि स्याम को क्रम क्रम कै उतरावै ।
सूरदास प्रभु देखि-देखि सुर नर मुनि बुद्धि भुलावै ।।

बालक कृष्ण स्वयं भी भाँति-भाँति की बाल्योचित चेष्टाएं
ी तो वे मणिमय आंगन में अपने प्रतिबिम्ब को, और कभी
पकड़ना चाहते हैं और कभी किलक-किलक कर जननी
शोभा दिखाते हैं । माता यशोदा इन क्रीड़ाओं को दे
ी समातीं और वे बार-बार नंद को इस सुख में सम्मिलित ह
ाती हैं कवि ने यहाँ यह दिखाना चाहा है कि नारी की मा

स्वयं अकेले ही वात्सल्य का अनुभव कर संतुष्ट नहीं होती वरन् वह वात्सल्य का पूर्ण आस्वादन करने के लिए भी पति का योग चाहती है। मातृत्व के साथ दाम्पत्य की यह संयोग-कामना नारी-हृदय का गूढ़ रहस्य ही है जिसका उद्‌घाटन सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति वाले सूर जैसे सुकवि द्वारा ही संभव था। वात्सल्य रस पूर्ण यह उदाहरण देखिए—

किलकत कान्ह घुटरुवन आवत।
मनिमय कनक नंद के आँगन, मुख प्रतिबिम्बहि धावत॥
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह को कर सों पकरन चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दँतियाँ पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत॥
कनक भूमि पर कर-पग-छाया यह उपमा इक राजति।
करि करि प्रति पद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजति॥
बाल दसा सुख निरखि जसोदा पुनि पुनि नंद बुलावति।
अँचरा तर लै ढाँकि सूर प्रभु जननी दूध पियावति॥

सूर ने बाल-बच्चे वाले गृहस्थों की सामान्य दिनचर्य्या का भी चित्रण करने की ओर ध्यान दिया है। यशोदा कृष्ण को सुलाने के लिए गीत गा गा कर उन्हें पलने में झुलाती हैं और धीरे-धीरे थपकियाँ देती जाती हैं। यदि किसी से कुछ कहना है तो वह इशारों से कह देती हैं लेकिन कृष्ण पूर्णतया सोये नहीं अचानक जग से गये तब उनका मौन पुनः भंग हो जाता है और मीठी तान से गा गा कर उन्हें फिर सुलाने लगती हैं। इन सामान्य घरेलू बातों का सजीव और स्वाभाविक चित्रण कर कवि ने अपने बालवर्णन मे स्वाभाविकता ला दी है तथा सूरकाव्य में ऐसे घरेलू एवं प्रकृति चित्रों की इतनी ज्यादा अधिकता है कि दर्शक उन्हें देख-देख कर अघाते नहीं हैं और बार-बार यही सोचते हैं कि बाल-दशा के न जाने कितने विभिन्न रूप सूर ने अपनी बंद आँखों से देखे थे? कृष्ण की बाल छवि में उन्होंने मुख, नेत्र, भुजा, रोमावली, केश आदि सभी का मनोहर चित्रण किया है और वेश-विन्यास तथा आभूषणों के वर्णन की ओर भी उनका ध्यान गया है। कृष्ण की बाल छवि में जहाँ अनुपम शारीरिक सौन्दर्य है वहाँ उसमें आंतरिक बुद्धि-चातुर्य का सौन्दर्य भी कम नहीं है। बालक कृष्ण जब एक दिन सन्ध्या-समय एक गोपी के घर में प्रविष्ट हो दही से भर पात्र में हाथ डालने

लगते हैं कि पकड़ लिए जाते हैं और जब वह गोपी उनसे यह पूँछती है कि उन्होंने इस तरह का चौर्य-कर्म क्यों किया तब वे अपनी सहज बुद्धि से कहते हैं—

मैं जान्यों यह घर अपनो है या धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न कों कर नायो॥

इसी प्रकार का बुद्धि-चातुर्य वे उस समय भी दिखाते हैं जब दही चुरा कर खाते समय पकड़े जाने पर माता यशोदा के पास ले जाए जाते हैं। उस समय उनका बुद्धि-चातुर्य मुख पर लगे हुए दही को पोंछने, दही के दोने को पीठ के पीछे ले जाने और इस तर्क के करने मे प्रकट हुआ है कि उनके छोटे-छोटे हाथ ऊँचे छींके पर रक्खे हुए दही तक कैसे पहुँच सकते हैं। बुद्धि-चातुर्य को अभिव्यंजित करने वाले इस प्रकार के पदों की संख्या कुछ कम नही है। इसी प्रकार अपने भाई बलराम की लम्बी तथा मोटी चोटी देख कर भी उनके हृदय मे बाल्योचित स्पर्धा के भाव जाग्रत हो उठते हैं और वे अपनी माता से कहते हैं कि मुझे दूध पीते कितना समय बीत गया लेकिन अभी भी मेरी चोटी पूर्ववत् ही है। वे यह भी कहते हैं कि "तू तो कहती थी कि तेरी चोटी बलराम की चोटी की भाँति लम्बी और मोटी होगी तथा काढ़ने, धोने, खींचने एवं गूँथने के समय नागिन की तरह भूमि पर लोटती दिखाई देगी लेकिन यह तो अभी जैसी की तैसी ही है। कृष्ण अपनी माता से शिकायत करते हैं कि वह उन्हें माखन रोटी खाने के लिए नहीं देती और कच्चा दूध ही पिलाती है इसीलिए उनकी चोटी बढ़ती नही है लेकिन यशोदा भी बच्चों को बहलाने में बड़ी चतुर थीं—और उन्हें बहलाती हुई कहती हैं कि दूध पीने से ही तेरी चोटी बढ़ेगी—

कजरी कौ पय पियहु लला जासों तेरी बेनी बढ़ै।
जैसें देखि और ब्रज बालक त्यों बल-बैस चढ़ै॥

माँ का हृदय बच्चे के नामकरण और अन्नप्राशन आदि संस्कारों के अवसर पर भी फूला नहीं समाता। साथ ही उसका हृदय बड़ा शंकालु होता है और इसीलिए कृष्ण जब बाहर खेलने जाते हैं तब यशोदा बार-बार यही सोचती हैं कि यदि हमारा छोटा सा बालक खेलने के लिए दूर चला गया तो कहीं बहक न जाय लेकिन बच्चे तो हठी होते ही हैं अत वे कहि व हाऽ

ना भय दिखा कर उन्हें डराती भी हैं । इसी प्रकार जब वे गोचारण के लिए जाने लगते हैं तब माता यशोदा यह सोच कर उन्हें जाने देती हैं कि इससे उनके पुत्र का मन बहल जाएगा लेकिन जब सभी ग्वाल-बाल अपनी गाय उन्हीं से चरवाते हैं और कृष्ण घर आने पर अपनी माता से ये सभी बातें बतलाते हैं तब उनकी ममता जाग्रत हो उठती है और उन्हें ग्वाल-बालों के इस कार्य पर अत्यधिक क्रोध आता है तथा वे कहती है—

मैं पठवति अपने लरिका कौं आवै मन बहराई ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक मारत ताहि रँगाई ॥

यद्यपि माता का स्नेह सब पुत्रों पर समान ही होता है लेकिन छोटे पुत्र पर कुछ अधिक होता है अतः एक दिन आँख-मिचौनी खेलते समय जब कृष्ण की आँखें मूँदी जाती हैं और बलराम तथा अन्य सखा इधर-उधर छिप जाते हैं तब माता यशोदा स्नेहवश कृष्ण को चुपचाप धीरे से बता देती हैं कि बलराम उस घर में छिपे हैं और फिर कृष्ण को विजयी देख स्वयं ही कह देती हैं कि मेरा पुत्र विजयी हुआ है । इसी प्रकार जब गोपियाँ कृष्ण द्वारा दही चुराने का उलाहना लेकर आती हैं तब भी यशोदा यही कहती हैं कि "मेरो गुपाल तनिक सो कहा करि जानें दधि की चोरी" और फिर इतना कह कर वे कृष्ण से कहती हैं कि "मेरे लाड़िले हौं जननि कहत जनि जाहु कहूँ ।" परन्तु गोपियों के उलाहने सुनते-सुनते जब वे तंग हो जाती हैं तब उन्हें कृष्ण पर क्रोध आ जाता है और वे उनको ऊखल से बाँध देती है परन्तु अब वे ही गोपियाँ उन्हें निष्ठुर कहने लग जाती हैं अतः वे कहती हैं—

कहन लगी अब बढ़ि-बढ़ि बात ।
ढोटा मेरो तुमहिं बँधायो तनकहिं माखन खात ॥

संध्या समय जब कृष्ण को आने में विलम्ब हो जाता है तब वे अत्यधिक व्याकुल हो उठती हैं और इसी प्रकार काली-मर्दन, प्रलंब-वध, धेनुक-वध, दावानल आदि प्रसंगों में भी उनका हृदय द्रवीभूत हो उठता है इस प्रकार कवि ने शिशु की मनोवृत्तियों, व्यापारों और चेष्टाओं का साकार एवं सजीव चित्रण कर अपने बाल वर्णन में वास्तविकता ला दी है । स्मरण रहे जिस प्रकार कवि बालकों की दिनचर्या के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद को, छोटे से छोटे व्यापार को और गूढ से गूढ अनुभूतियों को अंकित करने में सतर्क रह

है उसी प्रकार मातृहृदय की भावनाओं का भी चित्रण करने में उसने अपना ध्यान दिया है। चूँकि यशोदा और कृष्ण के सम्बंध की कथा को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं अर्थात् प्रथम तो वह जब कृष्ण यशोदा के समीप रह अपनी बाल्योचित क्रीड़ाओं से उन्हें सुखी करते थे और द्वितीय जब वे मथुरा चले जाते हैं तथा उनके वियोग में नंद-यशोदा व्याकुल हो उठते हैं अतः सम्पूर्ण कथा में जिस वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति हुई है वह भी संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य नामक दो भागों में बाँटा जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सूरदास इन दोनों अंगों का चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं लेकिन उन्होंने संयोग वात्सल्य का ही विस्तृत वर्णन किया है और उनके वियोग वात्सल्य सम्बन्धी पद न्यून संख्या में ही हैं। उपर्युक्त विवेचना से तो यह स्पष्ट ही हो जाता है कि संयोग वात्सल्य के वर्णन में अपूर्वता सी है और कवि माता के हृदय की प्रत्येक परिस्थिति का अत्यन्त रसपूर्ण सूक्ष्माति-सूक्ष्म चित्रण करने में पूर्ण सफल रहा है। श्री रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी के शब्दों में "सूरदास ने अपने संयोग वात्सल्य के चित्रण को स्वाभावोक्ति अलंकार द्वारा पुष्ट किया है। उनका बाल मनोविज्ञान का ज्ञान उन्हें वात्सल्य रस की सृष्टि में सहायता देता है। यद्यपि बाल-लीला के प्रसंग में कहीं-कहीं अद्‌भुत रस का निरूपण भी हुआ है जो वात्सल्य रस के विकास में बाधा डाल सकता है परन्तु वात्सल्य रस पूर्ण स्थलों की अधिक प्रधानता होने के कारण ऐसा नहीं होता। बाल-कृष्ण और यशोदानंद के प्रसंग में केवल एक ही रस प्रस्फुटित होता है वह है वात्सल्य रस। अद्‌भुत रस प्रासंगिक और गौण है।" (**सूर साहित्य की भूमिका : श्री रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी; पृ०** १२५) संयोग वात्सल्य की ही भाँति वियोग वात्सल्य के चित्रण में भी सूर को अप्रतिम सफलता मिली है। अक्रूर जब कृष्ण और बलराम को मथुरा ले जाने के लिए आते हैं तब पुत्र वियोग की चिन्ता से यशोदा का हृदय अत्यधिक व्याकुल हो उठता है और वे करुण-क्रन्दन करने लगती हैं तथा यही चाहती है कि कृष्ण किसी न किसी प्रकार गोकुल रुक जायें परन्तु जब वे यह देखती हैं कि वे किसी भी प्रकार नहीं मानते और जाने के लिए उत्सुक हैं तब हताश हो कहने लगती हैं

जसोदा बार बार यों भाखै ।
है ब्रज में कोउ हितू हमारो चलत गोपालहिं राखै ।।
कहा काज मेरे छगन-मगन को नृप मधुपुरी बुलायो ।
सुफलक सुत मेरे प्रान हरन कों कालरूप ह्वै आयो ।।
बरु ये गोधन हरौ कंस सब, मोहि बँदि लै मेलौ ।
इतने ही सुख कमल-नयन मेरो अँखियन आगे खेलौ ।।
बासर बदन बिलोकत जीवों निसि निज अंकम लाऊं ।
तेहि बिछुरत जो जीवों कर्मबस तौ हँसि काहि बोलाऊं ।।

परन्तु कृष्ण नहीं मानते और मथुरा चले जाते हैं। यशोदा को यह विश्वास रहता है कि वे नन्द के साथ लौट आएँगे लेकिन नन्द अकेले ही लौटते हैं और कृष्ण को न देख यशोदा उसी प्रकार मूर्च्छित हो गिर पड़ती है जैसे तुषार के पड़ने से सरोवर का कमल कुम्हला जाता है। शनैः-शनैः दिन बीतने लगते हैं लेकिन यशोदा की पीड़ा उसी प्रकार बनी रहती है और वह किसी भी प्रकार कम नहीं होती। कृष्ण की प्रिय वस्तुओं को देखकर तो वे और भी अधिक करुणा-क्रान्त हो उठती हैं तथा यदि मथुरा को जानेवाला कोई पथिक उन्हें देख पड़ता है तो वे उसके द्वारा अपने पुत्र को सन्देशा भी भिजवाती हैं। वे उस पथिक से कहती हैं कि वह जाकर देवकी को यह सूचित कर दे कि कृष्ण बड़ा संकोची है और हो सकता है कोई वस्तु माँगने में लज्जा का अनुभव करता हो अतः प्रातःकाल होते ही वे उनको मक्खन रोटी दे दिया करें। यशोदा यह भी कहती है कि कृष्ण बड़ा हठी है और धीरे-धीरे ही किसी के कहने में आता है। देखिए—

सँदेसौ देवकी सौं कहियौ ।
हौं तौ धाइ तिहारे सुत की मया करत ही रहियौ ।।
जदपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहिं कहि आवै ।
प्रात होत मेरे लाल लड़ैतें माखन रोटी भावै ।।
तेल उबटनौ अरु तातौ जल ताहि देखि भजि जाते ।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम-क्रम करि कै न्हाते ।।
सूर पथिक सुनि मोहि रैनि दिन बढ़्यौ रहत उर सोच ।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन ह्वै है करत सकोच ।

मालूम नहीं, कौतूहल और अनभिज्ञतावश वह जरा अग्रसर होती है और फिर सिकुड़े आँचल की ओट में अपने एकान्त कोमल घोंसले में फिर आती है। कुछ व्याकुल भी है, कुछ आशा-निराशा का आंदोलन भी है, किन्तु चडीदास की राधा में जैसे 'नयन चकोर मोर पिते करे उतरोल, निमिखे निमिख नाहिं सय" है, विद्यापति में उस प्रकार का उतरोल (उतरल = चंचल) भाव नहीं है। कुछ-कुछ उतावलपन अवश्य है। नवीना का नया प्रेम जिस प्रकार मुग्ध, निश्चिन्त, विचित्र, कौतुक-कौतूहल पूर्ण हुआ करता है उससे इसमें कुछ भी कमी नहीं है। चडीदास गंभीर और व्याकुल है विद्यापति नवीन और मधुर।" (सूरसाहित्य : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)

यदि हम इन चित्रों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हमें सूर का चित्रण कहीं अधिक उच्च कोटि का जान पड़ता है क्योंकि सूर की राधा न तो विलासिनी है और न उन्मादिनी ही तथा उसमें जितना विलास और उन्माद है उतना ही संयम और शालीनता भी है। वस्तुतः वह जितनी अल्हड़ है उतनी ही गंभीर भी तथा एक साधारण ग्वाल-बाला होते हुए भी वह ब्रज की रानी है। प्रेम, त्याग और आत्मसम्मान जैसी उदात्त भावनाओं की भी उसमें अधिकता है। प्रिय मिलन में तो वह हर्ष और गर्व की अनुभूति करती ही है लेकिन वियोग में करुणा से अधीर हो जाने पर भी अपने प्रियतम की निंदा नहीं करती और न उनकी निष्ठुरता देखकर उसे दोष ही देती है बल्कि स्वकीया साध्वी पत्नी की भाँति अपूर्व धैर्य के साथ उनकी प्रतीक्षा करती है। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में "सूर की राधा में विद्यापति, जयदेव, चंडीदास और ब्रह्मवैवर्त पुराण की राधा की विशेषताएँ संहित हो गई हैं और उन सबके ऊपर स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिम वर्ण से सूर ने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया कि उनसे पहले के राधा के सभी चित्र फीके पड़ गये। उन्होंने कैशोर्य की संयत चपलता और यौवन के उद्दाम भवसागर में डूबती हुई राधा का चित्रण नहीं किया अपितु अपने भोलेपन से सबके मन को हरनेवाली और सहज निर्बाध तरलता से श्याम को आकृष्ट करनेवाली बालिका राधा का भी चित्रण किया है। यह सूर की अपनी देन है, निजी मौलिकता है। उनकी राधा में परकीया की तीव्र वेदना चाहे न हो परन्तु स्वकीया की गंभीर और स्वाभाविक उत्कंठा अवश्य है।"

सूर और उनका साहित्य डा० शर्मा पृ० २८५ २८६

राधा से कृष्ण का प्रथम परिचय उस समय होता है जब कि कृष्ण 'भौंग चकडोरी' खेलने के लिए घर से बाहर निकले और अचानक ही उनकी दृष्टि बालिका राधा पर पड़ गई। बिशाल नयन, भाल पर रोली का टीका, पीठ पर लटकती हुई वेणी, गोरे तन पर नीले रंग की फरिया और वस्त्र से सुसज्जित राधा को देखते ही श्याम उस अल्पवयस सुकुमारी पर रीझ गए. रसिक शिरोमणि कृष्ण ने भोली राधा को चतुरता पूर्ण बातों द्वारा ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और उसे यह भी सिखा दिया कि वह किस प्रकार प्रतिदिन उनसे मिल सकती है। इस प्रकार बाल्यकाल से ही दोनों एक दूसरे के साथ खेले कूदे, हँसे बोले और खाये पिये हैं लेकिन ज्यों-ज्यों राधा और कृष्ण किशोरावस्था पार कर यौवन के प्रथम पहर में प्रवेश करते जाते है त्यों-त्यों उनका प्रेम और संकोच एक साथ ही बढ़ता जाता है। कृष्ण उस रूप और सौन्दर्य की प्रतिमा नवयौवना राधा के प्रति इस प्रकार आकृष्ट हो जाते है कि अब उन्हे बिना उसे देखे चैन नहीं पड़ती। इधर राधा के हृदय मे भी कृष्ण के प्रति प्रेम होने के कारण उसके नेत्र अनिमेष उस बाँकेबिहारी की छबि देखने के लिए आकुल रहते हैं लेकिन शील, संकोच और भयवश वह कुछ कहने में असमर्थ हो जाती है। कृष्ण का क्षणिक वियोग भी उसे सह्य नहीं है और वह किसी भी बहाने उनकी रूप-सुधा का पान करने के लिए उनके पास पहुँचना चाहती है। वस्तुतः राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम की उत्पत्ति में रूप लिप्सा-और साहचर्य दोनो का योग है तथा आचार्य शुक्ल का यह कथन उचित ही है "सूर का संयोग वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-संगीत मे जीवन की एक गहरी चलती धारा है जिसमें अवगाहन करनेवाले को दिव्य-माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई नहीं पड़ता।" (**सूरदास आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल; पृ० १८२**) यद्यपि राधा और कृष्ण के अनेक प्रेम प्रसंग कवि ने अंकित किए हैं लेकिन बालसहचरी राधा के सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि प्रकट रूप से उसने रतिकेलियों का वर्णन नहीं किया है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सूरसागर की राधा स्वकीया ही है लेकिन कवि ने परकीया भाव से भी उनका चित्रण किया है परन्तु इस चित्रण में राधा परकीया रूप में अंकित नहीं की गई। परकीया भाव में जितनी भी शृंगारिक चेष्टायें हो सकती हैं जितने भी गुह्य भावो और संकेतों की संभावना है उन

सबका पूर्ण विवरण हमें राधाकृष्ण मिलन में मिल जाता है तथा सुरत केलियों के वर्णन यथेष्ट मात्रा में देख पड़ते हैं। साथ ही राधा की मान-लीलाओं का भी वर्णन कवि ने किया है और मान वियोग के पश्चात् मिलन-सुख भोग का चित्रण भी बड़ी तन्मयता के साथ किया गया है। यद्यपि वियोगिनी राधा का चित्रण सूर ने अत्यधिक संक्षेप में किया है लेकिन उसमें स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता का अभाव नहीं है। वस्तुतः सूर राधा को एक आदर्श प्रेमिका के रूप में अंकित करना चाहते थे इसीलिए उन्होंने गोपियों के विरह वर्णन की भाँति राधा के विरह की अतिशयता अभिव्यक्त नहीं की वरन् जानबूझ कर उसे बहुत कम सामने लाने की आवश्यकता समझी और जब भी वह दिखाई देती है उसके शरीर, शब्दों और क्रियाओं से उसके गंभीर प्रेम की दयनीय परिणति की ही सूचना मिलती है। इस वियोग काल में राधा की चतुरता, विनोद, चंचलता, मंद मुस्कान आदि वे चारित्रिक विशिष्टताएँ जिनके कारण श्याम उसके वश में हो गये थे अब किंचित्मात्र भी नहीं दृष्टिगोचर होतीं। कृष्ण के मथुरागमन के अवसर पर यद्यपि अन्य व्रज-बालाएँ आतुरता और नंद एवं यशोदा बड़ी व्याकुलता दिखाते हैं लेकिन वह तो चित्रलिखित सी खड़ी रह जाती है। इसी प्रकार कृष्ण को मथुरा छोड़ कर नंद जिस समय अकेले गोकुल लौट आते हैं उस समय भी उनमें गंभीरता ही दीख पड़ती है और ऐसा प्रतीत होता है मानों कि परमोच्चअवस्था पर पहुँची हुई राधा का कृष्ण प्रेम अब अंतर्मुखी हो गया है। इसीलिए विरह-व्यथिता राधा अपना संदेशा श्याम तक भेजने के लिए पथिक को तो बुलाती है लेकिन वह अपने विषय में एक शब्द भी न कह व्रज के दुखी गोप-ग्वालों और गो सुतों का संदेश कृष्ण तक भिजवाती है। 'भ्रमरगीत प्रसंग' में भी राधा की विरह भावना में उच्चता और गम्भीरता देख पड़ती है तथा हम देखते हैं कि गोपियाँ उद्धव को अपनी विरह वेदना सुनाती हैं और उनके तर्कों का तर्कपूर्ण समाधान कर भगवान के सगुण रूप में आसक्ति प्रकट करती है लेकिन उद्धव को राधा का एक बार भी उलाहना सुनने के लिए नहीं मिलता। वह तो केवल 'माधव' 'माधव' ही रटती है तथा 'माधव' 'माधव' रटती हुई स्वयं तद्रूप हो जाती है। कालांतर में एक लम्बी अवधि के पश्चात वह कुरुक्षेत्र में अपने प्रियतम को देखती है लेकिन उसका बाल सखा उसके

नवयौवन का शृंगार और उसके एक ही चितवन पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाला कृष्ण अब मुरलीधारी, नंदनंदन और ब्रजराज न होकर द्वारकाधीश है तथा अपनी विशाल सेना, राजसी ठाटबाट और महारानी रुक्मिणी के साथ कुरुक्षेत्र की यात्रा कर रहा है परन्तु शान्त, गंभीर और स्वाभिमानिनी राधा वर्षों के दारुण वियोग के पश्चात् भी उनके सामने झुकने को तयार नहीं है फलतः कृष्ण स्वय रथ से उतर कर उसे लेने आते हैं और अत्यंत सम्मान के साथ अपने स्थान पर ले जाते हैं। इस अन्तिम मिलन में भी कृष्ण अनेक प्रकार की स्नेह पूर्ण बातें कर उसे यह समझाते हुए कि 'हम और तुम में कोई अंतर नहीं है' पुनः उस बेचारी को विरहानल में दग्ध होने के लिए ब्रज भेज देते हैं लेकिन प्रभु की एकान्त साधिका राधा कुछ भी नहीं कहती। वह तो विरह में ही वास्तविक मिलन का अनुभव करती है और जीवन में त्यागपूर्ण आदर्श अपनाती है।

इस प्रकार सूर की राधा हिन्दी साहित्य जगत को प्राप्त एक अमूल्य देन है और चूंकि उसके मानस में प्रेम की पुनीत धारा ही निरंतर प्रवाहित होती रहती है अतः उसे रीतिकालीन शृंगारी कवियों द्वारा चित्रित वासना-उच्छृंखल नायिकाओं की श्रेणी में रखना युक्तिसगत नहीं है। श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने उचित ही कहा है "सूरकाव्य में राधा के चरित्र का ऐसा आकर्षक और सरल ढाँचा प्रस्तुत किया गया कि बाद में वह कृष्णचरित्र का एक आवश्यक अंग माना जाने लगा। यहाँ तक कि ब्रजवल्लभ कृष्ण के चरित्र की पूर्णता राधा के विना असंभव ज्ञात होने लगी।" (सूर-निर्णय; पृ० ३३१)

प्रश्न २६—सूरसागर के आधार पर यशोदा और नन्द का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—जैसा कि श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल का कहना है "सूरदास ने नन्द-यशोदा का जैसा चित्रण किया है उससे दम्पति के स्वभाव की उदारता, सरलता और निरभिमानता प्रकट होती है। पूतना जैसी दुष्टा नारी का सत्कार करना और निस्संकोच भाव से अपने पुत्र को दे देना तथा अक्रूर के कुचक्र की छान-बीन किये बिना ही उसके साथ अपने

प्राणप्यारे पुत्रों को सदा के लिए भेज देना आदि बातें यशोदा और नन्द की निष्कपट सरल प्रकृति की परिचायक हैं।" (सूरनिर्णय; पृ० ३३३-३३४) यहाँ हम इन दोनों का चरित्र-चित्रण पृथक्-पृथक् कर रहे हैं।

यशोदा

जिस प्रकार राधा कृष्णप्रेम की साक्षात प्रतिमा हैं उसी प्रकार यशोदा का भी सम्पूर्ण व्यक्तित्व कृष्ण-स्नेह का प्रतीक है तथा उनके चरित्र में सूरदास ने मातृहृदय का अभूतपूर्व चित्र प्रस्तुत किया है और वे वात्सल्य रस में डूबी हुई सी हैं। मन, वचन और कर्म से यशोदा का बाह्याभ्यंतर उसके स्नेहशील सरल मातृत्व की ही सूचना देता है तथा सरलता और स्नेहशीलता उसके स्वभाव की दो प्रधान विशिष्टताएँ हैं। व्रज के सबसे अधिक सभ्रांत व्यक्ति की पत्नी होते हुए भी और कृष्ण जैसा पुत्र पाकर भी उसे किंचितमात्र गर्व नहीं होता तथा वह अपने सुख में व्रज के समस्त नर-नारियों को हर्षपूर्वक सम्मिलित करती है।

यशोदा कृष्ण की बाललीला में अपने अस्तित्व तक को भुला देती है और उसका प्रत्येक क्षण बालकृष्ण में ही केन्द्रित रहता है। वह उन्हीं के लिये उठती, बैठती, जागती तथा सोती है और वह ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं उसके आनन्द का कोई ठिकाना नहीं रहता। कृष्ण के अलौकिक रूप का भी परिचय उसे बार-बार मिलता है लेकिन वह तो उनके बालरूप पर इस तरह मुग्ध हो गई थी कि उसे अपने पुत्र के इन अलौकिक कृत्यों की याद ही नहीं रहती। वस्तुतः यशोदा सब प्रकार से एक सामान्य माता ही हैं और वे कृष्ण के प्रत्येक क्रियाकलाप से सुख पाती हैं तथा उन्हें कृष्ण की प्रत्येक वस्तु प्रिय हो जाती है। यही नहीं खान-पान के सम्बन्ध में भी वे अनेक सुझाव कृष्ण को देती हैं—

> कजरी को पय पियहु लला तेरी चोटी बढ़ै।
> सब लरिकन में सुन सुन्दर सुत तौ श्री अधिक चढ़ै॥
> जैसे देखि और व्रज बालक त्यों बल बेष बढ़ै।

यशोदा कभी भी किसी का अविश्वास नहीं करतीं कारण कि वह सरल-हृदया ही है और इसीलिए जब कपट रूप धारण कर पूतना आती है तब उसे भी बैठने के लिए पीढ़ा दे कुशल प्रश्न कर अपने निकट बुला लेती है।

पूतना कृष्ण को गोद में उठाकर स्तनपान कराने लगती है लेकिन वह कभी भी कपट की आशंका नहीं करती। कई ऐसे अवसर आते हैं जब कि कृष्ण का अतिलौकिक व्यक्तित्व झलक उठता है लेकिन चंचल और चतुर श्याम कभी अपनी बालसुलभ सरलता का अभिनय कर और कभी छल-चातुर्य की बातों मे उसकी आशंकाओं का समाधान कर देते हैं। साथ ही वे स्वयं इतने प्राकृत और मानवीय चरित्र करने लगते हैं कि सहसा यह विश्वास ही नहीं होता कि इन दुरूह कार्यों को उन्होंने ही किया होगा। इधर यशोदा स्वयं इतनी सरलमति और स्नेहशील है कि वे कृष्ण की स्वाभाविक बाललीलाएँ देखकर उनके क्षणभर पहले के अविश्वसनीय कृत्यों की दुरूहता भूल जाती हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सूरसागर के दशमस्कंध पूर्वार्द्ध के आरम्भ से लेकर कृष्ण के मथुरा-गमन तक की समस्त लीलाओं के पीछे यशोदा का व्यक्तित्व छिपा रहता है और बाहर चंचल किशोर एवं कौतुकप्रिय नायक कृष्ण लीलाएं करते तथा राधा और अन्य गोपिकाओं से प्रेम-प्रसंग चलाते हैं—लेकिन घर में एक मातृहृदया उन पर अपना सब कुछ न्यौछावर करने के लिए प्रस्तुत रहती है। जिस प्रकार अति प्राकृत कृत्यों के सम्बन्ध में यशोदा का सरल मातृत्व अक्षुण्ण रहता है उसी प्रकार कृष्ण की कैशोर लीलाओं को देख और सुन कर वह अपने वत्सल स्नेह को नहीं छोड़ती तथा उन्हें सर्वदा एक नन्हा सा बालक ही समझती है। माखन चोरी, चीर हरण, पनघट प्रस्ताव, दानलीला आदि से सम्बन्धित उपालम्भ यशोदा के पास आते हैं लेकिन वह गोपियों को ही दोष देती है और कृष्ण की निर्दोषता तथा अबोधता में कभी संदेह नहीं करती है। साथ ही उसका हृदय अत्यंत कोमल है तथा तनिक भी आशंका से वह व्याकुल हो उठती है और तनिक से सुख से फूली नहीं समाती। साथ ही उसमें बालकों की सी भाव-प्रवणता भी है और उनका हृदय अत्यंत संवेदनशील है। वह अपने पुत्र कृष्ण को ही अपना सर्वस्व समझती है तथा उनसे क्षणमात्र भी बिलग नहीं रहना चाहती। जिस समय उसे यह ज्ञात हुआ कि कृष्ण कालियदह में कूद पड़े हैं उस समय वह अत्यंत विकल होकर विक्षिप्तों की तरह व्यवहार करने लगी और इस क्षणिक वियोग में ही जब वह इतनी विह्वल हो गई तब कृष्ण के मथुरा-प्रवास के समय में तो उसकी दयनीय दशा की करना भी दुस्तर ही है इसीलिए कृष्ण के

मथुरागमन के अवसर पर उसका बहुत ही अधिक विलाप करना और वियोग-व्यथा में आत्महत्या तक का विचार करना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। इतना ही नहीं कृष्ण-स्नेह की प्रतिमूर्ति यशोदा की सबसे करुण स्थिति उस समय देख पड़ती है जब वह कृष्ण की धाय बन कर मधुपुरी में रहने की इच्छा करती है। साथ ही वह चाहती है कि देवकी उसके बालक कृष्ण की प्रकृति पहचान ले जिससे उसे कष्ट न होने पाए। इस प्रकार उसका स्नेह पुत्र की शुभाकांक्षा भर में निहित रह जाता है तथा उसमें उसका अपना निजी स्वार्थ नहीं रहता। अतः यह कहा जा सकता है कि सूर ने यशोदा के चरित्र में स्नेहशील, त्यागमयी, सरल प्रकृति माता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है।

नंद

चूँकि गोकुल के अन्य महरों को उपनंद कहा गया है अतः इससे भास होता है कि नंद कोई पदवी है लेकिन कवि ने 'नंद' एक नाम के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। नंद गोकुल के सबसे अधिक संभ्रांत, सम्पन्न महर तथा वहाँ के निवासी अहीरों के नायक हैं और सभी गोप उनकी राय का सम्मान करते हैं। इन्हीं नंद को कृष्ण जैसे पुत्र का पिता कहलाने का सम्मान प्राप्त हुआ और इससे उनकी प्रतिष्ठा तथा ख्याति में तो वृद्धि हुई ही लेकिन आए दिन संकटों का सामना भी करना पड़ा।

स्मरण रहे सूर ने नंद के चरित्र-चित्रण की ओर विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया तथा यशोदा के चरित्र-चित्रण में ही एक प्रकार से नंद का भी चरित्र-चित्रण हो जाता है और दोनों में एक ही प्रकार के वात्सल्य भाव का विकास भी हुआ है लेकिन जिस प्रकार उन दोनों की प्रकृति में नैसर्गिक भेद है उसी प्रकार उनके चरित्र में भी भेद हो गया है। माता यशोदा नारी होने के कारण कुछ अधिक भावुक है तथा उनकी वियोग वेदना उनके शब्दों और चेष्टाओं में सहज ही व्यक्त हो जाती है लेकिन नंद पिता और पुरुष हैं इसलिए वे कृष्ण के वियोग के समय भी कुछ कठोर बने रहते हैं। स्वयं यशोदा भी यह नहीं समझ पातीं कि उनके हृदय में उतनी ही तीव्र वेदना है जितनी स्वयं उसके हृदय में इतना होते हुए भी जिस प्रकार यशोदा

प्रत्येक स्थिति और अवस्था में कृष्ण की स्नेहशील माता के रूप मे दिखाई देती हैं उसी प्रकार नंद प्रत्येक अवस्था में कृष्ण के स्नेही पिता के ही रूप मे सामने आते हैं तथा गोकुल के ग्रामीणों की जैसी सरलता यशोदा के चरित्र में मिलती है उसी का पर्याप्त प्रस्फुटन नंद के चरित्र में भी हुआ है। पुत्र-जन्म के अवसर पर उनका हर्षोल्लास स्वाभाविक ही प्रतीत होता है तथा यशोदा की भाँति चाहे उन्हें कृष्ण के साहचर्य का उतना अधिक अवसर न मिल पाता हो लेकिन जब भी वे कृष्ण का सान्निध्य सुख पाते हैं उनके हर्ष-सुख अनायास उनके मुख पर झलक उठते हैं और उनकी यह भावना वाणी एवं कर्म से प्रकट हो उठती है। कई ऐसे प्रसग आते हैं जब कृष्ण अपने चातुर्य और चमत्कार द्वारा सरल स्वभाव नंद को चकित-विस्मित कर देते है लेकिन कृष्ण के अति प्राकृत व्यक्तित्व की उन्हें इतनी सरलता से प्रतीत नहीं होती। कालियदह की घटना में भी नंद यशोदा की भाँति अत्यंत व्याकुल हो उठते है। कृष्ण के मथुरागमन के समय अपने सरल स्वभाव के कारण उन्हें तनिक भी आशंका नहीं होती लेकिन कंसवध के पश्चात जब कृष्ण उनके साथ नहीं लौटते तब वे अत्यंत विह्वल हो जाते हैं और व्रज लौट कर यशोदा के लाछनों को सुन आत्मग्लानि का भी अनुभव करते हैं लेकिन वे यशोदा पर भी यह आरोप लगाते है कि वही उन्हें खूब मारा करती थी और उसी ने उन्हे जाते समय क्यों नहीं रोक लिया। यशोदा और नंद का यह कलह उनके सरल स्वभाव एवं स्नेहशील हृदय का ही द्योतक है। इसके बाद हमे नंद की वियोगदशा के कोई स्पष्ट चिह्न नहीं मिलते और यद्यपि उनका दुःख यशोदा, गोपियो एवं अन्य व्रजवासियों के दुःख से अधिक दुसह हो जाता है लेकिन वे अत्यंत गरिमा से उसे सहन कर लेते हैं। संभवतः कवि उनकी धीर प्रकृति और गंभीरता को कभी भी हाथ से नहीं जाने देना चाहता और इसीलिये उसने नंद को हमेशा इसी रूप में अंकित किया है।

प्रश्न २७—भ्रमरगीत काव्य-परम्परा का उल्लेख करते हुए सूर के भ्रमरगीत का समीक्षात्मक मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर—'भ्रमरगीत' से हमारा अभिप्राय प्रायः उस मुक्तक गेय पदावली से रहता है जिसमें भ्रमर को सम्बोधित करते हुए गोपियों ने कृष्ण और उद्धव के प्रति मति एव तिक्त वचनो की की है यहाँ

हमें यह स्मरण रहना चाहिए कि ब्रजभूमि में गोपियों के निकट भ्रमर का आगमन उस समय होता है जब वे उद्धव की अनिवादी ज्ञानवृत्ति से असंतुष्ट हो उन्हें अपनी अनुरागमूलक प्रेम भावना से अवगत कराने का प्रयास कर रही थीं लेकिन वे किसी असम्बद्ध व्यक्ति की भाँति अधिक ध्यान न देकर प्रनय के वशीभूत जीव-सदृश्य विरक्तिमूलक ज्ञान-योग के प्रतिपादन का प्रयास कर रहे थे। भ्रमर के यथाक्रमर आने से गोपियों को विषयान्तर द्वारा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने का माध्यम प्राप्त हो गया और उन्होंने उसे सम्बोधित करते हुए नाम भेद से ही उद्धव के प्रति अनेक तीक्ष्ण-व्यंग्य वचनों का प्रयोग कर उन्हें स्पष्टतः निरुत्तर कर दिया।

भ्रमरगीत प्रसंग के सर्वप्रथम दर्शन हमें श्रीमद्भागवत में ही होते हैं और उसमें उक्त कथानक 'अध्याय द्वै' के नाम से प्रसिद्ध है। भागवत के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के सैंतालिसवें अध्याय में यह प्रसंग अत्यंत संक्षेप में दिया गया है और उसके अनुसार कंसवध के कुछ समय बाद कृष्ण का गर्गाचार्य जी के यहाँ उपनयन हुआ तथा इसके बाद वे दोनों भाई विद्याभ्यास के लिए उज्जैन में सांदीपन नामक ब्राह्मण पंडित के यहाँ गए। वहाँ से लौटने पर उन्होंने अपने मित्र उद्धव को बुलाया और उन्हें विरह से संतप्त माता-पिता तथा गोप-गोपियों को आश्वासन देने और कुशलक्षेम के लिए गोकुल भेजा। अपने सखा कृष्ण का संदेश लेकर उद्धव सायंकाल ब्रज पहुँचे जहाँ कि नंद ने उनका स्वागत किया और वसुदेव देवकी का कुशल समाचार पूछते हुए कृष्ण वियोग का अपना दुःख प्रकट किया। दूसरे दिन प्रातः नंद के द्वार पर रथ खड़ा देख सब गोप गोपियों को कृष्ण के ब्रज लौटने की संभावना हुई लेकिन उसी बीच उद्धव यमुना से स्नानकर लौट रहे थे अतः वे उनका कृष्णवेश देखकर आश्चर्य चकित हो गईं। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि ये उनके प्रियतम कृष्ण के सखा हैं तथा उन्हीं का संदेश लेकर आए हैं तब उन्होंने उनका सत्कार किया और एक स्थान पर बिठाकर उनसे कुशलक्षेम पूछी। साथ ही वे कृष्ण की निठुरता पर ताने मारने लगीं और कुछ देर बाद फिर वे उन्हीं के ध्यान में मग्न हो गईं। इसी समय एक भ्रमर उड़ता हुआ वहाँ गुनगुनाने लगा। चूँकि कृष्ण, उद्धव और उस भ्रमर का एक सा ही रंग था अतः गोपियाँ उस भ्रमर को भी कृष्ण का दूत समझ झट कृष्ण और उस पर

उपालम्भों की बौछार करने लगी। साथ ही अपनी मानसिक व्यथा को प्रकट कर उस भ्रमर दूत से इस विरह-दशा के संदेश को कृष्ण के पास ले जाने की प्रार्थना भी करने लगीं। गोपियों की इस विरह-दशा को देख उद्धव का हृदय भी द्रवित हो उठा और वे उन्हें कृष्ण का संदेशा सुनाने लगे। उन्होंने कहा कि कृष्ण का कहना है कि "मेरा वियोग तुमसे कभी भी नहीं हो सकता—मैं देह-धारियों की आत्मा होने के कारण सर्वदा तुम्हारे पास ही रहता हूँ। जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि पाँचों महातत्व सब तत्वों में अवस्थित है वैसे ही मैं मन, प्राण, बुद्धि, इंद्रिय और गुणों का आश्रय स्वरूप हूँ। मैं पंचतत्व इंद्रिय और त्रिगुण स्वरूपिणी अपनी माया के प्रभाव से अपने ही द्वारा अपने को अपने में उत्पन्न करता, पालता और लीन करता हूँ। आत्मा शुद्ध है और माया से भिन्न है अतः जिस प्रकार सोते से उठा हुआ व्यक्ति मिथ्या स्वप्न का चिन्तन करता है उसी प्रकार इंद्रियों के विषय-चिन्तन से इंद्रियों की उपलब्धि ही होती है। अतः मन का दमन करना ही परम कर्तव्य है। इस प्रकार तुम सब वासनाओं से शून्य होकर शुद्ध मन को मुझ में लगा कर मेरा निरंतर ध्यान करने से शीघ्र ही मुझे पा जाओगी।" इस तरह उद्धव के मुख से भगवान का यह संदेश सुन कर गोपियों को शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ और उनका विरह शान्त हो गया। उद्धव ने कई महीने ब्रज में निवास किया और गोपियों के कृष्णप्रेम को देख कर मन ही मन उन्हें प्रणाम कर उन्होंने कहा "भगवद्-भक्त कोई भी जाति का हो वह सर्वोत्तम और पूजनीय है। कहाँ व्यभिचारी दोष से पूर्ण ग्रामीण ब्रज-बालाएँ और कहाँ श्रीकृष्ण! अज्ञ व्यक्ति भी यदि ईश्वर भजन करे तो उसका कल्याण ही होता है।" उद्धव जब मथुरा जाने लगे उस समय भी गोपियों ने कृष्ण के लिए यही संदेश भेजा कि "हम यही चाहती हैं कि हमारा मन सब प्रकार से कृष्ण के चरणारविन्दों में लगा रहे।........" तत्पश्चात उद्धव कृष्ण के पास पहुँचे और नंद के दिए हुए उपहार कृष्ण, बलराम तथा राजा उग्रसेन को दिए। श्रीमद्भागवत के भ्रमरगीत और उद्धव-गोपियों के प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें ज्ञान की महिमा ही दिखाई गई है तथा काव्य की दृष्टि से भी उसमें कोई खास विशेषता नहीं है। सम्पूर्ण प्रसंग क ही है और उसमे कहीं भी सरसता नही है

भागवत के भ्रमरगीत विषयक प्रसंग को सर्वप्रथम सूर ने ही मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है और यद्यपि उन्होंने श्रीमद्भागवत् को आधार ग्रंथ के रूप में स्वीकृत अवश्य किया है लेकिन कथा-क्रम के संयोजन में नवीन उद्भावनाएँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने आधारभूत कृति के प्रतिपाद्य का स्वतंत्र दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है तथा भागवत से सहायता लेते हुए भी काव्य की रसात्मकता का व्यापक स्तर पर संयोजन करने के हेतु मूल कथा में यत्र-तत्र संशोधन भी उपस्थित किया है। वस्तुत सूर ने तीन भ्रमरगीत लिखे हैं, जिनमें से एक भागवत का अनुवाद है और दो मौलिक। जो भ्रमरगीत भागवत का अनुवाद है वह चौपाई छंद में है तथा उसमें ज्ञान-वैराग्य की ही विशेष चर्चा है लेकिन भागवत के विपरीत उसमें भी अंत में भक्ति की ही विजय होती है अतः उसे हम भागवत का अविकल अनुवाद नहीं कह सकते। अन्य दो भ्रमरगीत पदों में हैं जिनमे से एक में उद्धव का गोपियों को उपदेश, गोपियों का उद्धव को उपालम्भ और उद्धव का कृष्ण के पास लौट कर गोपियों की विरहावस्था का वर्णन तथा श्रीकृष्ण का मूर्च्छित हो जाना आदि सब कुछ केवल एक ही छंद में कह दिया गया है। उपर्युक्त दोनों भ्रमरगीतों में भ्रमर के आने और गुंजन करने का वर्णन नहीं है तथा केवल मधुकर नाम से उद्धव को ही उपालम्भ दे दिया गया है। इस प्रकार तीसरा भ्रमरगीत ही उल्लेखनीय है और उसमें कई सौ पद भी हैं तथा भ्रमर के आने और गोपियों के उसके बहाने कृष्ण एवं उद्धव को विस्तारपूर्वक उपालम्भ देने का वर्णन किया गया है।

सूरदास की भाँति ही तुलसी ने भी भ्रमराख्यान विषयक कतिपय पदों की रचना की है लेकिन कृष्ण-काव्य का सृजन करते समय भी उन्होंने मर्यादा भाव को विशेष महत्व दिया है और गोपियों के चरित्र में चांचल्य के स्थान पर सहज भावमय परिस्थितियों की उद्भावना की है। तुलसी के पश्चात यद्यपि काल क्रम की दृष्टि से नंददास के भ्रमरगीत की गणना की जाती है लेकिन काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से कृष्ण-काव्य की परम्परा में उसका महत्वपूर्ण स्थान है और उसकी तुलना सूर के भ्रमरगीत से भी की जाती है। सूर की गोपियाँ अपनी विरह दशा तथा कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रकट

करके ज्ञान और योगमार्गी उद्धव को प्रेमभक्ति की ओर आकृष्ट करती हैं लेकिन नंददास के भँवरगीत में गोपियाँ अपने तर्कपूर्ण विवाद से उद्धव को हराती हैं। डॉ० दीनदयालु गुप्त के शब्दों में "सूरदास के पदवाले भँवरगीत में हृदय-पक्ष प्रधान है और नन्ददास के भँवरगीत में बुद्धि-पक्ष। ......सूरदास का भँवरगीत मुक्तक शैली में रचा गया है। इसीसे उसमें कथा-प्रसंगों की पुनरुक्ति है। नन्ददास का भँवरगीत एक प्रबन्ध के रूप में है—इसलिए उसमें पुनरुक्तियाँ नहीं हैं।" (**अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डॉ० दीनदयालु गुप्त; पृ० ८५६**) भक्तिकालीन अन्य कवियों में रहीम ने भी भ्रमराख्यान-सम्बन्धी कथानक को वर्ण्य-विषय के रूप में अपनाया है और उनका भ्रमरगीत बरवै छंदों मे है तथा उसमें गोपियों की विरह-व्यथा का अत्यन्त व्यापक आधार पर चित्रण किया गया है। रीतिकाल में मतिराम, देव, पद्माकर, ग्वाल और घनानन्द ने भी स्फुट छन्दों में इस प्रसंग का वर्णन किया है परन्तु उनमें योजनाबद्ध कथा का अभाव सा है। गोपियों के व्यंग्यपूर्ण उद्‌गारों और उपालम्भो के वर्णन में ही इन कवियों की मनोवृत्ति रमी है। रीतिकाल में बरकत उल्ला 'पेमी' ने भी भ्रमरगीत के कथानक को ही अपनी काव्य-कृति 'पेम प्रकाश' मे प्रस्तुत किया है और इसमें गोपियाँ पार्थिव तथा आध्यात्मिक दोनो ही प्रकार की विचार-धाराएँ अभिव्यक्ति करती हैं। मूलतः निर्गुण और सगुण के मतिवाद का परित्याग कर शांत मन से की गई भक्ति में ही विश्वास रखते हुए भी कवि ने इस प्रसंग में निर्गुण की अपेक्षा सगुण का ही महत्व विशेष रूप से माना है। आधुनिक काल में भारतेन्दु जी ने भ्रमरगीत सम्बन्धी पद पर्याप्त संख्या में लिखे हैं और उनकी गोपियाँ अध्येता के समक्ष नारी-जीवन की यथार्थ प्रतिकृति उपस्थित कर देती हैं लेकिन किसी विशेष क्रम का पालन न करने से इन पदों में कथा-सौन्दर्य का आनन्द नहीं आता। भारतेन्दुयुगीन कवियों में पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी भ्रमरगीत-सम्बन्धी कतिपय पद लिखे है जिनमें कि कृष्ण के प्रति उनकी अतिशय प्रेम-विह्वलता ही अंकित की गई है। इसी प्रकार 'हरिऔध' जी के 'प्रियप्रवास' में भी इस प्रसंग का चित्रण किया गया है परन्तु कवि ने उसमें स्वतंत्र मौलिक उद्‌भावनाएँ ही की हैं और सर्वप्रथम इसी ने उद्धव के

के अनन्तर उनके वार्तालाप का क्रम क्रमशः यशोदा गोपजनो और

गोपांगनाओं से रखा है। प्रियप्रवास की गोपियाँ कृष्ण की आत्मा को अपनी आत्मा से अनिवार्यतः संयुक्त मानती हैं। भ्रमरगीत परम्परा में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की 'उद्धवशतक' का विशिष्टतम स्थान है कारण कि सर्वप्रथम उन्होंने ही गोपियों की प्रिय पार्थक्यजनित वेदना का चित्रण करने के साथ-साथ कृष्ण की विरह-दशा का भी विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने उद्धव को भी तर्कशील अवस्था का चित्रण किया है और उनके हृदय पर वातावरण की संवेदनशीलता का प्रभाव भी दिखाया है। उद्धवशतक में भी भ्रमर का प्रवेश कराए बिना कवि ने गोपियों का कथन प्रारंभ कर दिया है। सुकवि मैथिलीशरण गुप्त ने तो अपनी काव्यकृति 'द्वापर' में शैली और भावना दोनों में ही परिवर्तन कर भ्रमरगीत परम्परा को एक नया मोड़ प्रदान किया है। इसी प्रकार पं० सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमरदूत' भी सर्वथा अभिनव प्रयास है और उसमें भ्रमर को कृष्ण के प्रति यशोदा के दूत के रूप में प्रस्तुत कर युगीन प्रभाव के फलस्वरूप नारी-शिक्षा एवं देश-प्रेम आदि की आवश्यकताओं पर बल देते हुए राष्ट्रीय भावधारा का ही चित्रण किया गया है। डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' तथा अन्य कई वर्तमानकालीन व्रजभाषा कवियों ने भी उद्धव और गोपियों के मनोरम सम्वाद की अवतारणा करते हुए इस परम्परागत विषय को नूतन अभिव्यक्ति प्रदान की है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि मूलतः श्रीमद्भागवत पर आधारित होते हुए भी हिंदी में भ्रमरगीत काव्य-परम्परा का विकास सूरदास के भ्रमरगीत के अनुसार ही हुआ है और इस प्रसंग को मौलिक रीति से ग्रहण करते हुए भी सहायता के लिए प्रायः प्रत्येक कवि ने सूर की ही ओर देखा है क्योंकि सूर ने इस प्रसंग में जिस काव्यत्व और माधुर्य का संचार किया है वह इन सबके लिए सर्वथा अपरिहार्य था। अब हम यहाँ सूरदास के भ्रमरगीत की विशिष्टताओं पर प्रकाश डालेंगे।

जैसा कि श्री सुरेशचन्द्र गुप्त का कथन है "भ्रमरगीत से सम्बंधित इस सम्पूर्ण प्रकरण की परिधि का क्षेत्र-निर्धारण करते समय सूर ने श्रीमद्भागवत के तद्विषयक आख्यान को पृष्ठाधार के रूप में ग्रहण किया है और अपनी चिन्तन-समन्वित अनुभूति को केन्द्र में प्रतिष्ठित करते हुए अनेक नवीन तत्त्वों और घटनाओं की स्थापना की है। उन्होंने पूर्वकालीन परम्परागत विषय

वस्तु में परिष्कार करने के अनन्तर भाव-संयोजन और शिल्प-विधान दोनों ही की दृष्टि से अपनी कृति में अनेक मौलिक विधाओं का समावेश किया है।' (काव्य विवेचन : प्रो० सुरेशचंद्र गुप्त : पृ० ५१) इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर का भ्रमरगीत भागवत पर आधारित होते हुए भी मौलिक ही है। स्मरण रहे भागवत में उद्धव द्वारा गोपियों को कृष्ण की कोई भी चिट्ठी-पत्री नहीं मिलती लेकिन सूर के भ्रमरगीत में उद्धव कृष्ण का पत्र गोपियों के लिए लाते हैं। इतना ही नहीं उन्होंने उद्धव का स्वरूप ही बदल दिया है और वे उसे श्रीमद्भागवत की भाँति साधारण संदेशवाहक नहीं मानते बल्कि निर्गुणोपासना की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के लिए ही उसे माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं। वस्तुत: सूर के भ्रमरगीत में श्रीकृष्ण ने उद्धव के ज्ञानगर्व को दूर करने के लिए ही गोकुल भेजा था और गोपियों ने उन्हें अपने प्रियतम के दूत के रूप में ही स्वीकार किया है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में उद्धव को गोपियों का व्यंग्यपात्र नहीं बनाया गया और कृष्ण का संदेश सुनते ही गोपियाँ आत्मज्ञान प्राप्त कर लेती हैं तथा अंत में भागवतकार भक्ति का आग्रह करते हुए भी ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य उपस्थित करता है लेकिन सूर का तो लक्ष्य ही भिन्न था। वे तो निर्गुण की अपेक्षा सगुणोपासना को ही श्रेष्ठ मानते थे तथा अपने इसी मंतव्य का प्रतिपादन उन्होंने भ्रमरगीत में किया है। इसीलिए उनकी गोपियों के सामने उद्धव तर्क नहीं करते और अंत में स्वयं भी भक्तिरस से पूर्ण हो जाते हैं। साथ ही श्रीमद्भागवत के भ्रमरगीत में काव्यात्मकता का अभाव सा है लेकिन सूर का भ्रमरगीत तो काव्यगत विशिष्टताओं से पूर्ण है।

जैसा कि लाला भगवानदीन का मत है "सूरदास जी सगुणोपासक थे भ्रमरगीत के द्वारा उन्होंने निर्गुण-सगुण का ही बड़ा विशद विवेचन किया है। जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी ने चातक-चौंतीसी द्वारा साकार उपासना की, प्रेम और भक्ति की महत्ता दिखलाई है, वैसे ही सूरदास जी ने भी भ्रमरगीत में बड़े ही युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन किया है। भ्रमरगीत के लिखने में सूर का मुख्य उद्देश्य यही जान पड़ता है।" (सूर पंचरत्न—अंतर्दर्शन : पृ० १३५-१३६) स्मरण रहे

में भक्ति की महिमा अवश्य अंकित की गई है लेकिन ज्ञान के

विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा गया और भ्रमरगीत प्रकरण में भी गोपियों की भक्ति की रक्षा करते हुए भी ज्ञान की ही विजय दिखाई गई है और हम देखते हैं कि गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-संदेश से संतुष्ट हो श्रीकृष्ण के निर्गुण रूप पर आस्था रखने लगतीं हैं लेकिन सूरदास के सम्पूर्ण भ्रमरगीत की धारा सगुणोपासना की ओर ही प्रवाहित हो रही है तथा गोपियाँ कहीं तो "कौन काज निर्गुण सों चिरजीवहु कान्ह हमारे" कहती पाई जाती हैं और कहीं वे 'सूरदास या निर्गुण सिंधु हित कौन सकै अवगाहि" सदृश्य उद्‌गार प्रकट करती है। वस्तुतः सूर के समय में ज्ञान और भक्ति के उत्कर्ष पर विवाद चल रहा था तथा वल्लभाचार्य ने स्वयं ही सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा के लिए शास्त्रार्थ किए थे और मध्ययुग के संतसाधक ज्ञान को एक मात्र साधना बता चुके थे अतः भक्त साधकों को—जो कि उनके परवर्ती थे—भक्ति को ही एक मात्र साधना सिद्ध करने के हेतु ज्ञान को अनुपादेय और कष्ट साध्य बताना पड़ा। भ्रमरगीत के प्रसंग का अवलोकन कर यह अनुमान न कर लेना चाहिए कि सूरदास आदि सगुणसाधक निर्गुण ब्रह्म को सर्वथा महत्वहीन समझते थे कारण कि कई ऐसे स्थल हैं जहाँ सूर ने 'अविगत' एवं 'अव्यक्त' का भी महत्व माना है लेकिन उन्हे भक्ति का मार्ग ज्ञानमार्ग की अपेक्षा सहज होने के कारण अधिक प्रिय था अतः स्वाभाविक ही उन्होंने उसे अधिक महत्व दिया है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में "ज्ञान की कथनी वाले संतों की बानी में न साहित्य के प्राण है न शरीर। यदि कोई कहे कि साहित्य न सही, जीवन को तो इन संतो ने प्रभावित किया, तो इसका सीधा उत्तर यह है कि पूरे जीवन को नहीं जीवन के अंग या अंगमात्र को ही निर्गुण की खंजड़ी मुग्ध कर सकी। निर्गुण धारा निवृत्तिमुखी थी। पर भारतीय साहित्य निवृत्तिमुखी कभी नहीं रहा; शांत को रस मानकर भी नहीं। भक्ति प्रवृत्तिमार्गी है, प्रवृत्ति-लक्षण है यह बहुत पहले आरंभ में ही घोषित कर दिया गया था—'प्रवृत्ति लक्षणश्चै धर्मो नारायणात्मकः।" (भ्रमरगीतसार-सं० आ० रामचन्द्र शुक्ल, आमुख, छ) स्वयं वल्लभाचार्य जी ने भी अणुभाष्य में ज्ञान के ऊपर भक्ति की महिमा प्रतिपादित की है। सूर की दृष्टि में ज्ञान न तो ईश्वर-प्राप्ति का प्रधान साधन है और न भक्ति के साथ ज्ञान का मिश्रण हुए बिना मनुष्य मुक्ति ही प्राप्त कर सकता है साथ ही भक्ति हृदय का साधन है ज्ञान मस्तिष्क

का; अतः भक्त हृदय स्वाभाविक ही भक्ति पर आकृष्ट हो, ज्ञान को उपलम्भ देने लगता है। इसीलिए सूरदास ने गोपियों द्वारा ज्ञान की असार्थकता स्पष्ट कर उसकी हँसी उड़ाने की चेष्टा की। उद्धव ज्ञानयोग के प्रतीक है अतः भगवान कृष्ण उनके ज्ञान का गर्व दूर करने के लिए उन्हें गोपियों के पास भेज देते हैं परन्तु गोपियों पर उनका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। व उनकी उक्तियों को नीरस कहती हैं और रसपूर्ण भक्ति के स्थान पर रसहीन योग और ज्ञान को उपयुक्त नहीं समझतीं। गोपियाँ बड़े आग्रह के साथ पूछती हैं कि तुम हमको निर्गुण ज्ञान सिखाने तो आए हो परन्तु उसका परिचय भी तो बताओ। आखिर वह निर्गुण ईश्वर कौन है; कहाँ का रहने वाला है; क्या करता है कारणकि बिना परिचय के हम उसे कैसे पहिचान सकती है। भक्ति-मार्ग ईश्वर तक पहुँचने के लिए एक सीधा सुगम पथ है और यह एक ऐसा राजमार्ग है जिसमें पथिकों को सभी प्रकार की सुविधाएँ सुलभ है; इसलिए गोपियाँ कहती हैं कि हमें तो अपना सीधा राजमार्ग ही प्रिय लगता है और हम प्रेम के द्वारा ही ईश्वर तक पहुँचना चाहती है लेकिन तुम्हे यदि निर्गुण की उपासना ही रुचती है तो तुम इसके लिए स्वतंत्र हो ! हम तो तुम्हें रोकती नहीं हैं अतः तुम इस निर्गुण का पचड़ा लेकर हमारे मार्ग मे बाधक क्यों हो रहे हो। वस्तुतः भक्त अपनी समस्त इन्द्रियासक्तियों को भगवान के चरणों मे अर्पित करने के लिए प्रस्तुत रहता है तथा उसका यह दृढ़ विश्वास है कि इस आत्मसमर्पण द्वारा वह उन्हें सरलता से पा सकता है। स्मरण रहे श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि अव्यक्त, निर्गुण, अक्षर ब्रह्म मे आसक्त चित्तवाले पुरुषो के लिए साधन मार्ग में क्लेश विशेष हैं कारण कि देहाभिमानियों से अव्यक्तगति दुःख से प्राप्त की जाती है और जो मेरे में मन को लगाकर तथा निरन्तर परम श्रद्धा से मेरे भजन में लग कर मेरी उपासना करते हैं वे योगियों में अत्यंत श्रेष्ठ योगी है, वे भक्त मुझको ही प्राप्त करते हैं। इसीलिए गोपियाँ भी उद्धव से ज्ञान और योग की उलझी हुई बातें नही सुनना चाहतीं तथा वे अपने आपको योगी की मुद्रा में ही समझती हैं—

ऊधो करि रहीं हम योग।
कहा एतो बाद ठानें बसि गैपी मोग

शीश शैली, केश मुद्रा कनक बीरी बीर ।
बिरह भस्म चढ़ाइ बैठी सहज कथा चीर ।।
हृदय सींगी, टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ ।
चाहते हरि दरश भिक्षा दई दीनानाथ ।।
योग की गति युक्ति हम पै सूर देखो जोय ।
कहत हमको करन योग सो योग कैसे होय ।।

अंत में गोपियों की इस तन्मयता को देख स्वयं उद्धव भी उन्हीं के रंग में रंग जाते हैं और इस प्रकार वे भी ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ मानने लगते हैं। इतना ही नहीं स्वयं कृष्ण भी गोपियों की तन्मयतासक्ति की दशा का वर्णन सुन प्रेमाश्रु बहाने लगते हैं।

भ्रमरगीत का केवल दार्शनिक और भक्तिपरक महत्व ही नहीं है बल्कि वह काव्यगत विशिष्टताओं से भी पूर्ण है और रस, अलंकार तथा व्यंजना की दृष्टि से वह सूरसागर का उत्कृष्टतम अंश कहा जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने कहा भी है "सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है जिसमें गोपियों की वचनवक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालम्भ काव्य और कहीं नहीं मिलता।" (हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल; पृ० १७२) इसी प्रकार डॉ० मुंशीराम शर्मा ने भी लिखा है "भ्रमरगीत सूर की सर्वोत्कृष्ट रचना है जिसमें विप्रलंभ शृंगार तथा सगुण भक्ति का प्रतिपादन व्यंग्यमयी, भावभरित, मार्मिक शैली में किया गया है। + + + + + + वियोग में जिन मानसिक दशाओं का होना संभव है तथा आचार्यों ने जिनका वर्णन किया है उन सबका तीव्रता एवं मर्मस्पर्शिता के साथ सूरसागर में चित्रण हुआ है। सूर की अन्तर्दृष्टि इस क्षेत्र में बड़ी गहरी और दूर तक पहुँची है। उसमें विस्तार और गंभीरता दोनों दिखलाई देते हैं। जिस चमत्कारमयी ऊहात्मक शैली में गंग, बिहारी, मतिराम, देव आदि ने वियोग ताप में भूनकर कमल के पत्तों को पापड़, शैवाल को भस्म, उशीर को दहकते अंगार और संताप को मांस सेंकने की भट्टी बना दिया है वह सूरसागर में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। सूर ने सर्वत्र अपनी व्यंजनाप्रधान चित्रमयी शैली में अन्तर्हृदय का उद्घाटन किया है।" (सूर सौरभ : डॉ० मुंशीराम शर्मा पृ० ५४८-५४९) वस्तुतः रस की दृष्टि से भ्रमरगीत विप्रलंभ

श्रृंगार के अंतर्गत ही आता है और वियोग की इसी घनीभूत चेतना को अंकित करते समय सूर ने स्पष्टतः मनोविज्ञान का आधार लिया है तथा उसी के अनुकूल प्रिया और प्रियतम दोनों ही की विरहजनित मानसिक दशा का उल्लेख करने का प्रयास किया है। स्मरण रहे वे केवल प्रेमिका की विरह-दशा का उल्लेख करने की परम्परागत प्रणाली के विरोधी थे और इसीलिए भ्रमरगीत के प्रारंभिक पदों में नायक कृष्ण की वियोग-जन्य आंतरिक भावनाओं का चित्रण कर अपनी इसी समन्वयवादी भावना का उन्होंने परिचय दिया है। वे कृष्ण को देवत्व के साथ-साथ मानवीय दुर्बलताओं से भी सन्निविष्ट मानते हैं और गोपियों के विरह में उन्हें भी अश्रु बहाते हुए अंकित करते हैं। गोपियों की विरहावस्था का चित्रण करते समय कवि ने उसमें आर्द्रता, गंभीरता तथा प्रभावोत्पादन के तत्त्वों का कहीं अधिक निकट से सगुम्फन किया है। वस्तुतः गोपियों की यह भावना विरह-संकुल होने के कारण अपने आप में ही इतनी अधिक मर्मस्पर्शी हो गई है कि प्रत्येक सहृदय उनके प्रति रागात्मक सम्बंध की अनुभूति करने लगता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि विरह की भावनात्मक सत्ता की यथार्थ अभिव्यक्ति में जैसी सफलता सूर को मिली है, वैसी बहुत कम कवियों को प्राप्त हो सकी है। आचार्यों ने विरह की एकादश अवस्थाएँ मानी हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण तथा हम देखते हैं कि इनमें से प्रत्येक अवस्था का चित्रण उनके भ्रमरगीत के अनेक पदों में मिलता है और प्रत्येक अवस्था को अत्यंत उत्कृष्ट एवं स्वाभाविक रूप में चित्रित किया गया है। साथ ही विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत जितनी भी मनोभावनाएँ हो सकती थीं सूर ने उन सभी का वर्णन किया है तथा मनोवैज्ञानिकता के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य कर अपनी कृति में स्वाभाविकता ला दी है। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में "स्वाभाविकता और सजीवता से ओतप्रोत सूर का यह काव्य विरहिणी गोपियों के मानस का स्वच्छ प्रतिबिम्ब है जिसमें भावनाओं की लहरियाँ और व्यापारों की सक्रियता का तारतम्य सर्वत्र परिलक्षित होता है।" (**सूर और उनका साहित्य; पृ० २६२**) स्मरण रहे सम्पूर्ण भ्रमरगीत वियोगभावना से इस प्रकार व्याप्त है कि गोपियों का विरह अनंत काल तक चलता हुआ प्रतीत

होता है और वे विरह तन्मयासक्ति की अन्यतम अवस्था तक पहुँच जाती हैं जिससे कि उनका दुःख अलौकिक जान पड़ता है अतः इस तरह पार्थिव में अपार्थिव की व्यंजना करने में भी सूर पूर्ण सफल जान पड़ते हैं । भ्रमरगीत में केवल ब्रजबालाएं ही नहीं ग्वाल-बाल नंद और यशोदा भी विरहाकुल माने गये हैं अतः कवि ने विरह के अन्तर्गत सखा-भाव और वात्सल्यभावना का भी चित्रण किया है लेकिन अंततोगत्वा वह सभी को तन्मयासक्ति की उच्च दशा पर पहुँचा हुआ मानता है । इतना ही नहीं कृष्ण के वियोग में ब्रज की प्रकृति, पशु-पक्षी, जड़चेतन सभी विरह का अनुभव करते हैं अतः हम कह सकते हैं कि भ्रमरगीतकार ने इस तत्व के सम्पादन को काव्य के लिए आवश्यक मानते हुए अपनी कृति में उसके लिए पर्याप्त अवसर प्रदान किया है और इस प्रकार रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से उसका महत्व निर्विवाद रूप से स्वीकार करना चाहिए ।

साथ ही भाषा-शैली की दृष्टि से भी भ्रमरगीत का अपना निजी महत्व है। सूरदास ने मूल संस्कृत पदावली और उससे उद्भूत जन भाषा की शब्दावली में उचित सामंजस्य स्थापित करते हुए अपनी भाषा को अत्यन्त सहज और आकर्षक रूप प्रदान किया है तथा तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग करने से भाषा में अनूठी मधुरता सी आ गई है । नफा, लायक, दगा, सरकार और दर्जी जैसे विदेशी शब्दों का प्रयोग भी उनके भ्रमरगीत मे हुआ है लेकिन इससे भाषा की एकरूपता नष्ट नहीं हुई । शब्दयोजना पर तो कवि ने विशेष ध्यान दिया है तथा प्रसंगानुकूल भाषा ही उसने लिखी है और भाषा में प्रवाह है तथा माधुर्य एवं प्रसाद गुणों की ही विशेष रूप से अधिकता है ।

चूँकि भाव प्रतिपादन की पूर्णता के लिए कविगण वर्णन-सम्बंधी नाना प्रकार की विविध शैलियों का आश्रय लेते हैं जिनमें से संलाप शैली, सबोधन शैली, उद्बोधन शैली, उपालम्भ शैली, और वर्णनात्मक शैली विशेष उल्लेखनीय हैं अतः 'भ्रमरगीत' में शैली के इन विविध रूपों में से व्यंग्य और उपालम्भ को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है तथा अवशिष्ट सभी वर्णन शैलियों को गौण रूप में स्वीकृत किया गया है । उद्धव और गोपिकाओं का पारस्परिक वार्तालाप संलाप शैली का सुंदर उदाहरण है तथा इसी प्रकार उद्धव का

कृष्ण और गोपियों को तथा कृष्ण का गोपियों और उद्धव को, यशोदा का पथिक को तथा गोपियों का उद्धव या भ्रमर को और परस्पर एक दूसरे को सम्बोधित करना सम्बोधन शैली के ही अंतर्गत आता है। उद्बोधन शैली के उदाहरण तो कम ही मिलते है तथा सम्पूर्ण प्रसंग के अन्तर्गत गोपियां ही उद्धव को स्थान-स्थान पर उद्बोधित करने का प्रयत्न करती है। इसी प्रकार विवरणात्मक शैली का प्रयोग भी सूर ने बहुत थोड़े से स्थानों पर किया है। हाँ, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं व्यंग्य शैली तथा उपालम्भ प्रणाली को ही कवि ने विशेष रूप से अपनाया है तथा गोपियों द्वारा न केवल उद्धव और कृष्ण के प्रति बल्कि कुब्जा के प्रति भी कहीं-कहीं अत्यंत तीक्ष्ण व्यंग्य किए गए है इसी प्रकार उपालम्भ शैली के भी अनेक सफल और सरस उदाहरण 'सूरसागर' मे उपलब्ध होते हैं। साथ ही मुहावरों और लोकोक्तियों का भी सफल प्रयोग भ्रमरगीत में हुआ है। 'ज्यों गजराज काज के अवसर औरे दसन दिखावत' तथा 'स्वान पूंछ कोटि जो लागै सूधि न काहू करी' जैसी लोकोक्तियो की अधिकता सी है। सौंदर्य की अभिवृद्धि के हेतु कवि ने चरणान्त में तुक का पालन करने के साथ-साथ अधिकांश पक्तियो में आंतरिक तुक-साम्य का निर्वाह करने का भी प्रयास किया है।

गीतिकाव्य की दृष्टि से विचार करने पर उसमें वे सभी विशिष्टताए दृष्टि-गोचर होती है जोकि गीतिकाव्य की उत्कृष्टता के लिए आवश्यक हैं। श्री गुलाबरायजी ने गीतिकाव्य के ये प्रमुख तत्व माने हैं—"संगीतात्मकता और उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमलकांत पदावली, निजी रागात्मकता (जो प्रायः आत्मनिवेदन के रूप में प्रकट होती है), संक्षिप्तता और भाव की एकता। यह काव्य की अन्य विधाओ की अपेक्षा अधिक अन्तःप्रेरित (Spontaneous) होता है और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।" (काव्य के रूप; पृ० १२२) यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो 'भ्रमरगीत' में ये सभी तत्त्व स्पष्टतः दृष्टिगोचर होंगे। इसमें कोई संदेह नही कि सूरकाव्य में संगीत के सूक्ष्म और स्थूल दोनो प्रकार के उपकरणों का प्रसंगानुकूल सहज समावेश हुआ है तथा इस भ्रमर-गीत पदावली में सारंग, सोरठ, बिलावल, मल्हार, धनाश्री, केदार, कान्हरो, बिहागरो और आसावरी आदि राग मुख्य रूप से प्रयुक्त हुए हैं। स्मरण रहे

प्रत्येक राग के लिए उपयुक्त विषय का संयोजन और विभाजन सूर की अपनी मौलिक विशेषता है तथा यह उनकी मनोवैज्ञानिक और काव्यात्मक विचार-धारा की उत्कृष्टता का प्रतीक है। साथ ही भ्रमरगीत पदावली में आत्मा की रागात्मिका वृत्ति का जिस प्रकार सहज स्वाभाविक रूप में अंकन हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसके अतिरिक्त वेदना की सहज व्यंजना भी उसमें विद्यमान है और नाद-सौंदर्य को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। कोमल कमनीय पदविन्यास और भावान्वित आदि गुण भी उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सूरदास का भ्रमरगीत काव्यगत विशिष्टताओं और दार्शनिक पृष्ठभूमि दोनों ही दृष्टियों से सराहनीय है तथा आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उचित ही लिखा है "यों तो सूर की कविता मात्र में अपनी स्वच्छ, सजीव भावना प्रकाशित हुई है किन्तु इस विरह काव्य में तो वह अतिशय मनोरम बनकर हम पर अधिकार करती है और हम विनत होकर उसकी महिमा स्वीकार करते हैं।" (महाकवि सूरदास : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी; पृ० १४०)

प्रश्न २८—सूरदास की भक्तिभावना का सामान्य परिचय दीजिए ?

उत्तर—जैसा कि विद्वानों का मत है "यद्यपि सूरदास अपने काव्य-महत्त्व के कारण हिन्दी कवियों के मुकुट-मणि माने जाते हैं तब भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्होंने कवि के दृष्टिकोण से अपने काव्य की रचना नहीं की है। उनके काव्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वे पहले भक्त हैं और बाद में कवि। अपने इष्टदेव की भक्ति-भावना में आनन्द-विभोर होकर उन्होंने जो कुछ गाया है वह भक्ति-काव्य की कोटि में आता है इसलिए वह भक्तिरस से ओतप्रोत है।" (सूर निर्णय : श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल; पृ० २०२) वस्तुतः सूर की भक्ति अनन्य कोटि की ही है और कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति-भावना ही उन्होंने प्रकट की है—

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पच्छी फिरि जहाज पर आवै

कमल नैन कौ छाँड़ि महातम और देव कौं ध्यावै।
परम गंग कौं छाड़ि पियासौ दुरमति कूप खनावै ।।
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ क्यौं करील-फल भावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ।।

यद्यपि भक्ति की दो अवस्थाएँ होती है—प्रथम भाव और द्वितीय प्रेम लेकिन दोनों अवस्थाओं में न केवल परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध होता है अपितु द्वितीय अवस्था का जन्म ही प्रथम अवस्था से होता है। जिस प्रकार प्रकाश के लिए सूर्य का होना आवश्यक है उसी प्रकार प्रेमोत्पत्ति के लिए भाव का होना भी अनिवार्य है और जब भाव निरंतर प्रगाढ़ होता जाता है तब वही प्रेम के रूप में परिवर्तित भी होता है परन्तु सूरदास जी इससे सहमत नहीं हैं और वे प्रेम को भाव से उत्पन्न नहीं वरन प्रेम ही से उत्पन्न मानते हैं—

प्रेम प्रेम सों होय प्रेम सों पारहि जैये।
प्रेम बंध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये ।।
एकै निश्चय प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेम को जिहिं तें मिलै गोपाल ।।

वे भगवान को भी प्रेममय मानते हैं और उनका कहना है कि अपने इसी प्रेम के फलस्वरूप वह जन्म लेकर संसार में अपने भक्तों के बीच लीला करते हैं—

प्रीतिवश देवकी गर्भ लीन्हों बास प्रीति के हेतु ब्रज भेष कीन्हों।
प्रीति के हेतु कियो यशुमति-पय-पान प्रीति के हेतु अवतार लीन्हों ।।
प्रीति के हेतु बन धेनु चरावत कान्ह प्रीति के हेतु नंद सुवन नामा।
सूर प्रभु की प्रीति के हेतु पाइये प्रीति के हेतु दोउ स्याम स्यामा ।।

स्मरण रहे कि वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिमार्ग का सूत्रपात किया वह पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है और उनका पुष्टिमार्ग से तात्पर्य प्रेम-मार्ग से ही था। वे शुद्ध प्रेम को ही 'शुद्धि पुष्टि' मानते हैं, जैसा कि 'पुष्टि प्रवाह मर्यादा' की निम्नांकित पंक्तियों में कहा भी गया है—

पुष्टया विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारता।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेमाति दुर्लभाः ।।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभाचार्य के अनुसार उपास्य के प्रति शुद्ध ही पुष्टिमार्गीय भक्ति अथवा का साधन है

पर भी पूर्ण प्रकाश डाला है। नित्य सेवा विधि की भाँति वर्षोत्सव विधि भी पुष्टि-मार्ग में मान्य है और हम देखते हैं कि सूरदास ने वर्षोत्सव विधि के सम्बन्ध में भी अनेक पद लिखे हैं। पुष्टिमार्गीय सेवा के जो तीन अंग भोग, राग और शृंगार माने जाते हैं वे भी सूरकाव्य में अंकित हैं। सूरसागर के पद १०१४ में भोग की विविध सामग्रियों का ही विवेचन किया गया है और सम्पूर्ण सूरसागर में अनेक राग रागनियों का प्रयोग भी है तथा सूर सारावली में तो अड़तीस रागों के नाम भी गिनाए गए हैं। इसी प्रकार भगवान कृष्ण के आठों शृंगारों से सम्बन्ध रखनेवाले पद भी सूर-काव्य में उपलब्ध होते हैं तथा पुष्टि मार्ग में जो स्वरूपासक्ति, लीलासक्ति और भावासक्ति नामक तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं उनका वर्णन भी सूर-सागर में मिलता है। स्मरण रहे वल्लभाचार्य ने 'नारद भक्ति सूत्र' संख्या ८१ के आधार पर गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परम विरहासक्ति नामक ग्यारह प्रकार की आसक्तियाँ मानी हैं तथा हम देखते हैं कि इन सभी आसक्तियों का वर्णन सूरकाव्य में हुआ है। वस्तुतः लीलासक्ति से अभिप्राय यहाँ उन लीला वर्णनों से है जिनमें कवि ने अपनी पूर्ण तल्लीनता दिखाई है और जैसा कि सर्वविदित है सूरसागर भगवान की लीला-सम्बन्धी पदों का ही संग्रह है। स्मरण रहे भगवान के लीला-धाम में सूर की इतनी अधिक आसक्ति है कि वे उसे तज कर अन्यत्र नहीं जाना चाहते और जैसा कि उनके जीवनवृत्त से स्पष्ट हो जाता है वे ब्रजधाम को छोड़ कर अन्यत्र कहीं नहीं गए।

इस तरह सूर में पुष्टिमार्गीय भक्ति के प्रायः सभी तत्त्व उपलब्ध होते हैं और उनका जितना अधिक विकसित रूप हमें सूरकाव्य में दृष्टिगोचर होता है उतना अन्यत्र नहीं परन्तु कतिपय विचारक सूरदास को पुष्टिमार्गी भक्त नहीं मानते हैं और उनका कहना है कि सूरसागर में तो स्पष्ट रूप से पुष्टि-मार्ग का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल का कहना है—"सूरदास जी की प्रायः समस्त रचनाएँ पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों के अनुकूल हैं। ऐसा होने पर भी कुछ विद्वानों ने   लिखा है कि सूरदास ने पुष्टिमार्ग का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं

किया है। हिंदी साहित्य के अनेक विद्वानों ने सूरदास की रचनाओं का भली-भाँति अध्ययन नहीं किया है इसीलिए उनका सूरदास विषयक मत कभी कभी भ्रमात्मक हो जाता है।" (सूर निर्णय; पृ० १६६) यद्यपि 'सूर निर्णय' के रचयिताओं ने सूरदास के कई ऐसे पद भी उद्धृत किए हैं जिनमें पुष्टिमार्ग का स्पष्ट उल्लेख है लेकिन इन पदों की प्रामाणिकता पर भी संदेह किया जाता है। वास्तविकता तो यह है कि सूरदास जी के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे पुष्टिमार्ग का प्रत्यक्ष उल्लेख अपनी रचनाओं में करते। डॉ० हरबंसलाल शर्मा के शब्दों में "पुष्टिमार्गीय [illegible] उनका [illegible]" और उनका जीवन स्वयं पुष्टिमार्ग की व्याख्या था। इसीलिये उनकी रचनाओं में पुष्टिमार्ग का उल्लेख होने अथवा न होने से कोई अंतर नहीं पड़ता।" (सूर और उनका साहित्य; पृ० ४०८)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर उच्च कोटि के भक्त थे तथा उनको भक्ति [illegible] की प्रेरणा एवम् हृदय की अनुभूति थी और चूँकि भक्त होने के साथ-साथ वे कवि भी थे अतएव उनकी भक्ति के साथ [illegible] कल्पना का योग भी स्वाभाविक ही था।

प्रश्न ३—सूरदास की काव्यगत विशिष्टताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ?

पाश्चात्य विद्वान विंचेस्टर ने काव्य के मूल में भावतत्व (Emotional Element), बुद्धि-तत्व (Intellectual Element), कल्पना-तत्व (The Element of Imagination) तथा शैली-तत्व (The Element of Style), चार तत्वों की सत्ता स्वीकार की है और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि से कविता में इन्हीं चार तत्वों की [illegible] समझी जाती है तथा इन्हीं के आधार पर उनका रूप भी निर्धारित किया जाता है परन्तु प्राचीन भारतीय आचार्यों ने तो काव्य के अनुभूति पक्ष या भाव पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष या कला पक्ष नामक दो पक्ष ही आवश्यक माने हैं। यों तो इन दोनों पक्षों का अपना-अपना निजी महत्व भी है लेकिन वास्तव में दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित ही हैं। जिस प्रकार कुछ दार्शनिक शरीर को ही आत्मा समझ लेते हैं उसी प्रकार कुछ विचारकों ने [illegible] और रीति का काव्य के पद पर प्रति

हुए अभिव्यक्ति का महत्व प्रदान किया है परन्तु कविता का मुख्य आधार भाव ही है। स्मरण रहे पाश्चात्य विचारकों ने भी काव्य का सर्वप्रथम तत्त्व भाव ही माना है तथा शेष तीनों को तो वे उसे पुष्ट करने, उसके लिए सामग्री उपस्थित करने और साथ ही अभिव्यक्ति में सहायक होने के लिए आवश्यक समझते हैं अतः इस प्रकार कविता में भाव-पक्ष को ही प्रधानता दी जानी चाहिए।" (हिंदी कविता: कुछ विचार—दुर्गाशंकर मिश्र; पृ०४४)

सूरदास की भावव्यंजना पर विचार करते समय समय सर्वप्रथम हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि भाव-पक्ष पर विचार करना कोई सरल कार्य नहीं है कारण कि मानव मन की वृत्तियाँ बड़ी जटिल और अगम्य हैं तथा उनकी विचित्रता और विविधता में एकरूपता का अन्वेषण भी बड़ा दुष्कर कार्य है। चूँकि भाव प्रत्येक व्यक्ति के अंतस् का एक धर्म है अतः वर्णनातीत और अनुभवगम्य मात्र है। इस प्रकार किसी कवि की काव्य-साधना पर विचार करते समय जब हम उसकी भावव्यंजना पर विचार करते हैं तब भावों से हमारा तात्पर्य रीतिशास्त्र के रसपोषक भावों से रहता है अर्थात् उन भावों पर प्रकाश डाला जाता है जो कि रस परिपाक में पूर्ण समर्थ हो सके है।

जैसा कि डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का कहना है "उनकी सम्पूर्ण मानसिक प्रक्रिया का आधार उनकी भक्ति-भावना ही है जिसकी प्रकृति में ही भाव-प्रवण हृदय को संगीत और काव्य के रूप में अभिव्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति निहित थी। अतः संसार की क्षुद्रता और क्षणभंगुरता के कारण समस्त सांसारिक बंधनों से विरक्त इस कवि को भक्ति का वरदान पाकर जब अपने मानस के दबे हुए अक्षय स्रोत को खोलने का अवसर मिला तो उसकी वाणी सहज ही काव्य रूप हो गई।...कृष्ण चरित के विभिन्न पात्रों को सूरदास ने आत्मीयता के साथ विविध रूप भक्तिभावना से भरा है। पात्रों की विविधता में व्याप्त अविच्छिन्न एकता का सूत्र वस्तुतः भक्त कवि की व्यक्तिगत भावना ही है।...जो कवि इतने विविध रूपों में अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित कर सका उसका भाव-जगत कितना सम्पन्न और क्रियाशील होगा। सूरदास की भक्तिभावना के मूल में संसार से वैराग्य का भाव काव्य के निर्वेद नाम से अभिहित किया जा सकता है निर्वेद शांत रस का

स्थायी भाव माना गया है। इस भाव का प्रबलतम प्रकाशन यद्यपि केवल विनय के पदों में हुआ है, परन्तु उसका सूत्र अविच्छिन्न रूप में समस्त काव्य में निरंतर विद्यमान रहता है। ब्रज की लौकिक रूप में कल्पित किन्तु वस्तुत: अलौकिक सृष्टि के जीवों को केवल कृष्ण के नाते लौकिक राग द्वेप से उद्वेलित दिखाया गया; कृष्ण से इतर किसी प्रकार के लौकिक सम्बंधों को कवि ने कभी सहन नहीं किया उनके प्रति मनोविकारों के प्रकाशन की बात तो बहुत दूर है। प्राकृत जन और उनके सांसारिक भाव सूरदास के काव्य से बाह्य हैं। अतः संसार की क्षणभंगुरता से उत्पन्न निर्वेद का भाव सूरदास के मानस का सबसे गहरा और आधार रूप भाव है।" (**सूरदास: डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा**; पृ० ४४९-४५०) स्मरण रहे सूरदास आचार्यों द्वारा गिनाए हुए भावों एवं अनुभावों में ही बँधकर नहीं चले और उन्होंने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त भगवद्विषयक रति और वात्सल्य रति को रस कोटि तक पहुँचाया है तथा आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शृंगार-रस-सम्बद्ध संचारियों के अतिरिक्त अन्य कितनी ही मनोदशाओं की अभिव्यक्ति कर शृंगार को रसराजत्व प्रदान किया है। चूँकि कवि का उद्देश्य भगवत्लीला वर्णन करना ही रहा है और कृष्ण की शील, शक्ति एवं सौन्दर्य नामक विभूतियों में से उसने सौंदर्य का ही चित्रण किया है तथा बाल्य एवं यौवन से सम्बद्ध जीवन झाँकियाँ ही अंकित की हैं अतः उसका वर्ण्य-विषय सीमित ही है और इस प्रकार बाल्य एवं यौवन अवस्थाओं के भावों एवं व्यापारों के चित्रण से ही सम्बंध रखने के कारण इन्हीं दोनों अवस्थाओं से सम्बद्ध वात्सल्य और शृंगार रसों की अभिव्यक्ति ही विशेष रूप से सूर-काव्य में हुई है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक आए। उक्त दोनों के प्रवर्तक रतिभाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का और कोई नहीं। हिंदी साहित्य में शृंगार का रस राजत्व यदि किसी ने पूर्णरूप से दिखाया है तो सूर ने।" (**सूरदास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल**; पृ० १६७)

वस्तुतः कवियों के लिए बाललीला वर्णनीय विषय ही है और यदि सरलता एवं पवित्रता है तो शिशु में ही है। यों तो विश्व के प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों ने शैशवलीला का वर्णन किया है लेकिन सूर का बाल-वर्णन इन सबमें अद्वितीय है। चूँकि वल्लभ-सम्प्रदाय में वात्सल्यासक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है अतः सूरदास ने भी वात्सल्य भावनाओं का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है और संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों के अनेक हृदय-ग्राही चित्र अंकित किए हैं। सूरदास के वात्सल्य चित्रण का सुघरतम रूप निम्नांकित पद में दृष्टिगोचर होता है—

मेरो नान्हरिया गोपाल बेगि बड़ो किन होहिं।
इहि मुख मधुरे बयन हँसि कबहूँ जननि कहेगो मोहिं॥
यह लालसा अधिक दिन-दिन प्रति कबहूँ ईश करै।
मों देखत कबहूँ हँसि माधव, पग द्वै धरनि धरै॥
छिन-छिन क्षुधित जान पय कारन, हौं हठि निकट बुलाऊँ।
आगम निगम नेति करि गायो, शिव उधमान न पायो॥
सूरदास बालक रस लीला, मन अभिलाष बढ़ायो।

इस पद में कवि ने मातृहृदय से निःसृत होने वाली वात्सल्य रस-स्रोत-स्वनी का स्वाभाविक चित्रण किया है और वास्तव में प्रत्येक माता के हृदय में ऐसे ही भाव अपने अबोध शिशु को देखकर उठा करते हैं। बालक को अत्यंत छोटा, हँसने और बोलने में असमर्थ देख माता अधीर हो उन सुंदर क्षणों की कामना करने लगती है जो उसके हृदय में हर्ष और स्वर्गोपम आनंद की सरिता प्रवाहित करने की क्षमता रखते हैं। इसी प्रकार बालक के भोले-पन और रिस का चित्रण निम्नांकित पद में देखिए—

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहीं मोहिं देखत लरिकन संग तबहीं खिझावत बलभैया॥
मोसों कहत तात बसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दै बसुदेव को, करि-करि जतन बढ़ैया॥
अब बाबा कहि कहत नंद सों जसुमति सों कहै मैया।
ऐस ही कहि सब मोहि [illegible] तब उठि चल्यो खिसैया।

पाछे नंद सुनत हैं ठाढ़े हँसत-हँसत उर लैया।
सूर नंद बलरामहिं धिरयो, सुनि मन हरष कन्हैया ।।

वात्सल्य के समान ही शृंगार-वर्णन में भी सूर को अद्वितीय सफलता मिली है और शृंगार के अंतर्गत संयोग एवं वियोग दोनों पक्षों का उन्होंने वर्णन किया है। रूप-वर्णन में भी वे पूर्ण सफल रहे हैं तथा कृष्ण के कपोल, मुख, नेत्र, पुतली, अधर, वक्षस्थल पर शोभायमान कमल माला, चंचल दृष्टि, लोल कुंडल आदि का वर्णन अत्यन्त कलापूर्ण है। राधा के रूप-वर्णन में भी वे सफल रहे हैं। सूरसागर में संयोग शृंगार का अत्यंत व्यापक वर्णन दृष्टिगोचर होता है तथा शृंगार-सम्बन्धी अनेक प्रसंगों का उल्लेख करते समय कुंजविहार, यमुना-स्नान, जल-क्रीडा, हिंडोला-विहार तथा रासलीला आदि जितने भी संयोग शृंगार-सम्बन्धी क्रीड़ा-विधान हो सकते थे उन सभी का वर्णन कवि ने किया है। साथ ही बाह्य-जगत और आभ्यंतरिक जगत दोनों का सौंदर्य-वर्णन वह कुशलता से कर सका है और प्राकृतिक दृश्यों का मनो मुग्धकारी वर्णन करने में उसकी मनोवृत्ति खूब रमी है। राधा और कृष्ण के पारस्परिक आकर्षण का वर्णन सूर इस प्रकार करते हैं—

चितै रही राधा हरि को मुख।
भृकुटि विकल विशाल नयन युग देखत मनहि भयो रति पति दुख ।।
उतहिं स्याम एकटक प्यारी छबि अंग-अंग अवलोकत।
रीझि रहे उत हरि इत राधा अरस परस दोउ नोकत ।।
सखिन कह्यो वृषभानु सुता सों देखे कुँवर कन्हाई।
सूर स्याम ऐई हैं ब्रज में जिनकी होति बड़ाई ।।

रासलीला के चित्रण में तो संयोग शृंगार अपनी पूर्ण उच्चता को पहुँच गया है; उदाहरणार्थ—

गति सुगंध नृत्यत ब्रजनारी।
हाव भाव नैन-सैन दै दै रिझवत गिरधारी ।।
पग-पग पटकि भुजनि लटकावति, फंदा करति अनूप।
चंचल चलत झूमिये अंचल, अद्‌भुत है वह रूप ।।
दुरि निरखत अंग रूप परस्पर दोउ मन-ही-मन रिझवत।
हँसि-हँसि बदन बचन रस प्रगटत स्नेह मन बस मोहत ।।

बनी छुटि लट बगरानी, मुकुट लटकि लटकानो।
फूल खसत सिर ते भये न्यारे, सुमन स्वाति सुत मानो॥
गान करति नागरि रीझै पिय लीन्हीं अंक लगाइ।
रस बस ह्वै लपटाइ रहे दोउ सूर सखी बलि जाइ॥

संयोग शृंगार की भाँति विप्रलंभ शृंगार में भी व्यापकता एवं गंभीरता दृष्टिगोचर होती है तथा जैसा कि डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—"सूरदास ने मानव-हृदय के भीतर जाकर वियोग और करुणा के जितने भाव हो सकते हे उन्हें अपनी कुशल लेखनी से ऐसे अंकित कर दिए हैं कि वे अमर हो गए है। प्रत्येक भाव में ऐसी स्पष्टता है मानों हम उन्हें स्वयं अनुभव कर रहे है। किसी भाव में आह की ज्वाला है, किसी में वेदना के आँसू और किसी में विदग्धता का कम्पन। हृदय की भावना अनेक रूप में व्यक्त होती है। एक ही भावना का अनेकों बार चित्रण होता है—नये-नये रंगों से—और उनमें हृदय को व्यथित करने की शक्ति बराबर बढ़ती जाती है। ऐसा ज्ञात होता है मानो प्रत्येक पद एक गोपी है जिसमें वियोग की भीषण अग्नि धधक रही है।" (हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास · डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ६३४-६३५) संयोगावस्था में जो वस्तुएँ गोपियों को सुखदायिनी प्रतीत होती थीं वे ही अब वियोग में दुःखदायिनी जान पड़ती हैं—

बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब वै लता लगति तन शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं॥
वृथा बहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल फूलनि अलि गुंजैं।
पवन, पान, घनसार, सजीवन, दधि-सुत, किरनि भानु भई भुंजैं॥
यह ऊधौ कहियौ माधौ सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौं मग जोवत अँखियाँ भई छुंजैं॥

भ्रमरगीत-पदावली में तो विरह-सागर उमड़ सा उठा है तथा कल्पना एवं भावुकता का सहज सामंजस्य उसमें दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल ने उचित ही कहा है "सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यंत मनोहारिणी है।" (हिंदी साहित्य का इतिहास · आचार्य रामचंद्र शुक्ल · पृ० १७२) 'भ्रमरगीत' म कवि न का बड़ा ही मर्मस्पर्शी ढंग से किया है और

सगुण-निर्गुण का यह प्रसंग सूर की मौलिकता का द्योतक है। निर्गुणपंथियों के उस बढ़ते हुए प्रवाह को अवरुद्ध करने के हेतु ही सूर ने भ्रमरगीत के अंतर्गत इस प्रसंग का समावेश किया है। उद्धव निर्गुण की उपासना पर जोर देते हैं जब कि गोपियाँ सगुणोपासना को ही महत्त्वपूर्ण समझती हैं। वे कहती हैं कि जब सुमेरु प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है तब उसे तिनके की ओट में छिपाने का प्रयत्न व्यर्थ ही है—

सुनि है कथा कौन निर्गुन की रचि रचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रगट देखियत तुम तृन की ओट दुरावत॥

निराकार की नीरसता और साकारोपासना की सरसता को अपने मानसिक अनुभव के रूप में गोपियाँ उद्धव के सामने प्रस्तुत करती हैं—

ऊधो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥

उद्धव अपना उपदेश देते ही जा रहे हैं कि बीच में कोयल बोल उठती है और तब गोपियाँ तुरन्त ही उनसे कहती है कि तुम तो हमें भस्म रमाने को कह रहे हो लेकिन उधर प्रकृति की दशा क्या है यह भी तो देखो।—

ऊधो कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हौ भस्म लगावन आनन॥

शृंगार और वात्सल्य के अतिरिक्त अन्य रसों का भी वर्णन कवि ने प्रसगानुसार किया है लेकिन ये रस प्राय: स्वतंत्र न होकर किसी रस विशेष के अंगी ही प्रतीत होते हैं तथा ऐसे स्थल संख्या में न्यून ही होंगे जहाँ इन रसों का स्वतंत्र चित्रण हुआ हो। हास्य रस की अभिव्यंजना कृष्ण के बाल-लीला सम्बन्धी पदों में ही विशेष रूप से हुई है और कहीं-कहीं आलंकारिक भाषा में व्यंग्य करा कर हास्य का उद्रेक करने की चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पद में कृष्ण आलंकारिक भाषा में व्यंग्य कर गोपियों को आश्चर्य चकित कर देते हैं तथा यह अलंकार-युक्त व्यंग्य ही पाठकों के हास्य का कारण बन जाता है—

लैहौं दान इनन कौं तुम सौं।
केहरि कनक कलश अमृत के कैसे दुरैं दुरावति हमसौं।
मत्त गयंद हंस हम सोहैं कहा दुरावति॥
बिद्रुम हेम बज्र के किनुका नाहिन हमहिं सुनावति।

खग, कपोत, कोकिला, कीर, खँजन हू शुक मृग जानति ॥
मणि कंचन के चक्र जरे हैं एते पर नहिं मानति ।
सायक चाप तुरय बनि जनि हौ लिये सबै तुम जाहु ॥
चंदन चामर सुगंध जहाँ तहँ कैसें होत निबाहु ।
यह बनि जनि वृषभानु सुता तुम हमसों बैर बढ़ावति ॥
सुनहु सूर एते पर कहियत हम धौं कहा लगावति ।

इसी प्रकार दावानल के प्रसंग में करुण रस की भी स्वाभाविक व्यंजना हुई है, देखिए—

अब कै राखि लेहु गोपाल ।
दसहूँ दिसा दुसह दवागिनि उपजी है इहि काल ॥
पटकत बाँस काँस कुस चटकत लटकत ताल तमाल ।
उचटत अति अंगार फुटत पर झपटत लपट कराल ॥
धूम धूँधि बाढ़ी उर अम्बर चमकत बिच बिच ज्वाल ।
हरित बराह मोर चातक पिक जरत जीव बेहाल ॥

इसी प्रकार कंस के अभिमान युक्त क्रोध का चित्रण करते समय कवि ने कंस के क्रोध को रस की कोटि तक पहुँचा दिया है—

यह सुनि कै नृप त्रास भर्यौ ।
सबन सुनाइ कहो यह वाणी इह नंदनंद कह्यो ।
मारो स्याम राम दोउ भाई गोकुल देउ बहाई ॥
आगे दै कै रजक मराये स्वर्गहि देहु पठाई ।
दिन दिन इनकी करों बड़ाई अहिर गये इतराई ॥
तो मैं जो याही को कहिकै उनकी खाल कढ़ाई ।
सूर स्याम यह करत प्रतिज्ञा त्रिभुवननाथ कहाई ॥

आचार्यों ने हमारे जीवन के व्यापारों के अंतर्गत आनेवाले चार प्रमुख उत्साहों को काव्योपयोगी समझ युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर नामक चार विभाग वीर रस के किए हैं लेकिन वास्तव में वीरता का अर्थ केवल युद्ध नहीं वरन् किसी भी कला की असाधारण दक्षता है अतः इस दृष्टि से युद्धवीर धर्मवीर दानवीर दयावीर कर्मवीर वाकवीर आदि अनेक प्रकार के वीर हो सकते है यों तो सूरदास ने कहीं-कहीं दयावीर और दान

स्वर्ग पताल धरनि बन पर्वत बदन माझ रह आनी।
नदी सुमेरु देखि चकित भई याकी अकथ कहानी॥
चितै रहे तब नंद जुवति मुख मन मन करत बिनानी।
सूरदास तब कहति जशोदा गर्ग कही यह बानी॥

चूँकि सूर की कविता का विषय और स्वयं उनकी निजी प्रकृति वीभत्स रस के सर्वथा प्रतिकूल है अतः विशालकाय सूर-काव्य में वीभत्स के उदाहरणों का अभाव सा है।

वात्सल्य और शृंगार के पश्चात् तो सूर-काव्य में शांत रस की ही अधिकता है तथा कतिपय समीक्षक सूर-साहित्य की आत्मा शांत रस को ही मानते हैं। यों तो कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी सूर के पदों को शांत रस के अन्तर्गत ही रखा जाता है लेकिन वास्तव में उनमें भक्ति रस नामक एक सर्वथा नए रस का विकास हुआ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तो इसे उज्ज्वल रस मानते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्ययुगीन कविता में भक्ति एवं काव्य का ऐसा अद्भुत संगम हुआ है कि भक्ति रस को भी स्वतंत्र रस स्वीकार करना ही पड़ता है। एक उदाहरण देखिए—

जनम सिरानौ अटकैं अटकैं।
राज काज, सुत, वित की डोरी, बिन विवेक फिर्‌यौ भटकैं॥
कठिन जु गाँठि परी माया की तोरी जाति न झटकैं।
ना हरि भक्ति न साधु समागम रह्यौ बीच ही में लटकैं॥
ज्यों बहु कला काछि दिखरावै लोभ न छूटत नट कैं।
सूरदास सोभा क्यों पावै पिय विहीन धनि मटकैं॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर की रस-व्यंजना अनुपम थी और जहाँ शृंगार, करुण, हास्य एवं वात्सल्य का वर्णन उन्होंने किया है वहाँ भयानक, वीर तथा अद्भुत का भी किया है। यद्यपि इन रसों की व्यंजना थोड़े से ही स्थलों पर की गई है पर वे ही उनकी कुशल रस-व्यंजना के परिचय हेतु पर्याप्त हैं।

स्मरण रहे सूर-काव्य के विभाजन के सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद सा है और इस प्रकार एक ओर तो डा० मुन्शीराम शर्मा सूर द्वारा निर्मित पदों

वली को विनय के पद और हरिलीला के पद नामक दो भागों में विभाजित कर विनय के पदों के पुनः निम्नांकित उपविभाग करते हैं—

(१) हठयोग और शिवसाधना से सम्बन्ध रखने वाले पद।

(२) निर्गुण भक्ति से प्रभावित पद।

(३) वैष्णव भक्ति के दास्यभाव वाले विनय के पद।

(४) सख्य भाव की भक्ति वाले पद।

[भारतीय साधना और सूर साहित्य : डॉ० मुंशीराम शर्मा; पृ० ५२]

दूसरी ओर श्री रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी ने सूर-साहित्य का विश्लेषण इस प्रकार किया है—

(१) विनय के पद (भक्ति की साधारण भावना—दास्य और आत्म-समर्पण का प्रभाव)

(२) सामान्य रूप से सारे ग्रन्थ को प्रभावित करने वाला भाव (कृष्ण के मधुर रूप की भक्ति)

(३) कृष्ण की बाललीला का प्रसंग (वल्लभ-सम्प्रदाय की धर्म-भावना का प्रभाव)

(४) राधाकृष्ण प्रसंग (मधुर भक्ति और युग की सामान्य प्रवृत्ति का प्रभाव अतः श्रृंगार रस की प्रधानता)

(५) कूट रस निरूपण, नायिका भेद, और अलंकारों को स्पष्ट करने वाले पद (पूर्ववर्ती साहित्य और तत्कालीन रीति धारा का प्रभाव)

[सूर-साहित्य की भूमिका; पृ० १२९]

हमारी दृष्टि में सूर-साहित्य का यही विश्लेषण उचित भी है। वस्तुत सूरदास लीला के ही कवि हैं और उन्होंने कृष्ण चरित्र के उन स्थलों को ही स्पर्श किया है जिन पर कि उनके पूर्ववर्ती कवियों की दृष्टि नहीं गई थी। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में "यों तो कृष्ण-कथा पाँच सहस्र से भी अधिक वर्षों से अनेक वक्ताओं के मुख से कही जाती रही है और इस कारण पिष्टपेषित सी प्रतीत होती है किन्तु सूर ने उसमें अपने भाव रस का सम्मि-श्रण कर कल्पना के दिव्य साँचे में ढालकर उसे इतने सुन्दर रूप में जनता के सम्मुख रखा कि वह उनके आराध्य युगल की दिव्य सौन्दर्यमयी सफल प्रति-कृति प्रतीत होती है जिससे हृदय मे प्रेम की अनन्त उत्ताल तरंग उठती हैं

पर कोलाहल नहीं होता; आँखों में वियोग के काले मेघ उमड़ते हैं पर गर्जन नहीं होता; भावों का जमघट होता है परन्तु ओठों में स्पन्दन नहीं होता; जहाँ आग्रह के साथ संकोच, औत्सुक्य के साथ सन्तोष, किशोर चपलता के साथ यौवन की गम्भीरता और साधना के साथ माध्य का अनाध्य सामंजस्य है।" (**सूर और उनका साहित्य; डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ४६५**)

सूरकाव्य के कलापक्ष पर विचार करते समय सर्वप्रथम हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट होता है कि वल्लभाचार्य की आज्ञा से कवि ने भगवत्लीला को पदों में गाया है अत: सम्पूर्ण सूरसागर निस्सन्देह गीतिकाव्य के अन्तर्गत ही रखा जाएगा। यों तो पिंगल की दृष्टि से सूरसागर में चौपई, चौपाई, दोहा, रोला, चंद्र, भानु, कुण्डल, मुखदा, राधिका, उपमान, हरि, तोमर, शोभन, रूपमाला, गीतिका, विष्णुपद, सरसी, हरिपद, सार, लावनी, वीर, समान सवैया, मत्तसवैया, हंसाल, हरि प्रिया और घनाक्षरी आदि छन्द उसमें मिलते हैं तथा पं० चन्द्रबली पांडे उसे 'खंडात्मक प्रबन्ध काव्य' कहना अधिक उचित समझते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि "सूरसागर में जो दूसरी लीला कही जाती है उसको यदि एकत्र किया जाए तो "सूरसागर एक खासा प्रबंध-काव्य बन जाय और उसका रूप बहुत कुछ उस रूप में प्रस्तुत हो जाय जिस रूप में पद्मावत है।" (**हिंदी कवि चर्चा : पं० चन्द्रबली पांडे; पृ० २०६**) इस प्रकार वे सूरसागर को 'लीला प्रबंध काव्य' 'या भाव प्रबंध काव्य' मानते हैं परन्तु वास्तव में उसे प्रबंध-काव्य न मानकर मुक्तक काव्य मानना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। इस सम्बन्ध में कतिपय अन्य विचारकों के मत इस प्रकार हैं—

"सूरसागर सूरदास जी का कोई प्रबंध-काव्य नहीं है। अत: इसकी गणना रीतिबद्ध महाकाव्यों में नहीं की जा सकती। सूरदास श्रीकृष्ण जी की भक्ति की उमंग में आकर हरिभजन सम्बन्धी पदों की रचना करते थे और प्रेम के आवेश में विह्वल होकर अपने वीणा विनिन्दित ललित स्वर में उन्हें गाया करते थे। सूरसागर सूरशिष्य संकलित उन्हीं सुकोमल पदावलियों का स्फुट संग्रह मात्र है। इस ग्रंथ को हम उसी श्रेणी में रख सकते हैं जिसमें तुलसीदास जी की गीतावली है। ये दोनों गीतिकाव्य कहे जाते हैं।"

"सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने भगवान कृष्ण के माधुर्यपक्ष को अपनाया था। उनमें जीवन की वह अनेकरूपता न थी कि प्रबंध-काव्य का विषय बन सके, माधुर्य पक्ष के प्रस्फुटन के लिए संगीत लहरी में बहने वाली ब्रजभाषा की कोमलकान्त पदावली विशेष रूप से उपयुक्त थी। भगवत्कीर्तन उन लोगों की नित्य की उपासना का रूप था। उसके लिए स्वतः पूर्ण और एक दूसरे से स्वतन्त्र मुक्तक गेय पद ही उपयुक्त थे, इसलिए कृष्ण-काव्य में उन्हीं का चलन हो गया था।"

(**हिंदी काव्य विमर्श: आचार्य गुलाबराय; पृ० ८७-८८**)

"महाकाव्य के लिए चरित की जिस गौरव गरिमा घटनाओं की जिस सामाजिक महत्ता तथा वैचित्र्य-विविधता तथा कवि के जिस तटस्थ निरपेक्ष दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है वह कृष्ण-चरित और उसके कवि सूरदास में नहीं है। मध्ययुग के भक्त कवि जिस एकनिष्ठ भक्तिभावना से प्रेरित होकर काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे, वह स्वयं प्रबंध-काव्य के लिए अनुपयुक्त है। वर्ण्य-विषय के प्रति वह वैयक्तिक आत्मनिष्ठता गीतिकाव्य के माध्यम से ही व्यक्त हो सकती है।...... "कृष्ण-चरित स्वयं गीति-काव्य का ही प्रकृत विषय है, अतः सूर का काव्य अनिवार्यतः गीति-काव्य है।"

(**सूर मीमांसा : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा; पृ० २०५-२०६**)

"प्रबंध काव्य के आवश्यकीय गुण जैसे कथा का शृंखलाबद्ध प्रवाह, कथा के बीच-बीच प्राकृतिक चित्र, घटनास्थलिक्रम में विविध स्थानों के वर्णन चरित्रों का उत्तरोत्तर विकास, कार्य-व्यापार का विविध अवस्थाओं के साथ घटना चक्रों की लड़ी में सूत्र की तरह सञ्चरण, कथानक के भावात्मक स्थलों का चित्रण, प्रबंध का सर्गों में विभाजन आदि गुण उस रचना में एकत्र नहीं हैं। वस्तु-वर्णन की अपेक्षा भाव-चित्रण की ओर सूरदास ने विशेष ध्यान दिया है। वस्तुतः उनका काव्य कृष्ण चरित्र के सहारे कहा हुआ होने पर भी मुक्तक काव्य है।"

(**सूर-प्रभा : डॉ० दीनदयालु गुप्त; प्रस्तावना; पृ० १५**)

स्मरण रहे गीतिकाव्य की सभी आवश्यक विशेषताएँ—संगीत से पूर्ण भावाभिव्यक्ति, अन्तर्जगत का चित्रण, एकत्व अथवा भावना की तन्मयता एवं सुकुमारता जिसमें सहज उद्गारों का प्रस्फुरण हो भाषा की

[illegible]नता और व्यंजकता; शब्दों का मधुर चयन, भाषा का भावना से साम-ञ्जस्य, साक्षात् प्रभाव और संक्षिप्तता—सूर-साहित्य में दृष्टिगोचर होती है तथा सूरदास को हिंदी गीति-काव्य के सर्वस्व और धनी तक कहा जाता है। श्री ओम्प्रकाश अग्रवाल ने तो सूर-साहित्य में ही गीति-काव्य का चरम विकास माना है। (हिंदी गीतिकाव्य : श्री ओम्प्रकाश अग्रवाल, पृ० ५२)

यह तो निर्विवाद ही है कि सूर ने जो कुछ लिखा है राग में लिखा है और श्री शिखरचंद्र जैन के शब्दों में "संगीत विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं, तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते हैं और उनका सच्चा मूल्य आँका जा सकता है। वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर सका है तो वह सूर ही हैं।" (**सूर : एक अध्ययन—श्री शिखरचंद्र जैन; पृ० २७**) वस्तुतः सूर-काव्य में कान्हरो, केदार, कल्याण, बसन्त, परज, आसावरी, काफी, सोरठ, धनाश्री, सारंग, मलार, विहाग, बिलावल, रामकली, गौरी, देव गंधार, भैरव आदि राग-रागनियों का सुन्दर समावेश हुआ है। डॉ० मनमोहन गौतम ने उचित ही लिखा है "सूरसागर में इतने अधिक राग हैं कि उन्हें देखकर समस्त जीवन संगीत-साधना में अर्पित कर देने वाले आज के संगीतज्ञों को भी दाँत तले उंगली दबानी पड़ती है। तात्पर्य यह कि सूर के गीतों में शास्त्रीय स्वर लय का पूर्ण विधान है फिर भी सूर के गीत शास्त्रीय संगीत मात्र नहीं हैं। उनमें स्वर, लय और नाद का चमत्कार प्रमुख नहीं है, प्रधानता है शब्द संगीत की। सूर के पदों में कवित्व संगीत का दास नहीं है, संगीत कवित्व का सहायक बनकर आया है। सूरदास के पदों में संगीत पद की भावुकता को अभिवृद्ध करने, सरसता का संचार करने और अनुकूल भावभूमि का निर्माण करने मात्र का कार्य करता है। संगीत शब्द-सौंदर्य या अर्थ-सौष्ठव में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न नहीं करता। वह तो शब्दों की रमणीयता, ध्वन्यात्मकता, और स्वर लहरी के अर्थ में सौष्ठव और कल्पना में कमनीयता भरता है। यही कारण है कि एक ओर सूर के पदों में संगीत रचना के तत्त्व मिलते हैं तो दूसरी ओर उनमें काव्यात्मक वर्ण-योजना, अलंकार-विधान, लक्षण-व्यंजना के चमत्कार और रसादयों की अनिवार्य योजना प्राप्त होती है।" (**सूर की का　　　डा० मनमोहन गौतम　पृ० ८७**

साथ ही भाषा की दृष्टि से सूरदास जी प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया है । यों तो चंद की भाषा में भी ब्रजभाषा की झलक दृष्टिगोचर होती है और कबीर आदि संतों के पदों की भाषा भी ब्रज ही है लेकिन भाषा-सौष्ठव के दृष्टिकोण से सूर ही ब्रजभाषा के प्रथम उत्कृष्ट कवि माने जा सकते हैं । जैसा कि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का मत है "भाषा कविवर सूरदास के हाथों में पड़कर धन्य हो गयी । आरम्भिक काल से लेकर उनके समय तक आपने हिन्दी भाषा का अनेक रूप अवलोकन किया । परन्तु जो अलौकिकता उनकी भाषा में दृष्टिगत हुई वह असाधारण है । जैसी उसमें प्रांजलता है वैसी ही मिठास है । जितनी ही वह सरस है उतनी ही कोमल । जैसा उसमें प्रवाह है वैसा ही ओज । भाव मूर्तिमन्त होकर जैसा उसमें दृष्टिगत होता है वैसी ही व्यंजना भी उसमें अठखेलियाँ करती अवगत होती है । जैसा शृंगार रस उसमें सुविकसित दिखलाई पड़ता है, वैसा ही वात्सल्य रस छलकता मिलता है । जैसी प्रेम की विमुग्धकारी मूर्ति उसमें आविर्भूत होती है, वैसा ही आंतरिक वेदनाओं का मर्मस्पर्शी रूप सामने आता है । ब्रजभाषा के जो उल्लेखनीय गुण अब तक माने जाते हैं और उनके जिस माधुर्य का गुणगान अब तक किया जाता है उसका प्रधान अवलम्ब सूरदास जी का ही कवि-कर्म है । एक प्रान्त-विशेष की भाषा समुन्नत होकर यदि देश-व्यापिनी हुई तो ब्रजभाषा ही है और ब्रजभाषा को यह गौरव प्रदान करने वाले कविवर सूरदास हैं । उनके हाथों से यह भाषा जैसी मँजी, जितनी मनोहर बनी और जिस सरसता को उसने प्राप्त किया वह हिंदी संसार के लिए गौरव की वस्तु है ।" (रस, साहित्य और समीक्षायें : हरिऔध; पृ० १७४) सूर की शब्दयोजना सराहनीय है और इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी भाषा भावानुगामिनी, सरल, सुबोध एवम् सशक्त है । तत्सम, तद्भव और ठेठ शब्दों के साथ-साथ कवि ने विदेशी शब्दों को भी निस्संकोच अपनाया है ।

साथ ही उनकी भाषा प्रवाहमयी भी है और उसमें माधुर्य एवम् प्रसाद गुणों की अधिकता सी है । कंस बध, दावानल प्रसंग आदि ऐसी कतिपय घटनाओं में ही ओजगुण का समावेश है अन्यथा सर्वत्र ही माधुर्य और प्रसाद गुण की अधिकता है । माधुर्यमयी प्रवाह पूर्ण भाषा का एक उदाहरण देखिए

मुख पर चंद डारौं वारि ।
कुटिल कच पर भौंर वारौं, भौंह पर धनु वारि ।।
भाल केसरि-तिलक छबि पर, मदन-सर सत वारि ।
मनु चली बहि सुधा-धारा, निरखि मन द्यौं वारि ।।
नैन सुरसति-जमुन-गंगा, उपम डारौं वारि ।
मीन खंजन मृगज वारौं, कमल के कुल वारि ।।
निरखि कुंडल तरनि वारौं कूप स्रवननि वारि ।
अलक ललित कपोल-छबि पर मुकुट सत सत वारि ।।
नासिका पर कीर वारौं अधर बिद्रुम वारि ।
दसन पर कन बज्र वारौं बीज दाड़िम वारि ।।
चिबुक पर चित-बित्त वारौं प्रान डारौं वारि ।
सूर हरि की अंग-सोभा को सकै निरवारि ।।

सूर अलंकार-व्यंजना में भी पूर्ण सफल रहे हैं तथा आचार्य शुक्ल का यह कथन पूर्णतः उचित है कि "सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता (wit) भी है ।" (**सूरदास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल; पृ० २०३**) डॉ० हरवंशलाल शर्मा के कथनानुसार "वास्तव में सूर का वाग्वैदग्ध्य सहृदयता से ही समन्वित है और यही कारण है कि उनके काव्य में अलंकारों के घटाटोप के दर्शन नहीं होते और वे अपने रूप-चित्रण में सर्वत्र संवेदनशील दीख पड़ते हैं । उन्होंने अलंकारों का प्रयोग विशेषकर सौंदर्यबोध के लिए ही किया है । किसी वस्तु के साक्षात्कार से जब कवि की सौंदर्यानुभूति सजग हो उठती है, हृदय तल्लीन हो जाता है तो उसकी कल्पना उस वस्तु के सौंदर्य को अधिक हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अप्रस्तुत व्यापार योजना का सन्निवेश करने लगती है; उस समय कवि की रचना में अलंकारों का समावेश स्वतः हो जाता है । यही कारण है कि सूर की रचना में हमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों के ही दर्शन होते है । उन्होंने अपनी अप्रस्तुत योजना में मानव और मानवेतर सभी व्यापार लिए हैं । इस प्रकार उनकी अलंकार योजना में सहज ही प्रकृति से तादात्म्य हो गया है । जहाँ कवि सांसारिकता से ऊब कर खिन्न मन से ऐसा स्थान खोजने को प्रयत्नशील होता है जहाँ ऐहिक राग

विना मानापमान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का अभाव हो, वहाँ स्वाभाविक रूप से ही अन्योक्ति अलंकार आ गया है।" (**सूर और उनका साहित्य : डॉ० हरवंशलाल शर्मा**; पृ० ४३८—४३९)

वस्तुतः सूर-काव्य में अलंकारों की योजना स्वाभाविक ही हुई है तथा शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों के प्रयोग में कवि पूर्ण सफल रहा है। अनुप्रास, यमक और श्लेष के साथ-साथ, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा प्रतीप आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का तथा स्मरण और संदेह नामक स्मृति-मूलक अलंकारों का प्रयोग बहुलता से मिलता है। वक्रोक्ति और विभावना नामक विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग प्रायः कम ही किया गया है। साथ ही सूर ने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी बहुत अधिक प्रयोग किया है तथा उनकी भाषा में लाक्षणिकता एवम् ध्वन्यात्मकता भी दर्शनीय है। यद्यपि कहीं-कहीं भाषा में दुरूहता अवश्य आ गई है और तुकान्त के लिए या छंदों की गति को नियमानुकूल रखने के हेतु कुछ शब्दों को विकृत भी किया गया है परन्तु सब प्रकार से विचार करने पर यही विदित होता है कि भाषा सबल, सजीव और सरस ही है। इस प्रकार सूर-काव्य के भावपक्ष एवं कलापक्ष पर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष में पहुँचते हैं कि सूरदास हिंदी साहित्य के अमर कवि हैं और उनका सूर-सागर हिंदी-साहित्य की अमर कृति। डॉ० मनमोहन गौतम के शब्दों में "ब्रजभाषा के स्वरूप को स्थिर एवं समृद्ध करने के कारण, कलात्मक अभिव्यंजना का अद्भुत विकास करने के कारण और नवीन काव्य-माध्यम प्रस्तुत करने के कारण हिंदी काव्य में सूर का स्थान मूर्धन्य है। सूर के पूर्व हिंदी काव्य-कला की स्थिति सर्वथा उपेक्षणीय थी। अकेले सूर के प्रतिभ स्पर्शों से वह सहसा जगमगा उठी। अतः हिंदी काव्य-कला के इतिहास में सूर का स्थान निर्माता कलाकारों की परम्परा में अग्रगण्य रहेगा।" (**सूर की काव्य कला, डॉ० मनमोहन गौतम** पृ० ३५६-३५७)

प्रश्न—"सूर सूर तुलसी शशी" की सार्थकता पर विचार कीजिए ?

उत्तर—सोलहवीं शताब्दी में हिंदी-संसार के सामने साहित्य-गगन के

उन उज्ज्वलतम तीन तारों का उदय हुआ जिन[illegible] वे आज तक ज्योतिर्मान है और उनके विषय में जन प्रसिद्धियाँ भी इस रूप में प्रचलित हो गई—

> सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
> अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥
> कविता करिता तीन हैं तुलसी केशव सूर।
> कविता खेती इन लुनी, सीला बिनत मजूर॥

यह सम्मति कहाँ तक मान्य है इस विषय में विशेष तर्क-वितर्क करना यहाँ उचित नहीं है परन्तु इतना मैं अवश्य कहूँगा कि इस प्रकार के सर्वसाधारण के विचार सर्वथा उपेक्षा योग्य नहीं होते और वे किसी आधार पर ही होते हैं तथा उनमें तथ्य भी रहता है परन्तु "सूर सूर तुलसी ससी" वाले दोहे को लेकर विचारकों में काफी मतभेद सा पाया जाता है और सूर एवम् तुलसी की तुलना करते समय श्रेष्ठता की दृष्टि से उनका स्थान निश्चित करने में कठिनता अवश्य पड़ती है कारण कि कुछ विद्वान तो इसे ठीक समझते हैं और कुछ इसे सर्वदा भ्रामक मानते हैं। यह तो निर्विवाद है कि जन प्रसिद्धि का सम्बंध कई अन्य बातों से होता है और उसे काव्य की अंतिम कसौटी नहीं माना जा सकता अतएव इस दोहे की सार्थकता पर विचार करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम इस ओर आकृष्ट होता है कि इस उक्ति के अनुसार सूर 'सूर्य' के समान हैं और तुलसी 'चन्द्रमा' के समान। अतएव चूँकि सूर्य का गौरव चन्द्रमा से अधिक होता है क्योंकि चन्द्रमा स्वयं प्रकाशित न होकर सूर्य के प्रकाश का प्रतिफलन मात्र है अतः इस प्रकार सूर तुलसी से अधिक गौरवपूर्ण पद पर आसीन हो जाते हैं।

स्मरण रहे सूर और तुलसी की तुलना हिंदी के अधिकांश समीक्षकों ने की है लेकिन उनमें मतैक्य का अभाव सा है। डॉ० श्यामसुन्दरदास का कहना है "तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है। व्यवहार दशाओं की अधिकता तुलसी तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यंजना सूर के काव्य में प्राप्त होती है। पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। सूरसागर के सम्बंध में कहे गए निम्नांकित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते—सूर सूर तुलसी ससी।" (**हिंदी साहित्य - डॉ० श्यामसुन्दरदास** लेकिन मिश्र

बंधुओं का विचार है कि "जैसे विष्णु भगवान् के दशावतारों में से राम और कृष्ण ही की पूर्ण महिमा है वैसे हिंदी साहित्य के इस 'नवरत्न' में से तुलसीदास एवं सूरदास ही सूर्य और चंद्र की भाँति महिमा एवं कवित्व-शक्ति में सबसे बढे हुए देख पड़ेंगे। इन दोनों में भी अब हम तुलसीदास को ही प्रथम स्थान देते है। अधिक क्या कहें, हमारी स्वल्प बुद्धि के अनुसार महात्मा तुलसीदास से बढकर कोई कवि, हमारी जानकारी में, कभी किसी भी भाषा में, संसार-भर में, कहीं नहीं हुआ।" (**हिंदी नवरत्न : मिश्रबंधु; पृ० १२८-१२९**) इसी प्रकार लाला भगवानदीन की दृष्टि मे "महात्मा तुलसीदास जी की व्यापकता को देखते हुए जब हम सूर को सामने लाते हैं तो तुलसी का पलडा कुछ झुका हुआ नजर आता है। तुलसी ने सभी क्षेत्रों का मसाला भरा है, किसी को नहीं छोड़ा। साहित्यिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक, दार्शनिक कोई भी क्षेत्र ऐसा न बचा जो 'तुलसी' की कृपा-कोर मे वंचित रहा हो। तुलसी का लक्ष्य इतना संकुचित नहीं था कि वे कविता या संप्रदाय तक ही सीमित रहते। कवि का धर्म है कि वह अपने समय की सभी प्रकार की—साहित्यिक, सामाजिक, नैतिक आदि—विशृंखलताओं को दूर करे। तुलसी ने यही किया भी। इसके विपरीत सूर का हृदय एकान्त प्रेमी था। इसी कारण उन्होंने एकमात्र प्रेम का ही वर्णन किया। प्रेम के सभी अंगों का खूब विस्तृत वर्णन किया। यद्यपि दोनों महात्माओं और महाकवियों ने जो भी कविता की सब 'स्वान्तःसुखाय' की किंतु तुलसी के 'स्वान्तःसुखाय' ने सारे समाज को, मानव समुदाय से सम्बंध रखने वाले प्रत्येक समाज को बहुत लाभान्वित किया, सुख पहुँचाया; और सूर ने केवल काव्य को, सम्प्रदाय तथा सहृदय रसिक समाज को ही आनन्दाम्बु से आप्लावित किया।" (**सूर पंचरत्न, अंतर्दर्शन, पृ० १७०**) इस प्रकार लाला भगवानदीन की दृष्टि में गोस्वामी तुलसीदास जी सूर से एक दो कदम आगे बढ़े हुए जान पड़ते है। डॉ० जनार्दन मिश्र ने भी सूर की अपेक्षा तुलसी को अधिक महत्त्व दिया है और उनका कहना है "सूरदास निस्संदेह महान् हैं परन्तु उनमें जीवन की वह अन्तर्दृष्टि नहीं जो तुलसी में है। तुलसी ने मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के आदर्शों को काव्य का विषय बनाया है। सूरदास केवल जीवन के कुछ अंगों तक ही सीमित रहते हैं यही कारण है कि उन्हें वह स्थान नहीं मिला जो तुलसी

को मिला ठीक इसके विपरीत श्री नलिनीमोहन सान्याल ने सूर को तुलसी से उच्च स्थान दिया है।

वस्तुतः तुलसी और सूर का सबसे विशद तुलनात्मक विवेचन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही किया है और उनके अध्ययन का सार संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है—

(१) तुलसी का ब्रजभाषा और अवधी दोनों काव्य भाषाओं पर तुल्य अधिकार था और उन्होंने जितनी शैलियों की काव्यरचना प्रचलित थी उन सब पर बहुत उत्कृष्ट रचना की है। यह बात सूर में नहीं है। सूरसागर की पद्धति पर वैसे ही मनोहारिणी और सरस रचना तुलसी की गीतावली मे मौजूद है, पर रामचरितमानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई कृति नहीं है।

(२) मनुष्य जीवन की जितनी अधिक दशायें जितनी अधिक वृत्तियाँ तुलसी ने दिखाई हैं उतनी सूर ने नहीं।

(३) तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किये हैं वैसे सूर ने नहीं।

(४) तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी। पर एकमुखी होकर उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक की दौड़ लगाई है उतनी दूर तक की तुलसी ने भी नहीं; और किसी कवि की तो बात ही क्या है।

(५) सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है। + + + उन्होंने अनन्य उपासना के अनुसार कृष्ण या हरि को छोड़ और देवताओं की स्तुति नहीं की है। ग्रंथारम्भ में भी प्रथानुसार गणेश या सरस्वती को याद नहीं किया है। पर तुलसीदास जी की वंदना कितनी विस्तृत है, यह रामचरितमानस और विनय-पत्रिका के पढ़ने वाले जानते हैं। उनमें लोक संग्रह का भाव पूरा-पूरा था। उनकी दृष्टि लोकविस्तृत थी। जन समाज के बीच—या कम से कम हिन्दू समाज के बीच—परस्पर सहानुभूति और सम्मान का भाव तथा सुखद व्यवस्था स्थापित देखने का अभिलाष भी उनमें बहुत कुछ था। शिव और राम को एक दूसरे का उपासक बनाकर उन्होंने शैवों और वैष्णवों में भेदबुद्धि रोकने का प्रयत्न किया था। पर सूरदास जी का इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं था।" (**सूरदास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल: पृ० २१३ २१४**

इस प्रकार की तुलनात्मक विवेचना के पश्चात् शुक्ल जी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला कि सूर सूर तुलसी ससी...... ।" इससे यह स्पष्ट है कि वे तुलसीदास को सूरदास से श्रेष्ठ कवि मानते है। इधर हाल ही में प्रकाशित अपने गवेषणात्मक प्रबंध 'सूर की काव्य-कला' में डॉ० मनमोहन गौतम ने भी सूर और तुलसी की तुलना की है तथा उनका विचार है कि "तुलसी और सूर दोनों ही महाकवि हिंदी साहित्य के सूर्य और चद्र है। प्रबंध-काव्यकला की दृष्टि से तुलसीदास जी अद्वितीय है सूर का उस क्षेत्र में कोई दावा ही नहीं है। किन्तु गीतिकाव्य की रचना मे सूर की उपलब्धि उनसे कहीं अधिक है। ब्रजभाषा के स्वरूप-निर्माण, पद-रचना, गीति-काव्यत्व और अभिव्यंजना की चमत्कारमूलक प्रणालियों के निर्माण और विकास में सूर ने जितना योगदान किया है उतना तुलसी ने नही किया। तुलसी की कला सूर्य का आतप है और सूर की कला स्निग्ध चाँदनी।" (**सूर की काव्यकला : डॉ० मनमोहन गौतम; पृ० ३६०**)

यदि हम उन तर्कों पर विचार करें जो आचार्य शुक्ल ने सूर की अपेक्षा तुलसी को श्रेष्ठ मानते हुए प्रस्तुत किए हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि उनसे तुलसी का पांडित्य ही प्रकट होता है न कि काव्यत्व। कोई कवि-विशेष यदि समस्त प्रचलित शैलियों को सफलता के साथ अपना कर अवधी तथा व्रज दोनों में ही समान अधिकार के साथ काव्य-रचना कर सका तो इसका अर्थ केवल यही है कि उसे छन्द-शास्त्र का भली-भाँति ज्ञान था और उसमे पांडित्य की मात्रा अधिक थी। इन दोनों बातों का सम्बन्ध शिक्षा-दीक्षा से है न कि काव्य-प्रतिभा से अतः हमारी दृष्टि में सूर पर यह आरोप लगाना कि वे अवधी और व्रज भाषाओं को तथा समस्त काव्य-प्रणालियों को समान रूप से नहीं अपना सके उचित नहीं है। इसी प्रकार कृष्ण-कथा लीला-मात्र है और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भी कवि को कृष्ण लीलाओं का गान करने के लिए कहा था परन्तु राम की कथा चरित्र है अतः स्वाभाविक ही तुलसी की भाँति सूर मनुष्य-जीवन की उतनी अधिक दशाओं का चित्रण न कर सके लेकिन किसी कवि का मूल्यांकन करते समय हमें यह नहीं देखना चाहिए कि उसने जीवन की कितनी दशाओं का वर्णन किया है अपितु इस बात पर विचार करना चाहिए कि उसने कितनी दशाओं को काव्य एव से

पुष्ट किया है। साथ ही तुलसी के व्यक्तित्व की विभिन्नता और रामकथा की अनेकरूपता ही तुलसी की प्रतिभा को सर्वतोमुखी बना सकी है अतः इस दृष्टि से सूर की प्रतिभा को एकमुखी कहना युक्तिसंगत नहीं है। स्मरण रहे आदर्श-निर्माण एवं लोक-संग्रह का सम्बन्ध कार्य व्यवस्थापक का होता है अतः सूर से तुलसी की तुलना करते समय हमें मानस के उन स्थलों को छोड़ देना पड़ा जहाँ कि पात्रों का चरित्र आदर्श बनाने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार वल्लभाचार्य की धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित होने के पश्चात् सूर ने जो पद लिखे है उन्हें लक्ष कर सूरदास पर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाना उचित नहीं है कारण कि अन्य सम्प्रदायों एवं धार्मिक मतो के प्रति वे कहीं भी असहिष्णु नहीं जान पड़ते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि "सूर सूर तुलसी ससी" वाला दोहा संभवतः यमक के लोभ से नहीं बनाया गया और जिस किसी ने भी इसे बनाया है उसने केवल काव्य-प्रतिभा एवं कवित्व-शक्ति पर ही ध्यान दिया है। अब हमें यहाँ इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या इस दृष्टिकोण से हम इस उक्ति को युक्तिसंगत कह सकते है ?

जैसा कि सूर के भाव-जगत पर विचार करते समय स्पष्ट हो जाता है सूर का क्षेत्र सीमित था और उन्होंने बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक ही अपने को सीमित रखा। वस्तुतः बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक की मधुर क्रीडाओं का चित्रण ही वे अपने काव्य में कर पाए और इससे आगे जाने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी जब कि तुलसी ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अपनाया है। इसमे कोई संदेह नही कि मानव-जीवन में बाल्यकाल और यौवनावस्था ही अत्यंत महत्वपूर्ण काल है अतः सूर ने इसी स्वर्णिमकाल को अपनी लेखनी का विषय बनाकर उचित किया है। साथ ही वात्सल्य और शृंगार रस के निरूपण में जितनी अधिक सफलता सूर को मिली है उतनी तुलसी को नहीं। यद्यपि तुलसी ने सूर के अनुकरण पर 'गीतावली' में बाल्यकाल के सुन्दर चित्र अंकित करने का प्रयास अवश्य किया है लेकिन सूर की सी बाल चेष्टा के स्वाभाविक, सुमधुर और सरस चित्रों का भंडार उसमें कहीं भी नहीं है। इसी प्रकार सूर ने शृंगार रस के प्रत्येक अंग को स्पर्श कर भाव, विभाव तथा अनुभाव को अनेक रूपों से उपस्थित किया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि

सूर-काव्य में सञ्चारी भावों की संख्या इतनी अधिक है कि प्रेम के सम्बन्ध में इतनी अधिक मानसिक वृत्तियों का निरूपण कोई भी नहीं कर सका। तुलसी का शृंगार वर्णन संयमित और मर्यादित है तथा उसमें संयोग और विप्रलंभ का विस्तृत एवं व्यापक रूप कहीं भी नहीं दीख पड़ता। यह अवश्य है कि तुलसी ने वीर, रौद्र, करुण और भयानक आदि अन्य रसों का भी अत्यंत कुशलता के साथ वर्णन किया है तथा इस प्रकार रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से उनकी काव्य कृतियों में समस्त रसों का निर्वाह कुशलता-पूर्वक हुआ है परन्तु सूर केवल दो या तीन रसों का ही चित्रण अत्यंत कुशलता के साथ कर सके हैं।

साथ ही तुलसी न केवल रस-व्यंजना में सिद्धहस्त हैं और उन्होंने सभी रसों का सफलता पूर्वक चित्रण किया है बल्कि तत्कालीन प्रचलित समस्त काव्य शैलियों पर भी उनका अद्वितीय अधिकार रहा है। वीरगाथायुगीन छप्पय पद्धति, अपभ्रंशयुगीन दोहा पद्धति, विद्यापति और सूर की सी गीत-पद्धति, पद्मावत की सी प्रबंध-काव्य-पद्धति, भाटों की सी कवित्त सवैया पद्धति तथा रहीम की सी बरवै शैली को तुलसी ने सफलता पूर्वक अपनाया है और इस प्रकार हिन्दी साहित्य में वे ही एक मात्र ऐसे कवि हैं जो कि सम-कालीन प्रचलित समस्त काव्य शैलियों को कुशलता से अपना सके। इसके विपरीत सूर ने केवल गीति-पद्धति को ही अपनाया है और सूर-साहित्य में निस्संदेह गीति-काव्य की सभी आवश्यक विशेषताएँ दृष्टिगोचर हो जाती हैं। सूर के सदृश्य गीति-काव्य में कविता एवं संगीत का अनुपम संगम अन्यत्र दुर्लभ ही है। यों तो तुलसी की विनय-पत्रिका में भी गीति-काव्य के सभी लक्षण विराजमान हैं और डॉ० भगीरथ मिश्र का तो यहाँ तक कहना है कि "तुलसी की गीति-भावना में दास्य की उपासना है पर यदि प्राचीन काल में अकेला कोई ग्रंथ शुद्ध गीतिभावना को लेकर लिखा गया कहा जा सकता है तो वह 'विनय-पत्रिका' है।" **(साहित्य, साधना और समाज : डॉ० भगीरथ मिश्र; पृ० १२९)** परन्तु गीतिकाव्य की दृष्टि से सूरदास का स्थान तुलसी से कहीं अधिक उच्च है।

यह तो सर्वविदित ही है कि तुलसी ने ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं को सफलता के साथ अपनाया है तथा उनके दोनों रूपों—एक तो संस्कृत

गर्भित रूप और दूसरा लोक प्रचलित ग्रामीण रूप पर उनका समान अधिकार रहा है। यही कारण है कि एक ओर तो 'मानस' में हमें संस्कृतगर्भित अवधी का सुघरतम रूप दृष्टिगोचर होता है और दूसरी ओर 'रामलला नहछू' में लोक प्रचलित अवधी का। इसी प्रकार कवितावली, गीतावली, विनयपत्रिका में व्रजभाषा के विविध रूपों को सुन्दर झाँकी देख पड़ती है अतः हम कह सकते हैं कि तुलसी का दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था जब कि सूर ने केवल व्रजभाषा को ही अपनाया है। स्मरण रहे दोनों ही कवियों ने अपनी कृतियों में अलंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है और उनकी अलंकार-व्यंजना में केशव की भाँति पांडित्य-प्रदर्शन कहीं भी नहीं है परन्तु इतना अवश्य है कि तुलसी की अलंकार-योजना सूर की भाँति स्वाभाविक, सहज, सुलभ और हृदय के इतना अधिक निकट नहीं है तथा कहीं-कहीं वह प्रयत्न प्रकृत भी जान पड़ती है। सूर की उपमाएं एवं उत्प्रेक्षाएं अधिक प्रचुर, अधिक स्वाभाविक और पाठकों के लिए अधिक मूर्त एव परिचित हैं। यों तो सूर ने भी कहीं-कहीं अत्युक्ति की हद सी कर दी है और इससे अलंकारों का प्रयोग अति पर पहुँच गया लक्षित होता है लेकिन ऐसे स्थल न्यून संख्या में ही हैं।

यद्यपि पद छन्द के चुनाव एवं प्रबंधात्मकता के अभाव से सूरकाव्य में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व नहीं मिला है लेकिन इतना होते हुए भी तुलसी की अपेक्षा उनके चरित्र-चित्रण में कुछ निजी विशिष्टताएँ भी हैं। स्मरण रहे सूर ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय देवत्व भाव को एकदम ही दृष्टि से ओझल कर दिया है जब कि तुलसी ने सर्वत्र देवत्व की प्रतिष्ठा पर ही ध्यान दिया है। इसी प्रकार सूर की भाँति किसी मौलिक चरित्र को अंकित करने की ओर भी उनकी दृष्टि नहीं गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूर की राधा हिन्दी साहित्य को अनूठी देन है और उसका चरित्र-चित्रण मौलिक ही है। जैसा कि विचारकों का मत है "सूरदास ने हिन्दी-काव्य जगत को राधा का चरित्र दिया जिसे प्रेम की तन्मयता एवं परिपूर्णता की दृष्टि से किसी भी चरित्र के सम्मुख रखा जा सकता है। उनके सामने सीता का चरित्र फीका पड़ जाता है, कारण कि राधा के निर्माण में सूर ने हमारे प्रतिदिन के परिचित और साथ ही गहरे रंगों का प्रयोग किया

है। वह हमारे सामने चचंल बालिका नव यौवना विलास केलि प्रिय नायिका, विरहिणी, एव पत्नी के रूप मे उपस्थित की गई है। + + + वह चरित्र जीवित और स्पंदित है। यशोदा के चरित्र के सम्मुख कौशल्या का चरित्र खुलता नहीं दीखता। वह माँ के जीवन के अंगों को इतनी सहृदयता और विशदता से नहीं छूता। आवश्यकता इस बात की है कि राधा और यशोदा के प्रसंगों में वे पद भी ध्यान से पढ़े जायँ जो दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध में उनके सम्बन्ध में मिलते हैं और जो उनके जीवन की एक नई दिशा को हमारे सामने लाते हैं। नन्द से दशरथ की तुलना कीजिए। यह तुलना सूर की यशोदा भी करती है। जहाँ दशरथ प्राण छोड़ सकते हैं वहाँ सूरदास के नन्द क्लेश-कष्ट को सहने के लिए अपनी छाती वज्र की बना लेते हैं; पिता का ऐसा सहज, इष्ट और गम्भीर प्रेम हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं।" (**सूर-साहित्य की भूमिका : डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी; पृ० २६२**) यहाँ यह भी ध्यान में रहना चाहिए कि राम की देवत्व भावना के कारण तुलसी के अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण में अनेक स्थानों पर दुर्बलता सी आ गई है और उनके राम सर्वत्र अलौकिक तथा आदर्श ही रहे हैं जब कि सूर ने अलौकिक का चित्रण भी लौकिक रूप में किया है।

सौंदर्य-चित्रण की दृष्टि से विचार करते समय स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही कवियों ने अपने पात्रों के रूप-सौंदर्य को अलंकारों से पुष्ट कर हमारे सामने प्रस्तुत किया है। जहाँ तक पुरुष सौंदर्य के चित्रण का प्रश्न है तुलसी को इस दिशा में अवश्य अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई है और उन्होंने अपने पुरुष-चित्रों में सुन्दरता के साथ-साथ शौर्य्य एवं ऐश्वर्य का भी अंकन किया है लेकिन सूर के चित्रों मे कोमलता ही अधिक है परन्तु इतना होते हुए भी उनकी प्रतिभा पग-पग पर नवीन उद्भावनाओं द्वारा नित्य नूतन सौंदर्य की सृष्टि करने में सफल रही है। हाँ नारी सौंदर्य के अंकन में तो सूर तुलसी से बहुत आगे बढ़े हुए जान पड़ते हैं और अपनी बहुमुखी प्रतिभा एवं उद्भावना-पूर्ण कल्पना के कारण उनकी उक्तियों में अपूर्व चमत्कार सा आ गया है। सीता के सौन्दर्य को तुलसी ने बहुत ही गौण स्थान दिया है तथा उसमें वैसी भावात्मकता और सुघरता भी नहीं है। साथ ही सूर का प्रकृति-चित्रण भी अद्वितीय है और सूर-काव्य में प्रकृति संवेदनशील ही प्रतीत होती है तथा वह

गोपियों के सुख दुख में हाथ बटाती हुई सी जान पड़ती है। तुलसी का प्रकृति-चित्रण अध्यात्म एवं ज्ञानोपदेश के बोझ से लदा हुआ है तथा स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण की ओर उनका ध्यान नहीं गया।

स्मरण रहे तुलसी की भाँति सूर ने दार्शनिक और धार्मिक कर्मकाण्ड सम्बन्धी व्यवस्था नहीं दी है तथा उनका एकमात्र ध्येय काव्य सृजन ही रहा है जब कि तुलसी मानस के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थल पर दर्शन और धर्म को कविता से आगे रखने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार तुलसी की काव्य-प्रतिभा के मध्य उनका पांडित्य, अनेक क्षेत्रों में सामंजस्य स्थापित करने की अभिलाषा और रामोपासना को स्थापित करने का उत्साह ये तीनों बातें भी विराजमान हैं अतः स्वाभाविक ही कहीं-कहीं उनका काव्यत्व दब सा गया है तथा उन्होंने अनेक मनोविज्ञान पूर्ण एवं काव्यत्वमय स्थलों की उपेक्षा सी की है।

इस प्रकार अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तुलसी की काव्य-भूमि व्यापक है, मानव जगत के प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक रूप से उनका परिचय है जब कि सूर का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और बाल्य एवं यौवनकाल तक ही उनकी पहुँच रही है। साथ ही भाषा, छन्द, अलंकार, प्रबंधात्मकता, मानव जीवन से तादाम्यता आदि दृष्टिकोणों से भी तुलसी सूर से अधिक उच्च हैं और मानवीय आदर्शों की स्थापना में भी वे अद्वितीय हैं। इस तरह अपने व्यापक क्षेत्र के कारण वे अपेक्षाकृत अधिक सफल कवि हैं लेकिन अपने सीमित क्षेत्र में ही सूर को तुलसी से कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई है और इस दृष्टि से सीमित क्षेत्र में उत्कृष्टतम काव्य-सृजन करने के कारण वे तुलसी से कहीं अधिक उच्च जान पड़ते हैं। डॉ० रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी के शब्दों में "यदि कविता की उत्कृष्टता इस बात में हो कि वह कवि के लिए उतनी ही नैसर्गिक हो जितने बसन्त के पेड़ों को नये पत्ते और अंकुर तो सूर की जैसी कवि-प्रतिभा तुलसी में नहीं। सहज नैसर्गिक कविता में सूर तुलसी को पीछे छोड़ जाते हैं। जहाँ रामभक्ति के प्रचार के उत्साह, लोक-मर्यादा की भावना और साहित्यिक एवं धार्मिक अनेक धाराओं में सामंजस्य उपस्थित करने की प्रेरणा ने तुलसी के काव्य को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ साहित्य बना दिया है जिसमें मध्ययुग के भारत का हृदय

उतर सका है वहाँ इन्हीं तत्त्वों के विकास के लिए तुलसी को कुछ मूल्य भी चुकाना पड़ा है। यह मूल्य है सहज कवित्व-शक्ति के प्रस्फुटन का।" (सूर-साहित्य की भूमिका; पृ० २६६)

सूर-प्रभा

की

...द व्याख्या
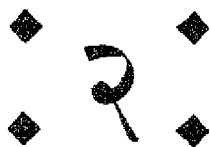
- अवतारणा—संदर्भ
- शब्दार्थ
- भावार्थ—पदों का विस्तृत स्पष्टीकरण
- अन्य विशेषताएँ
- टिप्पणी
- तुलनात्मक अध्ययन
- अन्तर्कथाएँ
- अलंकार

..........इत्यादि

सूर-प्रभा की विशद व्याख्या	टीका और आलोचना

पद १. चरन कमल बंदौं हरि राई

अवतारणा—प्रस्तुत पद में कविवर सूरदास ने मंगलाचरण के रूप में अपने इष्टदेव के चरण कमलों की वंदना करते हुए उनकी कृपाशीलता का गुणगान किया है।

शब्दार्थ—पंगु—लंगड़ा। गिरि—पर्वत। दरसाई—दिखाई देना। रंक—निर्धन।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के चरण कमलों की वंदना करते हुए कवि कह रहा है कि यदि उनकी कृपा हो जाए तो जिस व्यक्ति के लिए थोड़ी दूर चलना भी कष्टकर हो जाता है वही लंगड़ा व्यक्ति आसानी से पर्वत तक को लाँघ सकता है और दृष्टिसुख से वंचित नेत्रहीन अंधा व्यक्ति भी सुगमता से सब कुछ देख सकता है। इतना ही नहीं उनकी कृपा से बोलने में असमर्थ मूक व्यक्ति भी सम्भाषण करने में समर्थ हो सकता है तथा श्रवणेन्द्रियों से वंचित बधिर व्यक्ति भी सुनने लग जाता है और निर्धन भी इतना अधिक धनवान हो जाता कि वह सिर पर राजछत्र धारण करके चलने लगता है। इस प्रकार सूरदास का कहना है कि ऐसे करुणामय भगवान श्रीकृष्ण के चरणों की मैं बार-बार वंदना करता हूँ।

अन्य विशेषताएँ—१. सामान्यत: यह सूरदास द्वारा रचित प्रथम पद कहा जाता है और हम देखते हैं कि कविवर सूरदास ने भी मंगलाचरण से ग्रंथ प्रारम्भ करने की परिपाटी का अनुसरण किया है तथा अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण के चरण कमलों की वंदना कर अपनी काव्य-कृति की निर्विघ्न समाप्ति के लिए प्रार्थना की है।

२. इस पद की भाव-धारा का मूल स्रोत संस्कृत का यह श्लोक है—

मूकं करोति वाचालं पंगु लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

साथ ही तुलसीदास ने भी मानस के में इसे
है

मूक होई वाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सुदयालु, द्रवौ सकल कलिमलदहन ॥

३. वस्तुतः ईश्वरोपासना के हेतु आचार्यों ने जो विभिन्न मार्ग बतलाए है उनमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य एवम् आत्म-निवेदन नामक नौ मुख्य मार्ग माने गए हैं लेकिन इन्हें खोज निकालने के हेतु सर्वप्रथम विनय की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः मानव-जीवन तो विनयमय ही है और विनय द्वारा ही उसके हृदय में आलौकिक भावनाओं का उदय होता है तथा वास्तविक शांति भी प्राप्त होती है। इस दृष्टि से भी प्रस्तुत पद का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि इसमें कवि की विनम्रता ही झलकती है।

४. कवि ने अपने इष्टदेव को सर्वशक्तिमान कहा है कारण कि वह सब कुछ करने में समर्थ है तथा मूक, वधिर, पंगु, नेत्रहीन, निर्धन आदि सभी प्रकार के व्यक्तियों की मनोकामनाएँ सहज ही पूर्ण कर सकता है।

अलंकार—प्रथम पंक्ति में चरणों को कमल मान लिया गया है अतः उसमे स्वाभाविक ही रूपक अलंकार प्रयुक्त हुआ है। 'अंधे को सब कुछ दरसाई' मे गूढोक्ति ही है तथा उसमें विवृतोक्ति और समासोक्ति मानना उचित नहीं है। कतिपय टीकाकार इन पंक्तियों को आत्मपरक मान कर यह अर्थ भी करने लगते हैं कि इनमें कवि ने निजी भावनाओं का चित्रण किया है परन्तु यह स्वीकार करते हुए भी कि कवि अपनी उक्तियों में बहुधा स्वकथन भी करता है यहाँ पर हम इन पंक्तियों से यह अभिप्राय ग्रहण करना अनुचित ही समझते हैं कि इनमें कवि ने स्वयं के विषय में कुछ कहा है कारण कि इससे भक्त की स्वार्थपरता ही प्रकट होती है। रूपक, गूढोक्ति के अतिरिक्त दूसरी और तीसरी पंक्तियों में विरोधाभास भी है।

पद २. अविगत-गति कछु कहत न आवै

अवतारणा—इस पद में कवि ने समकालीन सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए निर्गुण ब्रह्म की उपासना में कठिनाई का अनुभव कर साकारोपासना को ही श्रेष्ठतम माना है।

शब्दार्थ—अविगत—अज्ञात-अनिर्वचनीय- जिसका अनुभव करने पर भी वर्णन न किया जा सके हीं—हृदय मे निरंतर

अमित तोष—परम संतोष। अगम—दुर्बोध, बुद्धि से परे। अगोचर—अव्यक्त, इंद्रियाँ जिनका अनुभव न कर सकें।

भावार्थ—सूरदास का कहना है कि ईश्वर का महत्त्व वर्णन करना सहज नहीं है और वास्तविकता तो यह है कि उस अज्ञात रहस्य-शक्ति का हम अनुभव कर सकते हैं लेकिन उसका वर्णन करने मे असमर्थ ही रहते हैं। जिस प्रकार एक गूंगा व्यक्ति किसी सुमधुर फल का रसास्वादन तो सरलता के साथ कर लेता है लेकिन वह अपने आनन्द की अभिव्यक्ति करने में असमर्थ ही रहता है उसी प्रकार भक्त भी अपने आराध्य की उपासना करते समय हृदय मे ही उसकी मूर्ति स्थापित कर अपार संतोष पा जाता है। कवि का कहना है कि ईश्वर मन और वाणी से परे है तथा उसे वही समझ सकता है जो कि उस तक पहुँचे अन्यथा रूप, रेखा, गुण, जाति आदि का आधार न होने के कारण सर्वसाधारण उस तक पहुंच नहीं पाते और न उसको प्राप्त करने की कोई युक्ति खोज पाते हैं अतः उनका अवलम्बहीन मन इधर-उधर भटका करता है। सूरदास का कहना है कि जिस ईश्वर को दुर्बोध कहा जाता है उसी की लीलाओं का वर्णन मैं यहाँ कर रहा हूँ।

अन्य विशेषताएँ—१. इस पद का काव्य-सौंदर्य स्पष्ट करते समय कतिपय विचारक इसमें निर्गुण और सगुण की तुलना भी देखते हैं तथा उनका कहना है कि सूरदास जी ने प्रारंभिक पाँच पंक्तियों में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन कर अंत में सगुणोपासना को ही श्रेष्ठतम कहा है। यों भी उस समय निर्गुण और सगुण दोनों ही प्रकार की भक्ति पद्धतियाँ प्रचलित थी। इस प्रकार इस पद में कवि ने यह कहा है कि निर्गुण उपासना का आनन्द बहुत कुछ आंतरिक ही है और भक्त निराकार ब्रह्म का केवल अनुभव मात्र कर सकता है तथा उसका वर्णन करना सहज नहीं है। सूरदास जी का कहना है कि अव्यक्त और निर्गुण ब्रह्म ज्ञान का ही विषय है तथा ज्ञान-योग-साधन से जो उसे जान लेता है वही उसके साक्षात्कार का सुख भी प्राप्त कर सकता है लेकिन रूप, रेखा, गुण, जाति आदि का आधार न होने के कारण सर्व-साधारण के लिए मन की एकाग्रता असंभव ही है अतः वे उसे सहज ही नहीं समझ सकते और उनका मन इधर उधर भटका करता है। इसलिए सूरदास जी का विचार है कि निर्गुणोपासना कष्ट-साध्य ही है तथा साकार ब्रह्म की उपासना ही है।

२—अंतिम पंक्ति से यह अर्थ भी स्पष्ट होता है कि सूर का उद्देश्य सगुण ब्रह्म की विविध लीलाओं का ही वर्णन करना था और इसीलिए सूरसागर में उन्होंने अपने इष्टदेव की विभिन्न लीलाओं का वर्णन किया है।

३—यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि वल्लभ-सम्प्रदाय में ईश्वर के दोनों रूप निर्गुण और सगुण मान्य हैं लेकिन उस मार्ग का इष्ट रस रूप सगुण ब्रह्म ही कहा जाता है तथा कर्म, ज्ञान, योग एवं भक्ति नामक विविध मार्गों में भक्ति को ही अपनाना श्रेयस्कार माना गया है अतः सूर आदि अष्टछापी कवियों ने भी सगुण ईश्वर की उपासना का भाव अपनी उक्तियों में प्रकट किया है। इस प्रकार सूरसागर के प्रारंभ में ही कवि ने निर्गुणोपासना के मार्ग में होनेवाली कठिनाइयों का उल्लेख कर अपने को सगुण ईश्वर की भक्ति मे रत कहा है।

पद ३. विनती सुनौ दीन की चित दै कैसे तव गुन गावै ?

अवतारणा—वल्लभाचार्य जी ने 'तत्वदीप निबन्ध' के शास्त्रार्थ प्रकरण मे सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते समय भगवान की शक्ति स्वरूपा माया का भी वर्णन किया है। स्मरण रहे ब्रह्म और जीव के मध्य अज्ञान-रूपिणी माया का परदा रहता है जो कि दोनों के सम्मिलन में बाधक होता है। चूँकि माया का यह बाह्य रूप अत्यधिक आकर्षक और सुखदायी प्रतीत होता है अतः जीव भी लोलुपता में पड़ अपने लक्ष्य से भटक जाता है। वल्लभाचार्य जी ने माया के दो रूप विद्या माया और अविद्या माया माने हैं जिन्हें कि सत्य माया तथा मिथ्या माया भी कहा जाता है। प्रस्तुत पंक्तियों में कविवर सूरदास ने माया के इन्हीं दोनों रूपों का चित्रण किया है।

शब्दार्थ—लकुटि—लकड़ी। कोटिक—करोड़ों। लोभ-लागि—लोभ मे लगाकर। कपट—छल। भ्रमावैं—चकित करना। मिथ्या—असत्य। बौराना—पागल बनाना। अघ—पाप, अधर्म। दूती—कुटनी, वह स्त्री जो भोलीभाली स्त्रियों को बहकाकर पर पुरुषों से मिलावे।

भावार्थ—सूरदास जी कहते हैं कि हे भगवान आप मुझ दीन की विनती ध्यान से सुनिए और मुझे आपका गुणगान करने में समर्थ बनाइए क्योंकि यह नटिनी माया मुझे विभिन्न सांसरिक जंजालों में फँसाकर इस प्रकार नचा रही है कि मैं आपके गुणों का वर्णन नहीं कर पा रहा हूँ कवि ने यहाँ

माया को नटिनी कहा है और कहते हैं नट लोग एक लकड़ी के इशारे से ही नृत्य की शिक्षा देते हैं। साथ ही उस नटिनी का नृत्य भी इतना सुन्दर होता है कि लोग उसकी ओर आकृष्ट से हो जाते हैं अतः कवि का अभिप्राय यह है कि नटिनी की भाँति माया भी सांसरिक जीवों को अपनी ओर आकर्षित कर विभिन्न परेशानियों में उलझा देती है। इतना ही नहीं वह जीव को लोभ से प्रेरित कर अपनी लोलुपता-पूर्ति के हेतु द्वार-द्वार भटकाती फिरती है और उनकी तृष्णा इतना अधिक बढ़ा देती है कि वे बेचारे विभिन्न प्रकार के अच्छे बुरे सभी कार्यों को करने के लिए विवश हो जाते हैं। कवि का कहना है कि यह माया न केवल उनसे (ईश्वर से) छल करती है अपितु साथ ही वह स्वयं बुद्धि में भ्रम पैदा कर उनके मन में कामनाओं की अनेक तरंगे उत्पन्न कर रात्रि में भी सोने नही देती तथा व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों में फँसाकर कल्पनाओं का जाल बुनने के लिए विवश कर देती है। कवि का कहना है कि माया व्यक्ति को इतना अधिक लोलुप बना देती है कि उसे सोते जागते हमेशा धन-संचय ही याद रहता है और सपने में भी उसे केवल धन ही दिखाई देता है अतः वह मिथ्या सुख में फँसकर पागल सा हो जाता है। यह माया महामोहिनी है अर्थात् उसमें व्यक्ति को आकर्षित करने की अद्भुत क्षमता विद्यमान है और वह मनुष्य की आत्मा को इस प्रकार मोह में डाल देती है कि उसका मन अनेक पाप कर्मों की ओर प्रवृत्त हो जाता है। जिस प्रकार कोई कुटिनी दूसरे पुरुष की स्त्री को बहकाकर पर पुरुष से मिला देती है उसी प्रकार यह माया भी जीव को पथभ्रष्ट कर देती है। सूरदास का कहना है कि वे तो उन्हीं—ईश्वर—को ही अपना एकमात्र आराध्य समझते हैं तथा उन्हें ही अपना मुक्तिदाता भी मानते हैं अतः वे भगवान से यह प्रार्थना कर रहे है कि वे उन्हें इन सांसारिक भव-बाधाओं से छुटकारा प्रदान करवाएँ।

अन्य विशेषताएँ—वल्लभाचार्य जी ने माया के जो अविद्या और विद्या नामक दो रूप माने है उनमें से अविद्या माया का ही विरोध विशेष रूप से किया जाता है कारण कि वह न केवल सत्य ज्ञान का आच्छादन करती है अपितु सत्य में असत्य का भान भी कराती है और वही जीव को लौकिक विषयों में फँसाकर पथभ्रष्ट भी करती है। सुबोधिनी टीका में उन्होंने कहा भी है "यद्वस्तुस्वरूपे अन्यथा प्रतिभासते तदात्मनो जीवानो व्यामोहिका माया पूर्व निरुपिता तस्या काय

सा हि जीवं व्यामोहयित्वा तत्सबंधिनम् तं करणं बुद्धयादिकमपि व्यामोहयति तथा व्यामोहिता: बुद्धि: । पदार्थानन्यथा मन्यते न तु पदार्था अन्यथा भवंति ।" अष्टछापी कवियों ने भी जीव को अनेक नाच नचाने वाली और उसे भ्रमपूर्ण संसार में फँसाए रखने वाली इसी अविद्या माया का विस्तारपूर्वक चित्रण किया है तथा भगवान् की लीला का विस्तार सृष्टि के अनेक रूपों में कराने वाली ईश्वर की शक्ति स्वरूपा माया का उल्लेख उनकी कृतियों में बहुत ही कम है अतः स्वाभाविक ही अष्टछाप के सूर्य सूरदास ने भी अविद्या माया का निरूपण करते हुए उसके विविध प्रपंचों का सविस्तृत चित्रण किया है । इस पद में भी उन्होंने इसी माया का वर्णन किया है और उसे मूढता, तृष्णा, ममता-मोह, अहंकार, काम-क्रोध, लोभ आदि अनेक मानसिक विकारों को उत्पन्न करने वाली माना है ।

अलंकार—रूपक और दृष्टान्त ।

पद ४. माधौ जू, यह मेरी इक गाइ

अवतारणा—प्रायः सभी दार्शनिकों ने यह स्वीकार किया है कि माया ही जीव को जन्म-मरण के चक्र में फाँसे हुए है और इसी के कारण जीवात्मा अपने स्थान से दूर हो आपत्तियों के बीहड़ बन में बिलखती हुई घूमती है अतः माया के बंधनों को छिन्न-भिन्न कर देने पर ही मनुष्य जन्म-मरण के चक्र को नष्ट कर सकता है । कविवर सूरदास ने इसी भाव को इन पंक्तियों में स्पष्ट किया है ।

शब्दार्थ—गाइ—कुमार्गगामिनी मानसिक वृत्ति या मन की अविद्या जिसके कारण जीव ब्रह्म को भुलाकर मिथ्या सांसारिक सुखों में फँस जाता है । हरहाई—बंधन में न रहने वाली । निधरक—निश्चिन्त । निबेरि—मुक्ति ।

भावार्थ—सूरदास जी इस पद में अपनी कुमार्गगामिनी मानसिक प्रवृत्ति या मन की अविद्या को गाय मानकर भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे इसे अपनी शरण में ले लें । उनका कहना है कि वे तो गाय चराते ही है अतः इसे भी वे अपनी गायों के साथ चराने के लिए ले जाएँ । इसका अर्थ यह है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान कहा गया है और माया को उसी की शक्ति माना गया है अतः कवि यह चाहता है कि वे उसकी कुमार्ग-गामिनी मानसिक

प्रवृत्तिको उसी प्रकार रास्ते में लाएँ जिस प्रकार कि वे भटकी हुई गायों को सरलता से रास्ते से लाते रहे हैं। सूर का कहना है कि उनकी यह गाय बड़ी ही उन्मुक्त प्रकृति की है और वह बंधनों में न रहकर इधर-उधर भाग जाती है अर्थात् उनका चंचल मन इधर-उधर भटका करता है; साथ ही जिस प्रकार हरहाई गाय हरे-भरे खेतों को नष्ट कर देती है उसी प्रकार यह मानसिक प्रवृत्ति हमें धर्म-कर्म से विमुख कर धार्मिक रीति-नीति का विरोध करवाकर हम से वेदों की निन्दा करवाती है। इस प्रकार वे धर्मपालन में असमर्थ से हो जाते हैं अतः अब भगवान से यही प्रार्थना करते हैं कि इस गाय को अपने अधीन कर उन्हें निश्चिन्त कर दें जिससे कि वे बिना किसी बाधा के धर्म-साधना में रत रह सकें। सूरदास का यह भी कहना है कि वे अब यही चाहते है कि उन्हें बार-बार इस संसार में जन्म न लेना पड़े और वे जन्म-मरण के बधनों से छुटकारा पा जाएँ लेकिन यह तभी संभव है जब कि मन की मोह ममता रूपी भावना दूर हो जाए। इसका अर्थ यह है कि जीव 'मैं-मेरा' की मोह-माया में फँसा रहने के कारण ही ईश्वर के चरणों में अपने आपको अर्पित नही कर पाता। इसीलिए कवि का कहना है कि गाय रूपी मन की कुवृत्ति या अविद्या हरे चारे रूपी मोह-माया में फँसी हुई है अतः यदि इसे सासारिक मोह-माया रूपी चारे से दूर कर दिया जाए तो भक्त निश्चिन्त होकर ईश्वर की आराधना कर सकता है।

अन्य विशेषताएँ—शब्दकोशों में गो के गाय और इन्द्रिय दोनों ही अर्थ माने गए हैं तथा मानसिक वृत्ति भी एक आंतरिक इंद्रिय ही है अतः कवि ने यहाँ अन्योक्ति द्वारा अविद्या माया से भ्रमित अपनी मानसिक वृत्ति को हरिहाट्गाय मानकर कृष्ण से प्रार्थना की है कि वे इसे भी अपने गोधन मे मिलाकर चरा लें क्योंकि यह उनसे सँभलती नहीं है। इस प्रकार इस पद मे अविद्या माया का ही निरूपण किया गया है।

अलंकार—केवल गोकुलपति शब्द में श्लेष है अन्यथा सम्पूर्ण पद मे अन्योक्ति अलंकार है। एक दो टीकाकारों ने इसमें रूपकातिशयोक्ति भी मानी है लेकिन वह गलत है और अन्योक्ति ही इसमें स्पष्ट रूप से झलक उठती है

पद ५. अब कैं राखि लेहु भगवान

अवतारणा—विनय के लिए दीनता, मानमर्षण, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण नामक जो सात बातें आवश्यक मानी गई है उनमें दीनता सबसे अधिक आवश्यक है कारण कि जो दीन नहीं बनना चाहता भला वह विनीत भी कैसे हो सकता है और जो दुर्विनीत है वह अपने संताप का निवारण भी नहीं कर सकता। सूर के इस पद मे भी भक्त की दीनता ही अंकित की गई है और कवि भगवान से यह प्रार्थना कर रहा है कि वे उसे सहारा दें।

शब्दार्थ—पारधि—व्याध, बहेलिया। सांधै—निशाना लगाने को तयार। भाज्यौ चाहत—भागना चाहता हूँ। दुक्यौ—घात लगाए हुए है। सचान—बाज पक्षी। अहि—सर्प।

भावार्थ—सूरदास भगवान श्रीकृष्ण से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे उनकी इस विपन्न स्थिति में रक्षा करें कारण कि वे निस्सहाय से है। उन्होंने स्वयं को एक दयनीय पक्षी माना है और उनका कहना है कि उनकी दशा वृक्ष पर बैठे हुए उस पक्षी के समान है जिसे एक ओर तो व्याध अपने बाणों का निशाना बनाना चाहता है तथा दूसरी ओर बाज पक्षी जिसके शिकार के लिए प्रस्तुत है अतः वह अब ईश्वर की शरण में जाना ही उचित समझता है तथा उसे पूर्ण विश्वास है कि उनकी कृपा से उसके ये कष्ट दूर हो सकते हैं। कवि कह रहा है कि वह इन दारुण दुःखों से अपने आपको बचाने की प्रार्थना कर ही रहा था कि अचानक एक सर्प ने उस व्याध को डस लिया और उसके हाथ से छूटा हुआ तीर उस बाज को लग जाने के कारण वह भी मर गया तथा भक्त इस प्रकार उन संकटों से बच सका। सूरदास जी का कहना है कि भगवान के नामस्मरण का यह महत्त्व है कि वे स्मरण करने के साथ ही अपने भक्त की रक्षा करते हैं।

अन्य विशेषताएँ—१. वस्तुतः इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि संसार रूपी वृक्ष पर बैठा हुआ जीवात्मा रूपी पक्षी एक ओर तो कालचक्र रूपी बाज से घिरा है और दूसरी ओर मोह माया रूपी वधिक उसे वासनाओं के बाणों से मारने को उद्यत है लेकिन भगवद्कृपा से वह बड़ी ही आसानी से इन बाधाओं से बच सकता है अत कवि ने जीव को ईश्वर की शरण में

जाने के लिए कहा है। साथ ही उसने ईश्वर का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि प्रभु का केवल स्मरण-मात्र करने से मनुष्य समस्त बाधाओं से छुटकारा पा जाता है।

× २. भाषा-सौन्दर्य की दृष्टि से यह पद वर्णमैत्री का सुन्दर उदाहरण है। वस्तुतः शब्द-रचना में समान कोटि के वर्णों को रखने से पदावली में जो समता आती है उसे वर्णमैत्री कहते हैं और इस पद में उपजी, इहि, बास-काँस, चटकत-लटकत, ताल-तमाल, अति-अंगार, फुटत-फर, झपटत-लपट, धूम-धूंधि, चमकत बिच-बिच, हरिन-बराह, चातक-पिक, जरत-जीव, जनि-जिन तथा इरहु-मूँदहु आदि में वर्ण-मैत्री की ही सुषमा है।

अलंकार—'दसहुँ दिसा दुसह दावागिनि' में अनुप्रास तथा पाँचवी पंक्ति में समाधि अलंकार है। शेष पद रूपकातिशयोक्ति का सुन्दर उदाहरण है।

पद ६. अब कैं नाथ मोहि उधारि

अवतारणा—सूरदास ने इन पंक्तियों में भगवान श्रीकृष्ण से यह प्रार्थना की है कि वे उन्हें इस भवसागर से मुक्ति प्रदान कर अपनी शरण में ले लें।

शब्दार्थ—उधारि—उद्धार करो। मगन—मग्न, डूबा हुआ। भव-अबुनिधि—संसार सागर। अगाध—अथाह, बहुत गहरा। ग्राह—मगर। अनंग—कामदेव। मीन—मछली। सिवार—जल के अंदर रहनेवाली घास। गुमान—गर्व, अहंकार। बिहाल—व्याकुल। बिह्वल—घबड़ाया हुआ, कूल—किनारा।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं—"हे नाथ! अब तो मुझे तुम इस संसार के दुःखों और कष्टों से अवश्य बचा लो। तुम्हें तो कृपा-सागर कहा जाता है अतएव तुम्हें चाहिए कि इस भवसागर में आकण्ठ मग्न मुझ जैसे प्राणी पर कृपा कर मुझे इसमें डूबने न दो।" कवि अब रूपक की सहायता से इस संसार-सागर का चित्र प्रस्तुत करते हुए कह रहा है कि यह भवसागर माया के अत्यंत गहरे जल से परिपूर्ण है और इसमें लोभरूपी लहरें बड़ी तेजी से उठ रही हैं तथा कामदेव रूपी मगर उसे (कवि को) पकड़ कर गहरे जल में घसीटे लिए जा रहा है अर्थात् अब वह वासना को ही सब कुछ समझने लगा है। कवि का कहना है कि इसके साथ ही इंद्रियरूपी मछलियाँ उसके शरीर को नोच रही हैं अर्थात् वह इंद्रिय-सुख में ही अपने शरीर को नष्ट कर रहा है तथा पापों का भारी बोझ अब उसके सिर पर लद चुका है और

जिस प्रकार समुद्र में सेवार—जल में उगनेवाली घास—में फँस जाने पर फिर व्यक्ति का बाहर निकलना कठिन हो जाता है उसी प्रकार मोह में अब वह इतना अधिक जकड़ गया है कि इधर-उधर ठीक से पैर नहीं रख पाता। इतना ही नहीं क्रोध, दंभ, गर्व और तृष्णा की पवन उसे इतना अधिक झकझोर रही है तथा स्त्री-पुत्रादि के बंधन उसे इस तरह जकड़े हुए हैं कि वह प्रभु के नामस्मरण स्वरूपी नौका की ओर देख भी नहीं पाता और इस प्रकार इसी भवसागर में डूबता सा जा रहा है। इसका अर्थ यह है कि स्त्री-पुत्रादिको के आकर्षण में फँसे रहने के कारण ही जीव को भगवान का स्मरण करने तक की स्मृति नहीं रहती और वह उत्तरोत्तर पाप करता चला जाता है। कवि कह रहा है कि अब वह इस भवसागर के मध्य थककर व्याकुल हो रहा है और वह करुणाधार भगवान कृष्ण से यही प्रार्थना करता है कि वे उसे इस ससार सागर से निकालकर व्रजभूमि के किनारे पहुँचा दें जिससे कि वह इस पुनीत भूमि पर निर्विघ्नता से उनकी उपासना करता रहे।

अन्य विशेषताएँ—वल्लभाचार्य जी का कहना है कि भक्त को सांसारिक विषयों का मन, वचन और कर्म सभी से त्याग करना आवश्यक है कारण कि विषयों से आक्रान्त देह में भगवान का निवास नहीं होता—

स्वर्थमिन्द्रिय कार्याणि कायवाङ्‌मनसा त्यजेत्।
अशूरेणाऽपि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्य भवनात् ॥

अतः सूरदास जी यहाँ ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें इस भवसागर से मुक्ति दिला दें। जिस प्रकार अथाह सागर में किनारे तक पहुँचने के लिए नौका ही साधन होती है उसी प्रकार ईश्वर का नामस्मरण ही इस ससार-सागर से बचने के लिए आवश्यक कहा गया है।

अलंकार—सांग रूपक।

पद ७. माधो जू जौ जन तै बिगरै

अवतारणा—सूरदास जी अपने आराध्य श्रीकृष्ण की क्षमाशीलता का वर्णन करते हुए उनसे प्रार्थना कर रहे हैं कि वे उनकी त्रुटियों पर ध्यान न देकर उन्हें उदारता से अपना बना लें।

शब्दार्थ—जीय—हृदय। जठर—उदर। जतन—यत्न, कोशिश। रिपुतन-ताप—शत्रु के शरीर का ताप। किरषि—खेती, किसानी। रसना—जिह्वा जीभ छमि—क्षमा छोभ—क्षोभ, दुःख क्लेश

भावार्थ—सूरदास जी का कहना है कि भगवान श्रीकृष्ण इतने अधिक कृपालु है कि यदि उनके किसी दास से कभी कोई त्रुटि भी हो जाती है तब भी वे उस पर ध्यान नहीं देते और उदारता के साथ उसे क्षमा कर देते हैं। जिस प्रकार माता के गर्भ में रहनेवाला बालक उसे भाँति-भाँति की पीड़ाएँ पहुँचाता है लेकिन वह तनिक भी रुष्ट नहीं होती और बड़े ही स्नेह के साथ उसका पालन-पोषण करती है अतएव ईश्वर भी भक्त के लिए जननी-स्वरूप ही है कारण कि उन्हीं की कृपा से यह सृष्टि बनी है इसलिए कवि का कहना है कि माता की भाँति उसे भी अपने भक्त को क्षमा करते रहना चाहिए। जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष को चाहे कोई जड़ से ही क्यों न काटे लेकिन वह (चन्दन) अपनी स्वाभाविक शीतलता एवं सुगंध का त्याग नहीं करता उसी प्रकार ईश्वर अपनी निन्दा करने वाले दुर्जनों को भी हमेशा क्षमा कर देता है और उनके कटु वचनों का उस पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। कवि का कहना है कि लोग पृथ्वी पर हल चला कर उसके कलेजे को चीर कर नाली सी बना देते हैं लेकिन धरती इतनी अधिक क्षमाशीला है कि न तो वह हल चलाने का और न चीरे गए हिस्सों में बीज डालने का ही विरोध करती है बल्कि उदारता के साथ शीत एवं ताप को सहन कर उन्हें सुफल भी बनाती है जिससे कि उत्तम कृषि हो सकती है। इतना ही नहीं बेचारी जीभ हमेशा दाँतों से कुचली जाती है और इससे उसे दुख भी होता है लेकिन समस्त क्रोध को भुला कर भोजन का स्वाद उन्हीं दाँतों को देती है जो कि उसे कुचलते है। सूरदास का कहना है कि भगवान तो इस सृष्टि के उपादान और निमित्त-स्वरूप ही है अतः उन्हें कलिकाल रूपी सर्प के मुँह में भ्रमित जीव को जो कि अपने ही भय से डर रहा है अपनी शरण में लेकर उसका उद्धार कर देना चाहिए और इसमें कोई संदेह नहीं कि बिना ईश्वर की शरण गए अन्य कोई उपाय भी नही हैं।

अन्य विशेषताएँ—इस पद में कवि ने भगवान की क्षमाशीलता एवं भक्त वात्सल्य-भावना का चित्रण किया है और उसका कहना है कि भगवान अपने भक्त के प्रति उसी प्रकार अत्यन्त क्षमाशील रहते हैं जिस प्रकार माता पुत्र के लिए, चन्दन स्वयं उसे काटनेवाले के प्रति, पृथ्वी कृषक के लिए और जीभ दाँत के लिए

अलंकार विशेष और रूपक।

पद ८. आजु हौं एक एक करि टरिहौं

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने हरिनाम की महिमा का वर्णन करते हुए एक ऐसे दृढ़ संकल्पी भक्त की हठ-भावना चित्रित की है जो कि भगवान की भक्तवत्सलता को चुनौती देते हुए यह कह रहा है कि यदि वे भक्तभत्सल हैं तो उन्हें उसे भी अपना लेना चाहिए।

शब्दार्थ—एक एक करि टरिहौं—एक न एक निश्चय करके हटूँगा। सात पीढ़िन कौं—सात पुश्तों का, पुश्तैनी। निस्तारि हौं—उद्धार करा लूँगा। उघरि—नग्न, खुल कर। परतीति—प्रतीति, विश्वास। बिरद—यश।

भावार्थ—सूरदास जी का कहना है कि वे अब यह जान लेना चाहते हैं कि भगवान उनका उद्धार करेंगे या नहीं। उनका यह दृढ़ संकल्प है कि या तो भगवान स्वयं उनका उद्धार कर दें या फिर वह स्वयं अपने बल पर उनसे इस बात के लिए लड़ें कि आखिर वे क्यों नहीं अपनी भक्त-वत्सलता का परिचय उसके प्रति प्रदान करते !! कवि का कहना है कि वह तो पुश्तैनी पापी है और सात जन्मों से पाप करता रहा है लेकिन उसे यह भी विश्वास है कि इतने गुरुतर पाप कर्म करने पर भी उसका मोक्ष संभव है अतः वह चाहता है कि भगवान उसे अपनी शरण में लेकर अपने पतित-पावन नाम को सार्थक करें। कवि का कहना है कि वे तो पतित-पावन कहे जाते हैं और पापियों का उद्धार करने के कारण ही चारों ओर उनका यश फैला हुआ है अतः उसने भी अब यह निश्चित कर लिया है कि निर्लज्जता के साथ पाप करे जिससे कि या तो भगवान उसे अपना कर अपनी कीर्ति द्विगुणित कर लें या फिर उनके नाम पर कलंक ही लगे। साथ ही उन्हें अपने विश्वास का नाश नहीं करना चाहिए अर्थात भक्तों को जो उनके हाथों अपनी मुक्ति का विश्वास है उसे सार्थक करना चाहिए। सूरदास का कहना है कि वे हरि-नाम रूपी अमूल्य हीरा प्राप्त कर चुके हैं और उन्होंने यह निश्चय कर लिया है कि वे तभी यहाँ से हटेंगे जब कि वे उन्हें प्रसन्न होकर विजय का बीड़ा दे देंगे अर्थात उनका उद्धार कर देंगे।

अन्य विशेषताएँ—वल्लभ-सम्प्रदाय में भक्ति के दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा मधुर नामक चार प्रकार प्रचलित रहे हैं और का यही

कहना था कि इन्हीं में से एक, दो अथवा सबका अनुगमन करने से ईश्वर की भक्ति की जा सकती है अतः इस प्रकार स्वाभाविक ही अष्टछापी कवियों ने दास्य भक्ति को भी अपनाया है और सूर का यह पद भी इसी का सुन्दर उदाहरण है।

पद ९. हरि हौं सब पतितनि पतितेस

अवतारणा—सूरदास जी ने प्रस्तुत पद में अपने आपको पतितों का राजा अर्थात् सब पतितों से बढ़कर माना है।

शब्दार्थ—पतितेश—पतितों का राजा। नकीब—राजा का यश गाने वाले चारण, भाट। आयसु—आज्ञा। दुन्द—द्वंद, संशय। खवास—सेवक। पाट—वस्त्र, पोशाक। चबाइन—चुगली, निन्दापूर्ण चर्चा। बाजि—घोड़ा। मत्त गज—मतवाला हाथी। बानैत—सैनिक, तीरंदाज।

भावार्थ—सूरदास का कहना है कि वे अपने आप को समस्त पतितों का सिरताज समझते हैं और उनकी दृष्टि में ऐसा कोई भी दूसरा नहीं है जो उनकी बराबरी कर सके। वे अपने आपको महा मोह रूपी देश का शासक मानते हैं और इस प्रकार उनका कहना है कि वे आशा रूपी सिंहासन पर बैठे हुए हैं तथा पाखण्ड का छत्र उनके सिर पर लगा है अर्थात् जीवन भर उन्होंने पाखण्ड ही किया है। साथ ही जिस प्रकार चारण अपने-अपने शासकों की कीर्ति का बखान करते हैं उसी प्रकार अपयश रूपी भाट चारों ओर उनका अपयश फैला रहा है तथा काम एवं क्रोध ही उनके मन्त्री हैं जो कि स्वेच्छा से अपना कार्य करते हैं अतएव उन्हें (कवि को) भी काम एवं क्रोध के वश ही रहना पड़ता है जिसके कि कारण दिन-रात उनके मन में भाँति भाँति के संकल्प-विकल्प उठा करते हैं तथा उनकी बुद्धि स्थिर नहीं रह पाती। कवि लोभ को भन्डार का स्वामी, मोह को प्रमुख कर्मचारी और अहंकार को अपना द्वारपाल मानता है तथा उसका कहना है कि वह ममता रूपी पोशाक धारण किए हुए है। साथ ही उस पर माया का ही अक्षुण्ण अधिकार है (यहाँ माया से अभिप्राय अविद्या माया से है) अर्थात् वह पूर्णतः माया के वश में है और तृष्णा उसकी सेविका है जो कि सर्वदा उसकी सेवा में लगी रहती है अतएव क्षणमात्र के लिए भी तृष्णा से उसका साथ नहीं छूट पाता और यही तृष्णा दासी उसके पाप रूपी अनाचारी सेवक से मिलकर चुगलखोरी का काम करती

है। कवि का मनोरथ ही अश्व, अहंकार ही मतवाला हाथी, असत्य ही रथ, कुमति ही सारथी, मन ही पैदल सिपाही, अधैर्य ही सैनिक, दुष्ट बुद्धि ही दूत और असंख्य पाप ही सेना है तथा इन सबको देख कर यमराज भी भयभीत होकर किले के भीतर घुस गए है और भयवश दरवाजा बन्द किए पड़े रहते है। इसका अभिप्राय यह है कि कवि अपने आपको इतना भयंकर पातकी समझता है जिसके लिए कि यमराज के यहाँ भी स्थान नहीं है। साथ ही उसका यह भी कहना है कि उसके बन्दीगण चारों ओर उसकी निन्दा और उपहास करते है अर्थात् उसके कार्यों को सुनकर समस्त ससार उसकी निन्दा करता है तथा हँसी उड़ाता है। इस प्रकार सूरदास जी कहते हैं कि उनके द्वार पर नित्य प्रति हठ, अधर्म और अन्याय की नौबत बजती है अर्थात् ये तीनों अपने अपने प्रताप एवं ऐश्वर्य की घोषणा करते हैं अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि समस्त समार में उनसे बढ़कर हठी, अधर्मी, अन्यायी कोई दूसरा नहीं है।

अलंकार—साँग रूपक।

पद १०. अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास के आत्मनिवेदन का भाव अभिव्यंजित हो रहा है और इसमें उन्होंने प्रभु के आगे अपना हृदय खोल कर रख दिया है तथा तनिक भी दुराव या छल कपट नही रखा।

शब्दार्थ—चोलना—एक प्रकार की पोशाक। विषय—भोग-विलास। नूपुर—घुंघरू। रसाल—मधुर। भरम—भ्रम, धोखा। पखावज—एक प्रकार का वाद्य-यन्त्र। नाद—स्वर, शब्द। घट—शरीर।

भावार्थ—सूरदास जी भगवान श्रीकृष्ण से यह प्रार्थना कर रहे हैं कि इस ससार में वे बहुत नाच चुके है अर्थात भाँति-भाँति के काम करने पड़े हैं। उनका कहना है कि उन्होंने काम और क्रोध रूपी पोशाक ग्रहण कर ग्रीवा मे विषयों की माला धारण की है। साथ ही जिस प्रकार नृत्य करते समय नर्तक के पैरों के नूपुर बजते हैं तथा वह मधुर गीत गाता है उसी प्रकार इस संसार रूपी प्राँगण में नृत्य करते समय उनसे महा-मोह रूपी नूपुरों की ध्वनि ही निनादित होती है और वे पर निन्दा के गीत ही गाते हैं अर्थात मोह और दूसरों की निन्दा पर ही उनकी रुचि रही है। कवि कह रहा है कि उनका भ्रमित मन ही पखावज है जिसकी कि कुसगति चाल ही है अर्थात जिस प्रकार सम विषम का विचार किए बिना

कोई वाद्य-यन्त्र मनमाने ढंग से बज उठता है उसी प्रकार कवि भी उचित अनुचित पर बिना ध्यान दिए संसार सागर में बहा जा रहा है। साथ ही तृष्णा अनेक प्रकार के ताल देती हुई मानस के भीतर ध्वनि कर रही है अर्थात् हृदय में विभिन्न कामनाएँ उत्पन्न कर रही हैं जिससे कि चित्त में एकाग्रता नहीं आ पाती। उसका कहना है कि कमर में वह माया का कमरबन्द बाधे हुए है और मस्तक पर लोभ का तिलक लगाए हुए है; इस प्रकार का वेश बनाकर पता नहीं कब से उसे अनेक योनियो में भ्रमण करते हुए जल और स्थल सर्वत्र भाँति-भाँति के कार्य करने पड़े हैं तथा उसने ईश्वर को प्रसन्न करने के अनेक उपाय किए लेकिन वह प्रसन्न नहीं हुआ अतः सूरदास अब भगवान से यही प्रार्थना करते हैं कि वे उनकी समस्त अविद्या को दूर कर दे जिससे कि उन्हे संसार में और अधिक न भटकना पड़े।

इस पद का अभिप्राय यह है कि जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता है तथा बिना ज्ञान के वह मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता अतएव जब तक उसका मोह रूपी अज्ञान दूर नहीं होता तब तक वह आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है अतः कवि भगवान से यही प्रार्थना कर रहा है कि वे उसका अज्ञान दूर करें जिससे कि वह आवागमन के बन्धनों से बच सके। साथ ही यहाँ अविद्या से तात्पर्य अविद्या माया से है।

अन्य विशेषताएँ—१. चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार सूरदास का यह पद वल्लभाचार्य से भेंट के पूर्व रचा गया था तथा जब इसे उन्होंने आचार्य महाप्रभु को सुनाया तब उन्होंने कहा कि "सूरदास अब तो तुममें कछू अविद्या नहीं रही—तुम्हारी अविद्या प्रभुन ने दूर कीनी, तातें कछू भगवद्-यश वर्णन करो।"

२. इस पद में गोपाल और नन्दलाल नामक शब्द ध्यान देने योग्य है। चूँकि गोपाल शब्द के दो अर्थ होते हैं (१) इन्द्रियों का स्वामी और (२) भगवान श्रीकृष्ण अतएव कवि का कहना है कि इन्द्रियों का स्वामी होने के कारण वे स्वाभाविक ही इन्द्रिय-जन्य विकारो को रोकने में समर्थ हैं। इसी प्रकार नन्दलाल शब्द से यह अभिप्राय है कि वे नृत्य का परिश्रम समझते ही है कारण कि उन्हें गोपिकाओं के साथ नाचना पड़ा था अतः अब उन्हें चाहिए कि वे अपने भक्त के इस नृत्य को बन्द करवा दें अर्थात् आवागमन से मुक्ति दिला दें क्योंकि इसमें उसे काफी परिश्रम करना पड़ता है

अलंकार—सांग रूपक

पद ११. जो हम बुरे-भले तो तेरे

अवतारणा—प्रस्तुत पद में कविवर सूरदास ने शरणागति भाव की तन्मयता एवम् एकोन्मुखता चित्रित करते हुए अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण से अपना उद्धार करने की प्रार्थना की है।

शब्दार्थ—गहे—पकड़ा। चेरे—सेवक। अनेरे—व्यर्थ, निष्प्रयोजन।

भावार्थ—सूरदास जी भगवान से कह रहे हैं कि मैं चाहे अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का क्यों न होऊँ लेकिन सेवक तो उन्हीं का हूँ और अब उनसे मेरी यही प्रार्थना है कि वे मेरे गुण दोषों को विस्मरण कर पूर्णतः मुझे अपनी शरण में ले लें। कवि का कहना है कि उसने अपना सब कुछ त्याग कर उन्हीं की शरण ग्रहण करना उचित समझा है और इसीलिए बड़ी दृढ़ता के साथ उनके चरण पकड़ लिए हैं अर्थात् वह उनकी शरण में आ गया है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि अब भगवान के प्रताप और बल के कारण वे किसी को भी कुछ नहीं समझते तथा जिस प्रकार अपने घर का सेवक निर्भय हो जाता है उसी प्रकार अब वे भी निडर हो गए हैं तथा उन्होंने अन्य सभी देवताओं को जो कि स्वयं ही दरिद्र तथा पौरुषहीन हैं व्यर्थ समझकर त्याग दिया है। इस प्रकार सूरदास जी का कहना है कि उन्होंने भगवान की कृपा से अनेक सुख पाए हैं तथा उनसे उऋण होना सम्भव नहीं है और वे यहाँ उन सबका वर्णन करने में भी वे असमर्थ से हैं।

अन्य विशेषताएँ—जैसा कि भक्तिमार्ग के प्रायः सभी सम्प्रदायों ने अनन्याश्रय को महत्त्व देते हुए केवल अपने एक इष्टदेव का ही आश्रय ग्रहण करना उचित समझा है कारण कि उनकी दृष्टि में एकान्त प्रेम के बिना प्रेम की उत्कट स्फूर्ति नहीं हो पाती अतः वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में भी अविचल कृष्णभक्ति के अनन्यभाव का ही उपदेश दिया गया है तथा 'विवेक धैर्याश्रय' नामक ग्रंथ में आचार्य महाप्रभु ने भी कहा है—

> **अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च।**
> **प्रार्थना कार्य मात्रोऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्॥**
> **अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः।**
> **ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः।**

अर्थात् कृष्णभक्त को अन्य देवों का भजन तथा उनकी शरण का परित्याग करना चाहिए। सूर के इस पद में भी अनन्याश्रय को ही महत्ता प्रदान की गई है।

पद १२. दो में एकौ तो न भई

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी अपनी मानसिक भावनाओं का चित्रण करते हुए कृष्णभक्ति की आवश्यकता प्रतिपादित कर रहे हैं।

शब्दार्थ—बिहाइ गई—व्यतीत हो गयी। ठानी हुती—सोचा था, विचार किया था। खई—क्षीणता, बरबादी। बई—बहना, प्रवाहित होना। टेव—आदत।

भावार्थ—सूरदास जी ईश्वर से कह रहे हैं कि उनका यह जीवन व्यर्थ ही गया और उनकी कोई भी अभिलाषा पूर्ण न हुई कारण कि इस संसार में न तो वे हरिभक्ति में ही रत रह सके और न सांसारिक जीवन का ही आनन्द प्राप्त कर सके। उनका कहना है कि उन्होंने जो कुछ सोचा था वह भी न हो सका और इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान की गति साधारण मनुष्य द्वारा जानी नहीं जा सकती तथा मनुष्य स्वयं कुछ भी नहीं कर पाता बल्कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ही उनसे सब कुछ कराता है। वस्तुतः इस जगत में आकर मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि सम्बन्धियों के मिथ्या-मोह में पड़कर दिन प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है तथा जिस प्रकार चन्द्रमा से प्रेम करने वाला चकोर उससे विमुख हो भूल में अंगार को ही चन्द्र समझकर उसका भक्षण कर लेता है उसी प्रकार जीव भी भगवान के चरण-नखरूपी चन्द्रमा से विमुख होकर विषय-रूपी अंगार खाता रहता है। कवि का कहना है कि उसकी विषय-वासना रूपी दावाग्नि मोहरूपी झकोरे से और भी अधिक प्रचंड हो रही है तथा बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेते हुए भी वह अभी तक अपना दुष्ट स्वभाव नहीं छोड़ सका अतएव अब उसका पश्चाताप करना व्यर्थ ही है कारण कि भवितव्यता तो होकर ही रहती है और उसे अपने कर्मों का फल भुगतना ही पड़ेगा। इस प्रकार सूरदास जी कह रहे हैं कि यह सब भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति न करने का प्रतिफल ही है और यदि वह कृपासिंधु भगवान की सेवा करता रहता तो उसे कभी भी इस प्रकार के कष्ट न उठाने पड़ते

अन्य विशेषताएँ—इस पद को भक्त के हृदय की आत्मग्लानि का सुन्दर उदाहरण कहा जा सकता है।

अलंकार—परम्परित रूपक।

पद १३. चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम बियोग

अवतारणा—इन पंक्तियों में कविवर सूरदास जी अन्योक्ति द्वारा अपने मन की कामना रूपी चक्रवाकी को चेतावनी देते हुए भगवान के चरण-रूपी सरोवर तक पहुँचने के लिए कह रहे हैं जहाँ कि उसका अपने प्रिय से कभी भी वियोग न होगा।

शब्दार्थ—सरोवर—तालाब। भ्रम-निसा—भ्रमरूपी रात्रि। सायर—सागर, जलाशय। सनक—एक ऋषि। निगम—वेद, शास्त्र। सुवास—सुगंध। सुभग—सुन्दर, मनोहर। सुकृत—पुण्यकर्म। छीलर—छिछले जल की तलैया।

भावार्थ—सूरदास जी अपने मन को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि हे मन-रूपी चक्रवाकी तू श्रीकृष्ण के चरण रूपी-सरोवर को चल जहाँ कि प्रेम में वियोग का अवसर ही नहीं आता कारण कि वहाँ भ्रमरूपी रात्रि कभी होती नहीं है अतः तू वहाँ रहकर पूर्ण सुख प्राप्त करेगी। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि चकई और चकवा का संयोग दिन में होता है तथा रात्रि में वे दोनों बिछुड़ जाते हैं और रात्रि भर उन दोनों को वियोग सहन करना पड़ता है। इस प्रकार इन पंक्तियों का अर्थ यह है कि कवि मन को इधर-उधर भटकने की अपेक्षा प्रभु के चरणों में लगे रहने के लिए कह रहा है क्योंकि वहाँ उसे न तो कभी व्यर्थ के भ्रमों में ही भटकना पड़ेगा और न किसी प्रकार के दुःख ही उठाने पड़ेंगे कारण कि जो व्यक्ति ईश्वर की शरण ग्रहण कर लेता है उसे इन आपदाओं में नहीं फँसना पड़ता। कवि अब उस सरोवर का वर्णन करते हुए कह रहा है कि वहाँ पर सनक सनन्दन सनत्कुमार आदि ऋषि एवं शिव जैसे देवरूपी हंस हैं तथा मुनिगण जैसी मछलियाँ हैं। साथ ही चूँकि ऋषियों के चरणनख रूपी सूर्य का वहाँ सर्वदा प्रकाश रहता है अतः मन रूपी कमल भी वहाँ हमेशा विकसित ही रहते हैं क्योंकि उन्हें क्षण मात्र के लिए भी चन्द्रमा का भय नहीं है कारण कि चन्द्रमा के उदय होने पर कमल के पुष्प संकुचित हो जाते हैं इसलिए कमल के सर्वदा प्रफुल्लित रहने के कारण जिस प्रकार भ्रमर भी

अलकार अन्योक्ति

पद १४. चलि सखि तेहि सरोवर जाहिं

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने अपने मन को पक्षी या भ्रमर मान कर उसे भगवान के चरणों रूपी सरोवर के पास चलने का प्रबोधन दिया है।

शब्दार्थ—कमला—कमलिनी। बिकसाहिं—खिलना। बिरमाहिं—विश्राम करते है। बहुरि उड़िबो नाहि—फिर उड़ना नहीं पड़ेगा।

भावार्थ—सूरदास जी अपनी चंचल चित्तवृत्ति को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे सखी उस सरोवर की ओर चल जहाँ कि सूर्य के बिना भी कमल और कमलिनी के पुष्प सर्वदा विकसित रहते हैं तथा जिस प्रकार निर्मल पख वाले श्वेत हंस अपने अंगों को खूब मल-मल कर वहाँ स्नान करते हैं तथा मोतियों को चुन-चुन कर खाते हैं उसी प्रकार उस सरोवर में ज्ञानी जन सम्पूर्ण एकाग्रता से मन को निमग्न रखते हैं एवम् मुक्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं और उस सरोवर के परमानन्द रूपी मधुर रस मे मग्न रह कर अन्य अनुपम मधुर रसों का आस्वादन करते हैं। सूरदास जी का कहना है कि उस सरोवर के कमलों में ऐसी शीतल और आनन्ददायक सुगंध है जिसे ग्रहण करते ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं अर्थात् वहाँ का वातावरण इतना सुखद, शात और पुनीत है कि मानस मे पाप-वासना की तरंग ही नही उठती। इतना ही नही वहाँ के कमल जल के बिना भी विकसित रहते हैं तथा पल-मात्र भी नही कुम्हलाते जब कि साधारण सरोवर में तो कमल विकसित होने के बाद निश्चित रूप से मुरझा जाते हैं और उन कमलों पर भ्रमर समूह निरंतर बैठ कर रस पान करता हुआ गुंजायमान भी होता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रभु के चरण कमल सदा प्रफुल्लित रहते हैं तथा भक्तगण उनमें अपना ध्यान लगा भक्ति रस पान कर परम शांति पाते हैं। इस प्रकार सूरदास जी अपने मन को समझाते हुए कह रहे हैं कि उसे यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि यह ससार-सागर एक छिछले जल की तलैया ही है और इसलिए सांसारिक भोग-विलास को तज कर कृष्ण के चरण-सरोवर के पास पहुँच जाना चाहिए जहाँ से फिर अन्यत्र कहीं और न जाना पड़े अर्थात् बार-बार न जन्म लेना पड़े।

अन्य विशेषताएँ—कवि का अभिप्राय यह है कि जब जीव की आत्मा से

एकता स्थापित हो जाती है तब उसे संसार के आवागमन से मुक्ति मिल जाती है अर्थात् बार-बार जन्म नहीं लेना पड़ता। इस प्रकार प्रस्तुत पद की भाव-धारा श्री मद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय के इन श्लोकों के अनुरूप ही है—

ततः पदं तत्परि मार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी। ४ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

परन्तु जैसा कि बारहवें पद पर विचार करते समय हम कह चुके हैं कतिपय विचारक इस पद में निर्गुण पंथ का प्रभाव भी मानते हैं।

अलंकार—अन्योक्ति और विभावना।

पद १५. सुवा चलि वा बन को रस पीजे

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी मन को तोता मानकर उसे साधु संगति रूपी आनन्द सरोवर युक्त वन जाने के लिए कहते हैं।

शब्दार्थ—सुवा—तोता। स्रवन—कान। काग—कौआ। श्रृगाल—सियार। बारानसि—वाराणसी, काशी नगरी जो कि सहज ही मुक्ति दिलानेवाली है।

भावार्थ—सूरदास जी मन की तोते से समता कर कह रहे हैं कि उसे उस परम आनन्द स्वरूप वन में पहुँचना चाहिए जहाँ कि हमेशा रामनाम रूपी अमृत रस प्रवाहित होता रहता है, और वहाँ जाकर उसे अपने कान रूपी पात्र में उस पियूष रस को संचित कर जी भरकर पीना चाहिए अर्थात् उसे जी भर कर भगवद्चर्चा सुननी चाहिए और यह विस्मरण कर देना चाहिए कि उसका पुत्र कौन है, पिता कौन है, पत्नी कौन है तथा घर कौन है। कवि का कहना है कि मनुष्य का अपने पुत्र, पिता, स्त्री तथा घर आदि के विषय में चिन्ता करना व्यर्थ ही है और उसे यह भली-भाँति स्मरण रहना चाहिए कि जिस शरीर को वह अपना कहता है वह उसका नहीं है बल्कि कौओं, सियारों और कुत्तों का ही भोजन है। इस प्रकार सूरदास जी का कहना है कि उसे वाराणसी रूपी वन में पहुँचना चाहिए जहाँ कि सुगमता से मुक्ति प्राप्त हो सकती है तथा वहाँ पहुँच कर साधुओं की संगति करनी चाहिए जिससे कि जीवन सफल हो सके कवि का विचार है कि साधुओं की संगति बड़े भाग्य से ही प्राप्त होती है।

अन्य विशेषताएं इस पद में मन को तोता, साधुसंगति को आनन्द सरोवर से युक्त वन तथा वाराणसी को मुक्तिक्षेत्र माना गया है।

अलंकार—अन्योक्ति।

पद १६. मना रे माधव सों कर प्रीति

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने मन को भगवान् श्रीकृष्ण से प्रीति करने और काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मोह से विमुख होकर उनका परित्याग करने के लिए कहा है।

शब्दार्थ—परमिति—सीमा। वारि—जल। हेत—प्रीति। पावक—ज्वाला। न भयो रस-भंग—प्रेम में कमी नहीं आयी। परनि—प्रण, प्रतिज्ञा, टेक। परेवा—कबूतर। कुरंग—हरिण। संघाती—साथ देनेवाला, साथी। बिसरायो—भूल गया।

भावार्थ—सूरदास जी अपने मन से कह रहे हैं कि उसे काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मोह का परित्याग कर भगवान श्रीकृष्ण से प्रीति करनी चाहिए। प्रेम की इस अनन्यता को समझाने के लिए कवि ने कई उदाहरण भी दिए हैं और इस प्रकार उसका कहना है कि रस-लोलुप भ्रमर पराग के लिए जंगल-जंगल घूमता है और प्रसन्नता के साथ सब प्रकार की विपत्तियाँ सहन कर अनेक प्रकार के पुष्पों का रस ग्रहण करता है लेकिन जब वह कमल का रस-पान करने लगता है तब फिर उसे तज कर वह अन्यत्र नहीं जाता तथा प्रेम-विभोर होकर अपने आपको उसकी पँखुड़ियों में बँधवा लेता है। इस प्रकार कवि का कहना है कि मनुष्य चाहे इधर-उधर कितना ही क्यों न भटके लेकिन उसे भ्रमर की भाँति अपने आपको कृष्ण के चरण कमलों में बद्ध कर देना चाहिए। इसके पश्चात् कवि चातक के प्रेम की सराहना करते हुए कहता है कि पपीहा केवल स्वाति नक्षत्र का ही पानी पीता है और चाहे उसे कितनी ही अधिक देर तक प्यासा क्यों न रहना पड़े लेकिन वह अन्य नक्षत्रों का जल ग्रहण नहीं करता तथा बादलों की ओर एकटक देखता रहता है। इस प्रकार उसे अपनी इच्छापूर्ति के लिए अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं लेकिन वह अपने [illegible] विचलित नहीं होता तथा अन्यत्र जल ग्रहण नहीं करता अतएव जीव

को भी चाहिए कि वह कृष्ण से ही प्रेम करे और कितनी भी विपत्तियाँ क्यों न आएँ लेकिन पथ से विचलित न हो।* साथ ही मनुष्य को प्रेम की शिक्षा कमल से भी ग्रहण करनी चाहिए और जिस प्रकार जल से प्रेम करने वाला कमल जलाशय का जल सूखने पर या उससे बिलग कर दिए जाने पर कुम्हला उठता है तथा अपने प्रेमी के अभाव में अपना शरीर त्याग देता है उसी प्रकार भक्त को भी ईश्वर के चरणों में अपना सब कुछ न्यौछावर कर देना चाहिए क्योंकि भक्ति के बिना उसका जीवन व्यर्थ ही है। इसी तरह दीपक और पतंग के प्रेम की कथा भी प्रसिद्ध है तथा यह तो सर्वविदित ही है कि पतग दीपक से मिलने की चाह में अपने आपको उसकी लौ में झुलसा देता है लेकिन उसके चित्त में दीप के प्रति प्रेम की तनिक भी कमी नहीं होती और इस प्रकार वह प्रेम के लिए अपना शरीर तक भस्म कर देता है। इसी प्रकार जल के प्रति मछली का अनुराग प्रसिद्ध ही है तथा कवि का कहना है कि यद्यपि जल मछली की चिन्ता नहीं करता है लेकिन वह उससे इतना अधिक प्रेम करती है कि उससे अलग होने पर तड़प-तड़प कर प्राण दे देती है और उसके बिना जीवित नहीं रह पाती। इसी प्रकार कबूतर आकाश पर उड़ता चला जाता है लेकिन जब वह यह देखता है कि उसका प्रेमी उससे दूर खिंचता चला जा रहा है तब वह अपनी अंतिम साँस लेकर धरती पर आ गिरता है लेकिन उसके बिना रह नहीं पाता।† इसी तरह हिरण को संगीत बहुत ही प्रिय लगता है तथा अपने इसी प्रेम के कारण वह बहेलिए द्वारा बजायी गयी वीणा की मधुर ध्वनि सुनकर प्रेम-विभोर हो सुधि-बुधि भूल व्याध के बाणों से बिंध जाता है लेकिन उस राग से विमुख नहीं होता

---

* हमने यहाँ इन पंक्तियों का लक्ष्यार्थ ही ग्रहण किया है और वास्तव में यही उपयुक्त भी है तथा यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो चातक को अनुराग स्वाति-नक्षत्र के बादलों से ही रहता है।

† इन पंक्तियों का यह अर्थ भी किया जा सकता है कि कबूतर जब आकाश में उड़ते समय उससे बिछुड़ गई कबूतरी का स्मरण करता है तब वह व्याकुल होकर धरती पर गिर पड़ता है

और अपना एक भी पग पीछे नहीं हटाता। इसी प्रकार प्रियतम के प्रेम मे पगी नारी अपने पति की मृत देह के साथ स्वेच्छा के साथ जल जाती है और चिता पर चढ़ते समय उसका चित्त तनिक भी खिन्न नहीं होता; अतएव कवि अपने मन से कह रहा है कि उस मूर्ख को प्रेम का यह आदर्श भी ग्रहण करना चाहिए और उसने जो मनुष्य-शरीर रूपी रत्न पाया है उसे भगवद्-भक्ति मे लगाए रहना चाहिए। सूरदास का कहना है कि इस प्रकार की अनेको प्रेम कथाएँ सुनकर भी यदि मन को अपनी करनी पर लज्जा नहीं आती तथा वह अपने जीवनदाता एवं सदा साथ रहने वाले ईश्वर को विस्मरण कर देने पर तनिक भी पश्चाताप नहीं करता तो उसके समान निर्लज्ज दूसरा कोई नहीं है।‡

× × × ×

इसके पश्चात् कवि कह रहा है कि जीव को बार बार मरकर न जाने कितने शरीर धारण करने पड़ते हैं तथा अनेक योनियों में भटकना पड़ता है लेकिन कोई भी यह नहीं जान पाता कि वह किस प्रकार मरता है इसलिए कवि मन को सम्बोधित कर कह रहा है कि यदि वह कृतघ्न होकर भगवान द्वारा किए गए उपकारों को विस्मरण कर देता है तो वह कभी भी सुख नही पा सकता। इस प्रकार सूरदास का कहना है कि ऐ मूर्ख मन तूने अभी तक एक बार भी प्रेम के साथ प्रभु का नाम स्मरण नहीं किया और यदि तुझे अपनी करतूतों पर पश्चाताप नहीं होता तब तो तुझसे एक ही बात बार-बार कहना व्यर्थ ही है।

अन्य विशेषताएं—कवि ने इन पंक्तियों में वैराग्य-भावना की पुष्टि करते हुए कहना चाहा है कि मनुष्य को अपना ध्यान हमेशा भगवान कृष्ण के चरणों में लगाए रहना चाहिए और यह मानव-शरीर सत्कर्मों के लिए ही प्राप्त हुआ है।

अलंकार—उपमा और दृष्टान्त।

---

‡ कतिपय प्रतियों में **'साधि न साज'** के स्थान पर **'साधु समाज'** पाठ है।

टिप्पणी—कहा जाता है कि यह पद 'सूर पचीसी' के नाम से प्रसिद्ध है और यहाँ पर इसके कुछ चुने हुए दोहे ही संकलित हैं। साथ ही इस पद के सम्बन्ध मे यह प्रवाद भी प्रचलित है कि इसे सूरदास ने अकबर बादशाह को सुनाया था लेकिन अभी तक इस बात के पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सके कि वस्तुतः सूरदास की भेंट अकबर से हुई थी ? कतिपय विचारक इस पद का रचयिता प्रसिद्ध कवि सूरदास को न मानकर सूरदास मदनमोहन को मानते है।

पद १७. जा दिन संत पाहुने आवत

अवतारिणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने सत्संग-महिमा पर प्रकाश डाला है।

शब्दार्थ—पाहुना—अतिथि। नेह—स्नेह, प्रेम। मिथ्याबाद—'यह जगत और जीव मिथ्या है तथा भ्रम और अविद्या से जगत और जीवत्व है'; इस प्रकार की विचार-धारा। उपधि—भ्रम, उपद्रव।

भावार्थ—सूरदास जी का कहना है कि जिस समय संत लोग अतिथियों के रूप में घर आते हैं उस समय उनके दर्शन मात्र से करोड़ों तीर्थों के स्नान का पुण्य घर बैठे ही मिल जाता है अर्थात उनका दर्शन-मात्र मनुष्य को करोड़ों तीर्थों के स्नान से अधिक फलदायक है। कवि का कहना है कि संतों के चरण कमलों में ध्यान लगाने से दिन-प्रतिदिन भगवान के प्रति अधिक प्रेम बढ़ता जाता है कारण कि ये लोग मनसा-वाचा-कर्मणा अर्थात मन, वचन और कर्म तीनों से भगवद्‌भक्ति करने के अतिरिक्त अन्य कोई सांसारिक कार्य नहीं करते। वस्तुतः भगवान का स्मरण करना और दूसरों को उनका स्मरण करने के लिए प्रेरित करना ही उनकी दिनचर्य्या है। संतगण हमेशा यही उपदेश देते है कि यह जगत और जीव मिथ्या है तथा भ्रम और अज्ञान के ही कारण लोग इसे सत्य समझते है अतः सब प्रकार से निर्विकार ब्रह्म की उपासना ही उचित है। अतएव संतगण भगवान का विमल यश ही हमेशा गाया करते हैं और पूर्वजन्मों के कर्मों से कठिन बंधनों में फंसे मनुष्यों को उनसे मुक्ति दिला देते है। इस प्रकार साधुओं का सत्संग करने से सांसारिक दुखों का नाश हो जाता है तथा मनुष्य जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त होकर परम गति प्राप्त करता है।

अन्य विशेषताएँ—इस पद मे सतो का महत्त्व अंकित किया गया है और कवि ने जीव को उनका सत्संग करने के लिए कहा है। वस्तुत: संतों का महत्त्व बहुत ही प्राचीनकाल से माना जाता रहा है और स्वयं भगवान ने ही यह स्वीकार किया है, जहाँ संतों का सत्संग होता हैं वहाँ मेरे चरित्र की मानस एव श्रवणेद्रियों को प्रिय लगने वाली कथाएँ भी होती हैं जिन्हें श्रवण करने से प्राणियों को मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है—

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसम्पदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथा।
तज्जोषणादाश्व पवर्गर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ३। २५

साथ ही गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—

मुद मंगल मय संत समाजू। जिमि जग जंगम तीरथ राजू॥

अलंकार—तुल्योगिता।

पद १८. अपुन पौ आपुन ही बिसर्‌यो

अवतारणा—वल्लभाचार्य जी के शुद्धाद्वैतसिद्धान्त में यद्यपि जीव का उसकी शुद्धि अवस्था में ब्रह्म रूप माना गया है लेकिन जब वह माया में ग्रमित होता है तब अपने सत्य स्वरूप को भूल कर भ्रमित हो जाता है और अपनी कल्पना द्वारा "मैं" एवं "मेरा पन" के मिथ्या ज्ञान से अपने क्षणभंगुर शरीर को ही आत्मा समझ कर दुखी होता है। सूरदास के प्रस्तुत पद में आचार्य महाप्रभु की इसी विचारधारा का निरूपण किया गया है।

शब्दार्थ—अपुन पौ—आत्म-स्वरूप। भूसि—भूँकना। सौरभ—सुगन्ध, यहाँ कस्तूरी। तसकर—चोर। अरि—शत्रु। केहरि—सिंह। कूप—कुआँ। फटिक—स्फटिक पत्थर। मर्कट—बन्दर। सुवटा—तोता।

भावार्थ—सूरदास जी का कहना है कि मनुष्य ने अपने सत्य स्वरूप को भ्रमवश अपने आप ही विस्मरण कर दिया है और वह सांसारिक कृत्यों में इतना अधिक फँसा है कि इन्द्रिय सुख को ही सब कुछ समझ बैठा है। जिस प्रकार काँच के मकान मे प्रविष्ट कुत्ता अपने ही प्रतिबिम्ब को चारों ओर देखकर भ्रमवश उसे दूसरा कुत्ता समझकर भौंकने लगता है; लेकिन यह नहीं समझता कि वह उसी का प्रतिबिम्ब है; मृग भी कस्तूरी की सुगंध का अनुभव कर

उसकी खोज मे इधर-उधर भटकता फिरता पौधा को सूंघता है परन्तु यह नहीं जान पाता कि कस्तूरी उसकी नाभि में ही है; जैसे कोई भिखारी स्वप्न में अपने आपको राजा समझकर चोर या शत्रु पकड़ने की कल्पना करता है* अथवा सिंह अपनी ही छाया कूप में देखकर उसे दूसरा सिंह समझ प्रतिद्वंद्वितावश उस कुएँ में कूदकर अपनी जान दे देता है; या जिस प्रकार स्फटिक शिला में अपना प्रतिबिम्ब देख हाथी उस पर अपने दाँत गड़ा देता है, अथवा जैसे कोई बंदर लोभवश तंग मुँहवाले पात्र में अपना हाथ डालकर बर्तन में रखे गए चने को अपनी मुट्ठी मे पकड़ लेता है परन्तु बँधी हुई मुट्ठी के कारण वह अपना हाथ बाहर नहीं निकाल पाता तथा मदारी द्वारा पकड़ लिया जाता है और फिर उसे घर-घर, द्वार-द्वार उसके साथ भटकना पड़ता है; या नलिनी पर बैठा तोता जब चिड़ीमार की युक्ति से उलट जाता है तब वह यह भूलकर कि उसे उस पर से उड़ जाना चाहिए उसे और भी अधिक कसकर पकड़ लेता है तथा चिड़ीमार द्वारा पकड़ा जाता है उसी प्रकार जीवात्मा भी अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर अपनी देह, इंद्रिय तथा संसार के लोभ में फँसी रहती है और उसी को सब कुछ समझने का भ्रम करती है फलतः वह मुक्ति नहीं पा सकती। सूरदास का कहना है कि यदि वह आत्मस्वरूप को पहचान ले अर्थात् अपनी शक्तियों को ध्यान में रखे तो निश्चित रूप से भवबंधनों से छुटकारा पा सकती है लेकिन अपने आत्मस्वरूप को भुला देने के कारण ही उसे विभिन्न प्रपंचों में फँसना पड़ता है।

टिप्पणी—कतिपय विचारक इस पद के आधार पर सूरदास जी को शंकराचार्य के भ्रमवाद और प्रतिबिम्बवाद से प्रभावित मानते हैं कारण कि उन्होंने जीव को स्वयं ब्रह्म माना है और माया से आक्रान्त होने पर वह माया मे अपने ही प्रतिबिम्ब-रूप अनेक रूप देखता है जिसके कि कारण वह अपने सत्य स्वरूप को नहीं समझ पाता। इसी प्रकार कुछ लोग इस पर निर्गुण-पंथ का प्रभाव भी देखते हैं और उनका अनुमान है कि इस पद में सूरदास आत्मतत्त्व को नाभि में स्थित मृगमद की भाँति अन्दर और अप्रकट रूप मे ही स्वीकार

---

* इसका यह अर्थ भी कर सकते हैं कि स्वप्न में किसी राजा को कंगाल हो जाने का और चोरों या शत्रुओं द्वारा पकडे जाने का भ्रम हुआ हो।

करते हैं तथा जिस प्रकार कस्तूरी-प्राप्ति के लिए मृग का तृण-द्रुमा की ओर दौड़ना व्यर्थ है उसी प्रकार आत्मतत्व के साक्षात्कार के लिए बाह्य प्रयास करना निरर्थक है तथा अन्दर के पट खोलने से ही आत्मदर्शन होता है। परन्तु वास्तव में ये सभी धारणाएँ निर्मूल हैं तथा यह पद शुद्धाद्वैत सिद्धांतानुकूल ही है।

अन्य विशेषताएँ—इस पद में सूरदास की बहुदर्शिता भी दर्शनीय है।

पद १९. हरि जू की आरती बनी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने भगवान की आरती का विराट् दृश्य अंकित किया है।

शब्दार्थ—गिरा—वाणी। अध-आसन—आरती के दीपक का निचल भाग। मही—पृथ्वी। सराव—दिया। घृत—घी।

भावार्थ—सूरदास जी भगवान की आरती का चित्रण करते हुए कह रहे हैं कि आज उनकी आरती का अत्यंत भव्य दृश्य दीख पड़ रहा है और उसकी रचना इतनी विचित्र है कि वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसे यों भी कह सकते हैं कि साक्षात् सरस्वती भी इस आरती का वर्णन नहीं कर सकती। कवि का कहना है कि इस आरती के दीपक का आधेय अर्थात् निचला भाग स्वयं कच्छप राज ही हैं और सहस्र फन वाले शेषनाग उसकी डंडी है तथा समस्त धरती ही दीपक है जिसमें सात समुद्रों का जलरूपी घी तथा पर्वतो रूपी बत्ती रखी हुई है। कवि कह रहा है कि चंद्र-सूर्य की ज्योति ही इस आरती की ज्योति है जिसमें जगत को अपने प्रकाश से परिपूर्ण करने और अंधकार रूपी रात्रि को दूर करने की क्षमता है। इन पंक्तियों का यह अर्थ भी किया जा सकता है कि आरती की दिव्य ज्योति जगत का अज्ञानरूपी अंधकार दूर कर ज्ञानरूपी शुभ्र प्रकाश फैलाती है। साथ ही आकाश के तारे इस आरती की लौ से उड़ने वाले स्फुलिंग है और सघन घटाएँ ही उसका काजल है तथा इस विराट् आरती में नारदादि, सनकादि ऋषि-मुनि, प्रजापति, देवता, मनुष्य, राक्षस आदि सभी बड़े उत्साह के साथ भाग ले रहे हैं। कवि का कहना है कि यह आरती काल की सीमा से परे है और न तो यह कर्म से बाधित ही है तथा न तो सत, रज, तम से ही प्रभावित है बल्कि इसका न तो आदि ही है

और न अंत . वस्तुतः ईश्वर की इच्छा से ही इसका निर्माण हुआ है तथा यह निरंतर प्रकाशित होती रहती है और सम्पूर्ण जगत इसकी पूजा करता है। सूरदास जी कह रहे हैं कि यह आरती अत्यंत विचित्र है तथा इसकी पूर्णानुभूति अंतर्मुखी ध्यानावस्था में ही होती है कारण कि अव्यक्त होने के फलस्वरूप बाह्य जगत के प्रपंचात्मक काल-वर्ग, गुणादि से यह परे ही है अतः समाधि अवस्था में ही इस विशद आरती का दर्शन होता है।

अन्य विशेषताएँ—यहाँ सूरदास ने भगवान की आरती का विराट् दृश्य अंकित किया है लेकिन इस पद के आधार पर उन्हें निर्गुण पंथ से प्रभावित मानना उचित नहीं है।

अलंकार—रूपक।

पद २०. नमो नमो करुनानिधान

अवतारणा—राजा परीक्षित को जब मुनि शुकदेव श्रीमद्भागवत की कथा सुनाने बैठे तब राजा ने मुनि की जो वन्दना की वही इस पद में अंकित है।

शब्दार्थ—बिहान—सबेरा। सकल—सब। घट—शरीर। दरस्यो—दिखाई देना। भावै परौ आजु ही यह तनु—चाहे आज ही यह देह छूट जाय। अभाव—मानशून्य। आन—शपथ, सुगंध।

भावार्थ—राजा परीक्षित शुकदेव की वंदना करते हुए कह रहे हैं कि हे करुणानिधान आपकी कृपा से मेरे हृदय का अहंकार रूपी अज्ञान मिट गया और मोह रूपी रात्रि लेशमात्र भी नहीं बची तथा ज्ञानरूपी प्रातःकाल उदय हुआ। आपने सूर्यरूपी ज्ञान को उदय कर मुझे यह बतला दिया कि सब प्राणियों में मेरी आतमा ही विद्यमान है अतएव सभी आत्मरूप हैं। इस प्रकार अब मेरा अपनेपन का अहंकार मिट गया तथा देहाभिमान मिट जाने से मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रही और यह मैं शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि अब मेरे मानस में एकमात्र यही लालसा है कि मैं रात-दिन प्रेमपूर्वक भगवान श्रीकृष्ण का गुणानुवाद अपने कानों से सुना करूँ।

टिप्पणी—यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो इस पद में सूरदास जी की निजी भावनाएँ ही व्यक्त हैं तथा इसमें उन्होंने साधक की जीवनमुक्त अवस्था का

वर्णन करते हुए अपनी ही आत्मा को समस्त प्राणियों में देखना उचित समझा है।

अन्य विशेषताएँ—यद्यपि ईश्वरोपासना के हेतु आचार्यों ने विभिन्न मार्ग बतलाए हैं लेकिन उनमें से श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन नामक नौ मुख्य मार्ग माने जाते हैं तथा श्रीमद्-भागवत में नवधाभक्ति को ही श्रेष्ठतम कहा गया है—

श्रवण कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ।

श्री हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु के अनुसार "श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत्" अर्थात् भगवान् के यश, महत्ता, गुण, उनका पावन नाम तथा उनकी लीलाओं का श्रद्धापूर्वक सुनना और सुनाना ही श्रवण भक्ति है।" वस्तुतः अष्टछाप कवियों की सम्पूर्ण वाणी भगवान् के नाम और लीला के सुनने और सुनाने से सम्बध रखती है और कतिपय स्थलों पर तो उन्होंने उनका श्रवण करने का माहात्म्य भी कहा है। इस प्रकार प्रस्तुत पद भी श्रवण भक्ति सम्बंधी ही है।

अलंकार—सांग रूपक।

पद २१. आजु दशरथ के आँगन भीर

अवतारणा—जैसा कि कतिपय विचारकों का मत है "सूरसागर श्रीमद् भागवत् की काव्यमयी छाया है" अतः सूरदास जी ने भी भगवान् के चौबीस अवतारों का वर्णन अपनी कृति में किया है। यह अवश्य है कि कृष्ण का चरित्र उन्होंने विस्तार सहित अंकित किया है लेकिन सूरसागर के नवम् स्कन्ध में रामचरित्र का भी वर्णन किया गया है और राम सम्बंधी उनके इन्हीं पदों से आठ पद 'सूर-प्रभा' में भी दिए गए हैं। प्रस्तुत पद में राम-जन्म का वर्णन किया गया है।

शब्दार्थ—भुव—पृथ्वी। परिरंभन—उमंग में भरकर भेंटना, आलिंगन। त्रिदसनृपति—इन्द्र। निहाल—संतुष्ट।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि आज राजा दशरथ के राजभवन के प्रांगण में बड़ी भीड़ है क्योंकि पृथ्वी का भार उतारने के हेतु आज साक्षात

भगवान् विष्णु ही श्याम शरीर धारण कर वहाँ प्रकट हुए है। इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि राजा दशरथ के यहाँ पुत्र उत्पन्न होने की प्रसन्नता में जन समुदाय उनके प्रांगण में एकत्र हो गया। वस्तुतः प्राचीन काल में राजा के यहाँ जब कोई मंगल-सूचक कार्य होता था तब जनता भी उसमें उत्साह लेती थी और इस प्रकार पुत्र-जन्म के अवसर पर भीड़ एकत्र होना स्वाभाविक ही है। कवि कह रहा है कि इस अवसर पर अयोध्यावासी फूले नहीं समाते और अत्यधिक प्रसन्नचित्त हो अगणित वस्तुओं का दान दे रहे हैं तथा उनके नेत्रों से आनद के आँसू बहते है और वे प्रसन्नता से एक दूसरे को गले से लगा लेते हैं। इनना ही नही देवताओ के राजा इन्द्र तथा अन्य मुनि-वृन्द भी आकाश में विमानों पर चढे यह सुखद दृश्य देख रहे हैं लेकिन बार-बार देखने पर भी उनकी तृप्ति नही होती। कवि का कहना है कि तीनों लोकों के स्वामी भगवान् राम इतने कृपालु हैं कि उन्होंने अपने दर्शन देकर सबके कष्टों को दूर कर दिया। साथ ही राजा दशरथ ने भी अपने राजकोप के अमूल्य जवाहरात बँटवा दिए और अपने पास कुछ भी नही रखा। सूरदास जी कह रहे हैं कि इस अवसर पर सभी याचकगण अपनी मनोकामना पूर्ण होने के कारण सतुष्ट हो गए और उन्हें, भगवान् राम द्वारा अपनी इच्छा पूर्ति होते देखकर, अत्यंत प्रसन्नता हुई।

अन्य विशेषताएँ—यद्यपि सूर कृष्ण-भक्ति-शाखा के ही कवि कहे जाते ह लेकिन राम-चरित्र का वर्णन करने में भी उन्हें सफलता मिली है और दृश्य-चित्रण की दृष्टि से सूर का यह वर्णन अत्यत सुन्दर बन पड़ा है। तुलसीदास ने भी रामचरित मानस के बालकांड में इसी प्रकार कहा है—

गृह गृह बाज बधाव शुभ, प्रगटेउ सुखमा कंद।
हरषवंत सब जहँ तहाँ, नगर नारि-नर-वृंद॥

पद २२. करतल सोभित बान धनुहियाँ

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने राजा दशरथ के चारों पुत्रो राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की बालशोभा का वर्णन किया है।

शब्दार्थ—करतल—हाथ में। बान धनुहियाँ—धनुष-बाण। कनकमय—स्वर्ण-मय। सदहियाँ—सदेह। महियाँ—में। ओप—शोभा, प्रकाश। निरबाहत—निभाना। गहि बहियाँ—बाँह पकड़ कर।

भावार्थ सूरदास जी कह रहे हैं कि राम लक्ष्मण, भरत एवम् शत्रुघ
थों में धनुष बाण लिए हुए अत्यंत शोभायमान प्रतीत होते हैं और वे चार
ई राजभवन के स्वर्णमय आँगन में लाल रंग के छोटे-छोटे जूते पहने खेलते
र घूमते हुए देख पड़ते हैं तथा दशरथ और कौशल्या उन्हें फूलों के समान
कुमार ही समझती हैं। वे चारों पुत्र उनके सुन्दर मन का प्रतिबिम्ब ही हैं
र उन्हें यही भास होता है कि उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ ही इन पुत्रों के रूप
साकार हो उठी हैं। उन चारों भाइयों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है
में आँगन रूपी सरोवर के समीप चार सुन्दर हंस सदेह बैठे हों। कवि
कहना है कि रघुकुल रूपी कुमुदों को विकसित करने वाले चन्द्रमा रूपी
ही इस वसुधा पर अवतीर्ण हुए हैं और वे चिंतामणि के समान सभी
लाषाओं को पूर्ण करने वाले एवं आनंद की निधि तथा रघुवंश का गौरव
के लिए ही आए हैं। सूरदास जी कहते हैं कि जो सुख तीनों लोकों में
किसी को नहीं मिल पाया वह दशरथ और कौशल्या को मिल रहा है
अत्यंत शक्तिशाली और सामर्थ्यवान होते हुए भी भगवान् आज बालरूप
के कारण अपने माता-पिता को बाल-क्रीड़ा का सुख देने के लिए
उनकी भक्ति का निर्वाह करने के हेतु उनके हाथों का सहारा लेकर
हैं।

टिप्पणी—कहा जाता है कि स्वायंभुव मनु एवं शतरूपा की तपस्या पर
होकर भगवान् ने उनके यहाँ पुत्र रूप में अवतरित होने का वरदान
था और कालांतर में स्वायंभुव मनु एवं शतरूपा ही दशरथ तथा
का शरीर धारण कर पैदा हुए तथा भगवान ने उनके यहाँ जन्म
उनकी मनोकामना पूर्ति की। अतएव प्रस्तुत पद की अंतिम पंक्ति का
यह है कि भगवान् राम दशरथ और कौशल्या की बाँह का सहारा
उनकी मनोकामना पूर्ति कर रहे हैं अर्थात् उनकी अनन्य भक्ति पर
होकर उन्होंने जो वरदान उन्हें दिया था उसकी पूर्ति कर रहे हैं।
अलंकार—उत्प्रेक्षा और रूपक। तीसरी पंक्ति के 'सुमन' शब्द में श्लेष

२३. कर कंपै कंकन नहिं छूटै

प्रसंग—प्रस्तुत पद में कविवर सूरदास जी राम और सीता के विवाह
सम्बन्धी दृश्य अंकित करते हुए उस प्रसंग का वर्णन कर रहे हैं जब कि
राम सीता के हाथ का कंगन खोलते हैं।

जनक के आँगन में नगाड़े बजाए गए और ब्राह्मणों ने वैदिक प्रथानुसार वर-वधू का अभिषेक किया। कवि का कहना है कि इसी आनन्द का वर्णन शुकदेव मुनि ने भी पुराणों में किया है।

अन्य विशेषताएँ—सूरदास जी ने इस पद में वैवाहिक अवसरों पर किए जाने वाले कृत्यों का वर्णन करते समय लोकप्रथाओं का भी सजीव चित्रण किया है। कंगन खोलते समय हाथ का काँपना, गाली गाने की प्रथा, जनकपुर की एक स्त्री का कौशल्या पर व्यंग्य, द्यूत-क्रीड़ा आदि सभी प्रसंग स्वाभाविक रूप में चित्रित हुए हैं। तुलसीदास ने भी कवितावली में इसी प्रकार का वर्णन किया है; देखिए—

> **दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।**
> **गावति गीत सबै मिलि सुंदर, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं॥**
> **राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं।**
> **यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥**

अलंकार—स्वाभावोक्ति और व्यंग्य।

पद २४—कहि धौं सखी बटोही को हैं

अवतारणा—वनगमन के अवसर पर जिस समय राम सीता और लक्ष्मण वन जा रहे थे उस समय कुछ ग्रामवधुओं ने उन तीनों की सुहावनी छवि देखकर यह जानना चाहा कि आखिर ये तीनों पथिक कौन हैं और इस उद्देश्य से वे परस्पर एक दूसरे से वार्तालाप करने लगीं लेकिन जब वे अपनी शंकाओं का समाधान न कर सकीं तब उन्होंने सीताजी से उनका परिचय पूछा और उन्होंने इंगितमात्र से ही उनकी शंका का समाधान कर दिया। प्रस्तुत पद में इसी प्रसंग का वर्णन है।

भावार्थ—राम, लक्ष्मण और सीता को देखकर एक ग्रामवधू ने अपनी सखी से पूँछा कि ये यात्री कौन हैं जो कि अपने साथ अत्यंत सुन्दर नारी को लेकर वन जा रहे हैं। वस्तुतः ये तीनों अत्यंत सुन्दर हैं और इनमें तीनों लोकों को मुग्ध कर देने की शक्ति है तथा इनकी सुशीलता और सुलक्षण देख कर यही भास होता है कि साक्षात् विधाता ने भी इनका निर्माण नहीं किया क्योंकि देहधारियों में कोई भी ऐसा सुन्दर सशील एव सुलक्षणी नहीं है जिससे

इनकी उपमा दी जा सके। इस प्रकार की उत्सुकता के पश्चात् ग्रामवधुएँ सीता से यह पूँछने लगीं कि इन दो युवकों में से तुम्हारे पति कौन हैं? सीताजी ने उनकी यह बात सुनकर कमल के समान नेत्रवाले साक्षात् कामदेव-रूप राम की ओर इंगित कर यह बता दिया कि वे उनके पति हैं। इसके पश्चात् सब ग्रामवासी बहुत दूर तक उन तीनों को पहुँचाने गए और उनके हृदय में इतना अधिक स्नेह उमड़ आया कि वे वापिस लौटना ही नहीं चाहते थे तथा वे सभी प्रभु के वियोग में दीर्घ उसाँसे लेने लगे।

अन्य विशेषताएँ—कवि ने यहाँ सीता द्वारा इंगित मात्र से ही अपने पति का परिचय दिला कर प्राचीन हिंदू नारी-जाति की मर्यादा की ओर संकेत किया है। पत्नी अपने पति का नाम लेने या परिचय देने में संकोच करती है अतः सीता ने भी स्वाभाविक ही संकेतमात्र से अपने पति का परिचय दिया है। तुलसीदास ने भी अपनी कृतियों में इस प्रसंग का अत्यंत सुन्दर वर्णन किया है—

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी सी भौंहें।
तून सरासन बान धरे तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं॥
सादर बारहिं बार सुभाय चितै, तुम क्यों हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्रामबधू सिय सों कहौ साँवरे से सखि रावरे को हैं॥
सुनि सुंदर बैन सुधारस साने सयानी है जानकी जानी भली।
तिरछै करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसकाइ चली॥...इत्यादि
—कवितावली

और भी—

कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसकानी॥
बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैनन। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥
—रामचरितमानस

अलंकार—सूक्ष्म और ललित।

पद २५—बंधू! करियौ राज सँभारे।

अवतारणा—जब भरत अपने भाई राम को अयोध्या वापिस लौटा लाने के लिए चित्रकूट जाते हैं तब राम अपने पिता द्वारा दिए गए वचनों को

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि मेघनाद की शक्ति के प्रभाव से मूच्छित लक्ष्मण के मुख को देखकर रामचन्द्र जी अत्यंत दुखी हो उठे और उनका धैर्य जाता रहा तथा इतने अधिक आँसू बहे कि उनके कमल सदृश नेत्र लाल पड़ गए। इसके पश्चात् रामचन्द्र जी कहने लगे कि क्या बारह वर्ष की निद्रा-साधना के कारण ही आज थक कर तुम्हारा शरीर विकल हो गया है ? हमेशा मेरी विपत्ति में सहायता देने वाले वीर भाई आज तुम चुप क्यों हो ? चूँकि मेघनाद को वही मार सकता था जो बारह वर्ष तक निद्रा-साधना कर सके, अर्थात नींद न ले और लक्ष्मण ने यह साधना पूर्ण की थी अतः उन्हें यहाँ बारह वर्ष तक निद्रा-साधना करने वाला माना गया है। इसे यों भी कह सकते हैं कि भगवान् राम के साथ वनगमन के अवसर पर लक्ष्मण बारह वर्ष तक तनिक भी विश्राम नहीं करते थे अतः उन्हें नींद पर विजय प्राप्त करने वाला माना गया। इतना कहने के पश्चात् राम ने पुनः कहा कि मुझ पर तो विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा है और एक तो पहले से ही पिता दशरथ की मृत्यु और सीता-हरण का दुःख एवम् युद्ध में शत्रु-दल की चिन्ता थी दूसरे अब तुम्हारे न रहने से मेरा दुःख द्विगुणित हो गया तथा मुझे यह समझ में नहीं आ रहा कि अब तुम्हारे बिना मुझे कौन धीरज बँधा सकता है।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में करुण रस की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है तथा कवि ने राम की आंतरिक भावनाओं का वास्तविक चित्रण किया है। तुलसी की गीतावली में भी इसी प्रसंग का चित्रण है लेकिन वह उतना वास्तविक नहीं प्रतीत होता जितना कि सूर का। देखिए—

> राम लषन उर लाय लये हैं।
> भरे नीर राजीवनयन सब अंग परिताप तये हैं॥
> कहत ससोक बिलोकि बंधु मुख बचन प्रीति गुथये हैं।
> सेवक सखा भगति भायप गुन चाहत अब अथये हैं॥

............इत्यादि

अलंकार—चतुर्थ पंक्ति में वृत्यानुप्रास।

पद २८. हमारो जन्मभूमि यह गाउँ

अवतारणा—लंका-विजय के पश्चात् पुष्पक-विमान पर अयोध्या लौटते समय राम ने अपने साथियों से अयोध्या का जो वर्णन किया वही इस पद में अंकित है।

शब्दार्थ नाऊँ—नाम। ठाऊँ—स्थान। सुरपुर—देवलोक, स्वर्ग।

भावार्थ—पुष्पक विमान पर बैठे हुए रामचन्द्र जी अपने सखा सुग्रीव, विभीषण आदि को अयोध्यापुरी दिखलाते हुए कह रहे हैं कि यह नगरी ही हमारी जन्मभूमि है जो कि पृथ्वी पर अयोध्यापुरी के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें वन, उपवन, नदी, तालाब आदि अनेक दर्शनीय रम्य स्थान हैं। राम पुन: कहते हैं कि मैं यह अपने सच्चे स्वभाव से कह रहा हूँ कि इसे तजकर मैं स्वर्ग में भी रहना पसन्द नहीं करूँगा और यहाँ के निवासियों को देखकर मेरा हृदय आनन्द से भर उठता है। यदि विधि-विधान का संकोच न हो तो मैं अयोध्या छोड़कर कदापि स्वर्ग न जाऊँ और हमेशा यहीं रहूँ। इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा सृष्टि-निर्माता हैं तथा उनके नियम के अनुसार व्यक्ति का क्षय निश्चित है अत: राम के कथन का अर्थ यह है कि विधाता के नियमों का पालन करने के लिए ही मुझे यह स्थान छोड़ना पड़ेगा जो कि मुझे स्वर्ग से भी अधिक प्रिय लगता है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि एक-दो टीकाकारों ने इस पंक्ति का यह अर्थ माना है कि ब्रह्मा सृष्टि रचते हैं और विष्णु उसका प्रतिपालन करते हैं अत: राम अपना कर्त्तव्य पालन करने के हेतु स्वर्ग जाने के लिए विवश थे, लेकिन वास्तव में यह अर्थ त्रुटिपूर्ण ही है—कारण कि राम उस समय मानव रूप में थे और वे मानवोचित भावनाएँ ही अभिव्यक्त कर रहे थे।

टिप्पणी—इस पद में मातृभूमि की महत्ता अंकित की गई है तथा उसे स्वर्ग से भी श्रेष्ठ माना गया है।

पद-२९. विनती केहि बिधि प्रभुहिं सुनाऊँ

अवतारणा—प्रस्तुत पद में भगवान् राम के प्रति सूर की विनयावलि का आमुख अंकित किया गया है और कवि का अभिप्राय यह है कि चूँकि मौखिक रूप से राम के साक्षात्कार में आत्मदशा-प्रकाशन का अवसर उसे नहीं मिल सकता अत: भगवान् उसे लिखित विनयपत्रिका भेजने की आज्ञा दें जिससे कि वह अपनी फरियाद उन तक पहुँचा सके।

शब्दार्थ—जाम—पहर। जामिनि—यामिनी, रात्रि। दिनकर—सूर्य। अनखाऊँ—क्रुद्ध होना, झुँझलाना। रवनी-मुख तुम्बक—एक

गधव कमला पति लक्ष्मी क पति भगवान विष्ण पतित उधारन पापियों का उद्धार करनेवाले ।

भावार्थ—सूरदास जी भगवान् रामचंद्र से कह रहे हैं कि मैं अपनी प्रार्थना किस प्रकार आप तक पहुँचाऊँ कारण कि आप इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि आपको इतना अवकाश ही नहीं मिल पाता कि मेरी प्रार्थना सुन सके। कवि का कहना है कि यदि मैं एक प्रहर रात्रि शेष रहते आपके निकट अपनी प्रार्थना सुनाने आता हूँ तो यह सोचकर कि इस मधुर निद्रा से आपको जगाना उचित न होगा, आपको सुप्तावस्था में ही रहने देता हूँ तथा जब प्रातःकाल आपके समीप पहुँचता हूँ तो यह देखकर कि आपको ब्रह्मा, शिव आदि देवता गण घेरे हुए हैं और आपके निकट देवताओं एवं मुनियों की अपार भीड़ एकत्र है आप तक पहुँचने का साहस ही नहीं होता और यदि आप तक पहुँचने का प्रयास भी करता हूँ तो भीड़ में से रास्ता ही नही मिलता। इस सभा के विसर्जित होने तक दोपहर हो जाती है और उस समय भी भीड़ देखकर मैं यह सोचकर लौट आता हूं कि आप अब स्नान, भोजन, विश्राम आदि नित्य-प्रति के कार्यों में व्यस्त होंगे अतः आपको प्रार्थना सुनने का कष्ट देने से आप क्रुद्ध हो उठेंगे। इसी प्रकार सन्ध्या समय नारद मुनि और तुम्बक नामक गधर्व आपका गुणगान करने के लिए आ जाते है अत. हे कृपानिधि भगवान् राम अब आप ही यह बतलाइए कि इन अमर, मुनियों एवं उच्च कोटि के भक्तों की समकक्षता में भला मैं किस प्रकार आ सकता हूं जो कि उनके होते हुए मैं आप तक पहुँचकर आपका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर आपको अपनी प्रार्थना सुना सकूं, इसलिए अब मेरे सामने एक मात्र यही उपाय अवशिष्ट रह गया है कि यदि आप आज्ञा दें तो मै आपको अपनी दशा एक पत्र में लिख कर भेज दूँ जिससे आप मेरा उद्धार कर सकें।

अन्य विशेषताएँ—कवि ने भगवान् को पतितोद्धारण कहा है कारण कि वे पापियों को सांसारिक जंजालों से छुटकारा प्रदान कराकर उन्हें मोक्ष-लाभ कराते हैं। चूँकि मौखिक रूप से कोई भी बात कहते समय उसे संक्षेप में ही कहना पडता है अत सूर अपनी आत्म-दशा का लिखित रूप में ही

करना चाहते हैं जिससे वे अपना पूरा हाल उसमें लिख सकें। गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी प्रकार भगवान् श्रीराम के दरबार में अपनी विनय-पत्रिका भिजवायी है।

पद ३०. गोकुल प्रगट भये हरि आई

अवतारणा—यद्यपि सूरसागर श्रीमद्भागवत की भाँति द्वादश स्कन्धों में समाप्त हुआ है लेकिन इन सभी स्कन्धों की तुलना में उसका दशम् स्कन्ध न केवल साहित्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अत्युत्तम है अपितु वह आकार-प्रकार में भी उन सबसे बड़ा है। इस दशम् स्कन्ध में सूरदास ने कृष्ण-चरित्र का विस्तृत वर्णन किया है तथा इसी स्कन्ध में एक सौ बाइस पद 'सूरप्रभा' में संगृहीत किये गये हैं। प्रस्तुत पद में कृष्ण के गोकुल में जन्म लेने की कथा तथा नंद यशोदा की प्रसन्नता का वर्णन किया गया है।

शब्दार्थ—अमर-उधारन—देवताओं का उद्धार करने वाले। असुर-सँहारन—राक्षसों का संहार करने वाले। जसुमति—यशोदा।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि त्रैलोक्य के स्वामी अंतर्यामी भगवान् हरि राक्षसों का संहार कर देवताओं का उद्धार करने के लिए गोकुल में प्रकट हुए हैं। कवि अब कृष्ण के जन्म की कथा का वर्णन करते हुए कह रहा है कि कृष्ण का जन्म होने के पश्चात् वसुदेव जी उन्हें अपने सिर पर रखकर नंद महर के घर पहुँचा आये तथा जब नंद की पत्नी यशोदा नींद से जागीं तब वे पुत्र का मुख देखकर अत्यंत प्रसन्न हुईं और उनका सारा शरीर इतना अधिक पुलकायमान हो गया कि आनन्द हृदय में समा नहीं रहा था। उनका कंठ गद्‌गद् हो गया और वाणी अवरुद्ध हो गयी तथा अत्यन्त हर्ष के साथ उन्होंने नंद को बुलाकर कहा कि हे स्वामी, देवता प्रसन्न हो गये हैं—और अपने यहाँ पुत्र जन्म हुआ है अतः तुम शीघ्र आकर अपने सुत का मुख देखकर अपनी अभिलाषा पूर्ण करो। यह सुनकर नंद दौड़ते हुए वहाँ आये और पुत्र को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए तथा उन्हें जो आनन्द प्राप्त हुआ वह यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता। सूरदास जी कहते हैं कि जिस समय नंद कृष्ण को गोद में लिये फूले नहीं समा रहे थे उसी समय शीघ्र ही यशोदा ने दूध पिलाने के लिए कृष्ण को उनसे माँग लिया।

टिप्पणी—कवि ने इस पद में पुत्र-जन्म के अवसर पर होने वाले उल्लास का स्वाभाविक वर्णन ही किया है।

पद ३१. माई आजु तो बधाई बाजै मंदिर महर के

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने गोकुल में कृष्ण-जन्म के समय पर मनाए जाने वाले आनन्दोत्सव का वर्णन करते हुए यह दिखलाना चाहा है कि इस अवसर पर न केवल नंद-महर के स्वजन-परिजन ही प्रफुल्लित हैं अपितु प्रकृति भी उल्लासमयी हो रही है और गोकुल की आनन्द-लहर सर्वत्र सुमनों को रससिक्त सी कर रही है।

शब्दार्थ—फूले फिरैं—प्रसन्नचित्त होकर घूमते हैं। धेनु—गाय। धाम—भवन। पुंज—समूह। जूथ—समूह। जलधर—बादल। मदन—कामदेव। मनोज—कामना। सारँग पानी—सारँग अर्थात् धनुष, बाण, शंख, कमल आदि हाथ में धारण करने वाले, विष्णु। भूपति—राजा।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि गोकुल में कृष्ण-जन्म का आनंदोत्सव मनाया जा रहा है तथा इस अवसर पर नंदमहर के घर पुत्र-जन्म की बधाई बज रही है और समस्त गोपी-ग्वाल धीरे-धीरे प्रसन्न चित्त इधर-उधर घूम रहे है। इतना ही नहीं गाएं भी प्रसन्न हो रही हैं तथा प्रत्येक भवन आनन्द के मारे फूला नहीं समाता और गोपिकाओं का अंग-अंग पुलकायमान हो रहा है। कवि का कहना है कि प्रकृति भी हर्षोल्लास से पूर्ण दीख पड़ रही है और इस प्रकार वृक्ष भी फूल-फल रहे हैं तथा सर्वत्र एक आनन्द की लहर सी प्रवाहित होती जान पड़ती है। द्वार पर खड़े बन्दीजन तो प्रसन्न हैं ही लेकिन विकसित बंदनवार भी ऐसी लगती है मानों वह भी प्रभु के पैदा होते ही आनन्दित हो उठी हो। इस प्रकार गोकुल में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द दीख पड़ता है और जहाँ भी जो कोई है वह प्रसन्न ही है तथा सम्पूर्ण यादव कुल के लोग अत्यंत प्रसन्न हो उठे हैं, कारण कि उनके पूर्व-जन्म के पुण्यों का फल उन्हें आज मिल रहा है। इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि यादव कुल में भगवान् के जन्म लेने से यादव वंश गौरवान्वित हो उठा है। कवि कह रहा है कि इस अवसर पर यमुना नदी का जल भी आनन्द से हिलोरें ले रहा है तथा सम्पूर्ण कुंजों के पुष्प भी प्रफुल्लित हो उठे हैं और काले-काले वारिद खंडों का

समूह भी गरज कर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहा है। (स्मरण रहे कि भाद्रपद मास में कृष्ण का जन्म हुआ था और उस महीने में वर्षा ऋतु रहती है अतएव कवि ने यहाँ श्याम मेघ-खंडों का वर्णन कर स्वाभाविकता ला दी है) इस सुहावने दृश्य को देखकर कामदेव तथा उसकी पत्नी रति भी आनन्द से फूली नहीं समाती तथा कृष्ण के बड़े भाई हलधर भी आनन्दित हो उठे हैं और उन्हें जो एक अनुज की चाह थी वह आज पूर्ण हो गयी जानकर वे भी अत्यंत प्रसन्न है। यह जानकर कि कंस के अत्याचारों का क्लेश तथा भय अब दूर हो जाएगा ब्राह्मण, साधु, संत आदि प्रसन्न हो उठे हैं और इस प्रकार सूरदास जी का कहना है कि चारों ओर लोग नंद के घर के बाहर और भीतर पुत्र-जन्म की बधाई गा रहे हैं। यशोदा रानी भी, यह विचार कर कि उन्होंने एक ऐसे पुत्र को जन्म दिया है जो साक्षात् भगवान् विष्णु ही है, आनन्द के कारण फूली नहीं समातीं और नंद भी उदारता के साथ दानादि देकर प्रसन्न हो रहे है, कारण कि आज उनके घर के भाग्य ही फिर गये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि नन्द को बहुत दिनों से पुत्र का मुख देखने की लालसा थी और आज उनकी अभिलाषा पूर्ण हो गयी।

अन्य विशेषताएं—कवि ने इस पद में कृष्ण जन्म के अवसर पर मनाये जाने वाले आनन्दोत्सव का वर्णन करते समय प्रकृति की भव्य पीठिका भी प्रस्तुत की है और इस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं को भी उन्होंने हर्षोल्लास पूर्ण मानकर अपने पद में स्वाभाविकता ला दी है। तुलसी ने भी गीतावली में इसी प्रकार प्रकृति को उल्लासमयी माना है—

उकठेउ हरित भये जल थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई।
फूलत फलत पल्लवत पलुटत विटप बेलि अभिमत सुखदाई॥

अंलकार—इस पद में कवि ने 'फूले', 'सुन्दर' 'धन्य' और 'रासि' शब्दों की पुनरुक्ति का सौंदर्य प्रस्तुत किया है अतः प्रस्तुत पद में **पुनरुक्ति प्रकाश** अलंकार है।

पद ३२. जसोदा मदन गोपल सुवावै

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने बाल-कृष्ण की सुप्तावस्था का

चित्रण करते हुए उन विभिन्न भावनाओं का उल्लेख किया है जो कि उस समय देवताओं के मानस में उदय हुई थीं।

शब्दार्थ—बिरंचि—ब्रह्मा। असित—काले। आलस लोचन—अलसाये नेत्र। रबिगत—सूर्यास्त होने पर। संकुचित—सिमटा हुआ। अलि—भ्रमर। निसिपति—चंद्रमा। दुग्धसिंधु—क्षीर सागर। पन्नगपति—शेषनाग।

भावार्थ—कविवर सूरदास जी कह रहे हैं कि यशोदा श्रीकृष्ण को सुला रही है तथा उन्हें सुप्तावस्था मे देखकर तीनों लोक इस आशंका से काँप उठे कि कही प्रलय न हो जाए और भगवान् शिव तथा ब्रह्मा भी इस भ्रम में पड़ गये है कि यदि भगवान् विष्णु इस प्रकार सो गये तो जगत का काम कैसे चलेगा। जिस समय कृष्ण की काली, लाल तथा सफेद रंग के अलसाये दोनों नेत्रों की पुतलियों पर निद्रा के लक्षण स्पष्ट होने लगे उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानों कि सूर्यास्त होने पर दो कमल पुष्प संकुचित हो रहे हों तथा उनमे बन्द रस-लोलुप भ्रमर उड़ न पा रहे हों। यहाँ कवि ने कृष्ण के दोनो नेत्रों को कमल माना है तथा पुतलियों को भ्रमर और इस प्रकार जैसा कि परम्परा से प्रसिद्ध है सूर्यास्त होने पर कमल का पुष्प संकुचित होने लगता है तथा रस-पान में रत भ्रमर भी उसी के अन्दर बंद हो जाता है। कवि का अभिप्राय यह है कि कृष्ण को निद्रावस्था में देखकर ऐसा भास होता है, मानों कमल रूपी नेत्रों में भ्रमर रूपी पुतलियाँ बंद सी हो गयी हैं। साथ ही कवि का कहना है कि जिस समय कृष्ण चौंक-चौंककर बाल-सुलभ क्रीडाएँ करने लगते हैं उस समय की शोभा मन में समा नहीं पाती और ऐसा प्रतीत होने लगता है मानों चन्द्रमा ही अमृत धारण कर पृथ्वी के भंडार को सुधा से परिपूर्ण कर रहा है। निद्रावस्था में जब कृष्ण स्वास लेने लगते हैं उस समय उनका उदर इस प्रकार ऊपर-नीचे उठता है मानो क्षीर सागर शोभा दे रहा हो तथा ब्रह्मा भी अपने स्थान—भगवान् विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल—से उतर कर नीचे चले आने के कारण झूला झूलने के सहज आनन्द से वंचित हो जाने पर पछता रहे हैं। स्मरण रहे कि पुराणों के अनुसार विराट् पुरुष ईश्वर की नाभि से एक कमल निकला जिससे ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए और तदुपरांत ईश्वर की आज्ञा पा उन्होंने तप किया तथा फिर उस नाभि

कमल से उतर कर सृष्टि के विविध रूपों का सृजन किया। अब इस प्रकार इन पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि यदि ब्रह्मा जी नाभि कमल पर बैठे रहते तो निश्चिन्तता के साथ आनन्द से भगवान् की नाभि पर झूलते रहते लेकिन अब उन्हें अपना आसन छोड़ देना पड़ा है अतः जब वे कृष्ण के उदर को उठते बैठते देखते हैं तब झूला झूलने के सहज आनंद से वंचित रह जाने के कारण स्वाभाविक ही पछताते हैं। सूरदास जी कहते हैं जिस समय कृष्ण सिर के नीचे हाथ रख कर सोते हैं उस समय उनकी केश राशि अत्यन्त शोभायमान प्रतीत होती है और ऐसा प्रतीत होता है मानो कि शेषनाग ही उनके ऊपर सहस्रफन फैला कर छाया कर रहा है।

टिप्पणी—कहते हैं प्रलय के समय भगवान् बालरूप में अक्षयवट के एक पत्र पर लेट रहते हैं अतः यहाँ भी भगवान् को निद्रावस्था में देख कर प्रलय की आशंका होना स्वाभाविक ही है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और भ्रांति।

पद ३३. मेरौ नान्हरिया गोपाल बेगि बड़ौ किन होहि

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने नवजात शिशु के सम्बंध में माता की स्वाभाविक कामनाओं का सफल चित्रण किया है।

शब्दार्थ—नान्हरिया—नन्हा, छोटा। बेगि—शीघ्र। बयन—बचन। धरनि—जमीन। छुधित—क्षुधित, भूखा।

भावार्थ—माता यशोदा कह रही हैं कि मेरा यह छोटा-सा गोपाल कब बडा होगा और अपने इस मुख से कब मधुर वचनों में हँस कर मुझे माँ कह कर बुलाएगा। उनका कहना है कि मेरी यह अभिलाषा दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है तथा मैं यही सोचती हूँ कि भगवान् कब इसे पूरी करेंगे कि मैं यह देखूँ कि कृष्ण हँस-हँस कर धरती पर चलने लगें तथा अपने बड़े भाई बलराम सहित इस आँगन में इधर-उधर घूमें जिससे कि उनके चरणों की ध्वनि सुन कर मुझे आनन्द प्राप्त हो। यशोदा कहती है कि मैं जब उन्हें क्षण-मात्र भी भूखा देखूँगी तो अपने पास दूध पिलाने के लिए हठपूर्वक बुलाऊँगी। इस प्रकार सूरदास जी कह रहे हैं कि शास्त्र और वेद भी जिसकी महिमा का वर्णन करने में असमर्थ रहे हैं तथा भगवान शंकर और ब्रह्मा भी जिसका पार

नहीं पा सके हैं वही भगवान् आज बालक के रूप में अपनी लीला का मधुर रस प्रकट कर माता यशोदा का मन प्रमुदित कर रहे हैं।

अन्य विशेषताएँ—यों तो कवि ने इसमें जननी की मानसिक भावनाओं का बड़ा ही सजीव एवं मूर्त्तिमान रूप प्रस्तुत किया है लेकिन साथ ही इसे वात्सल्य-भक्ति का भी सुन्दर उदाहरण माना जा सकता है। वस्तुतः बल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा-पद्धति में वात्सल्य भाव की सेवा पर विशेष जोर दिया था कारण कि इसमें निष्काम प्रेम का भाव सर्वाधिक रहता है और इस प्रकार की भक्ति-भावना से साधना की आरंभिक अवस्था में लौकिक वासनाओं से जल्दी छुटकारा मिल जाता है तथा निरोध की अवस्था द्रुतगति के साथ आती है। चूँकि वात्सल्य भाव की शुचिता, सुखमग्नता एवं प्रबलता का अनुभव मातृ-हृदय ही विशेष रूप से कर सकता है अतः वात्सल्य भाव की भक्ति करते समय कृष्णभक्तों ने अपने आपको यशोदा की स्थिति में ही रखा है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि वात्सल्य भक्ति का मूलस्रोत श्रीमद्भागवत ही है लेकिन वल्लभ सम्प्रदाय एवं अष्टछापी कवियों की कविताओं में वह विशेष रूप से अभिव्यक्त हुई है। सूरदास का प्रस्तुत पद भी इसी भक्ति का सुन्दर उदाहरण है।

पद ३४. लालन हौं तेरे मुख पर वारी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने कृष्ण के प्रति यशोदा के मातृ-हृदय की भावनाओं का सजीव चित्रण किया है।

शब्दार्थ—लालन—पुत्र। मसि बिंदुका—काजल का टीका। अलिसावक—भ्रमर का छोटा बच्चा। मधुप—भ्रमर। दसन—दाँत। कल बल करि बोलति—तोतली बोली।

भावार्थ—यशोदा कह रही हैं कि हे पुत्र मैं तेरे मुख की सुन्दरता पर न्यौछावर हो रही हूँ और मैं यही चाहती हूँ कि तुम्हें कभी भी रुग्ण न रहना पड़े तथा तुम्हारी सभी व्याधियाँ मेरे इन नेत्रों को लग जाएँ अर्थात् तुम्हें जो भी कष्ट हो वह मैं स्वयं सहन कर लूँ जिससे कि तुम्हें किसी भी प्रकार की तकलीफ न हो। कवि बाल-कृष्ण की सुषमा का वर्णन करते हुए कह रहा है कि उनके मुख पर बालों की लटें छिटकी हुई है तथा कहीं किसी की कुदृष्टि न पड़ जाय इस भय से काजल का दिठौना भी लगा हुवा है और साथ ही

मस्तक मे आनन्ददायक तिलक सुशोभित है। यहाँ कवि ने मुख को कमल, दिठौना को भ्रमर और अलकों को छोटे भ्रमरो की पंक्ति मान कर कल्पना की है कि बाल-कृष्ण के सुन्दर मुख रूपी कमल पर छोटे-छोटे भौंरों की पंक्ति और भ्रमर विराजमान है जिनमें कि अत्यंत अनूठी शोभा है। साथ ही बालक कृष्ण के नेत्र भी अत्यंत सुन्दर हैं और कपोलों पर काजल की शोभा अत्यधिक सुन्दर प्रतीत होती है तथा जब वे किलकारी मार कर हँसते हैं तब तो सुख की मात्रा द्विगुणित हो उठती है। उनके छोटे-छोटे दाँत हैं तथा उनकी तोतली बोली समझ में नहीं आती और जब वे बोलने लगते है तब उनके अधरों के मध्य से दाँतों की ज्योति ऐसी प्रकाशित होती है मानों चन्द्रमा में बिजली का प्रकाश हो। सूरदास जी कह रहे है कि माता यशोदा बाल-कृष्ण का रूप देख कर एकटक रह जाती हैं और उनकी सुन्दरता का पार नहीं पातीं तथा स्वयं मेरी भी बुद्धि, दशा और दृष्टि कृष्ण के इस अपूर्व बाल सौन्दर्य में इस प्रकार विलीन हो गयी है जैसे कि अथाह समुद्र में पानी की एक बूंद विलीन हो जाती है अर्थात् मैं स्वयं भी कृष्णमय हो गया हूँ।

टिप्पणी—इस पद में दन्त्य वर्णों, अनुनासिक ध्वनियों एवं लकार के बाहुल्य से संगीतात्मकता की वृद्धि हुई है और अनुप्रासिकता के फलस्वरूप शब्द-संगीत का लालित्य भी बढ़ा है। चरणान्त में दो गुरु का तुक प्रत्येक पंक्ति में रहने से गीत में स्वरों का आरोहावरोह सुविधा से हो सकता है। 'लट लटकति' में उलझन, 'मसि बिंदुका' में बिंदी, 'उड़त' में भौंरे की उड़ान, 'लोचन ललित' में कमनीयता, 'कपोलनि' में स्निग्धता और कपोलों का गोल आकार, 'किलकारी' में किलक, 'अल्प दसन कल बल करि बोलति' में बच्चे की तोतली बानी और 'बिज्जु उज्यारी' में एक दमक की ध्वनि स्पष्टतः आती है। इससे भाव-वात्सल्य के साथ ही भाषा में भी सहज प्रवाह युक्त तरलता दृष्टिगोचर होती है। साथ ही प्रस्तुत पद सूरदास के अभिव्यंजना-कौशल का भी परिचायक है और इसमें बालकृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में विशेषणों की सुन्दर लड़ी सजायी गयी है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

पद ३५. किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने किलकारी मारते हुए घुटनों के बल चल रहे बालकृष्ण की शोभा का वर्णन किया है।

शब्दार्थ—घुटरुवन आवत—घुटनों के बल चल रहे हैं। निरखि—देखकर। अवगाहत—पकड़ना चाहते हैं। अँचरा तर लै ढाँकि—अंचल की ओट में करके।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि बालक कृष्ण किलकारी मारते हुए घुटनों के बल चल रहे हैं और जब वे नंद जी के मणि-जटित सोने के आँगन मे अपने मुख की परछाईं देखते हैं तब उसे दूसरा बालक समझकर पकड़ना चाहते हैं और कभी-कभी तो वे अपनी छाया देखकर उसे ही पकड़ने का प्रयास करते हैं लेकिन जब नहीं पकड़ पाते तब किलकारी मार कर हँसते है, जिसके कारण उनके छोटे-छोटे दो दाँत दिखाई देने लगते हैं। थोड़ी-थोड़ी देर बाद वे पुनः अपनी उसी छाया को पकड़ना चाहते हैं लेकिन नहीं पकड़ पाते और इसी प्रकार हँसते हैं। कवि का कहना है कि भवन की स्वर्णमयी भूमि पर जब कृष्ण के हाथ और पैर की छाया पड़ती है तब यही एक उपमा सुंदर प्रतीत होती है कि मानों वसुधा प्रत्येक मणि पर पड़ने वाले कृष्ण के पग के नीचे उनकी कोमलता का विचार कर कमल का आसन सजा रही है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि कृष्ण के हाथ और पैर में कमल के चिह्न थे तथा वे ही मणिमय आँगन पर प्रतिबिम्बित होते थे या हाथ-पैर कमल के समान थे जिनका प्रतिबिम्ब आँगन पर पड़ता था। पृथ्वी के आसन बिछाने का अभिप्राय यह है कि भगवान् पृथ्वीपति कहे जाते हैं क्योंकि वे सम्पूर्ण वसुधा के स्वामी हैं और इस प्रकार यहाँ वह अपने स्वामी के चरणों के नीचे कमलों का आसन बिछाकर स्वाभाविक ही उनके प्रति सम्मान प्रकट कर रही है। कवि का कहना है कि बाललीला के इस अनिर्वचनीय सुख को देखकर यशोदा बार-बार नंद को बुलाती हैं जिससे कि वे भी इस सुख का आनन्द प्राप्त कर ले तथा इस भय से कि कहीं कृष्ण को किसी की दीठ न लग जाय, उन्हे को गोद मे ले आँचल से ढाँककर दूध पिलाने लग जाती हैं

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद वात्सल्य रस का सुन्दर उदाहरण है और इसमें प्रसाद गुण की अधिकता है तथा किलकति, कान्ह घुटरुवन, मनि, आँगन, पकरिबे, धावत, छाँह, पकरन, इक, अँचरा आदि शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि कवि ने शब्दों की तत्समता हटाकर बोलचाल के सरल प्रयोगों से प्रसाद गुण का आविर्भाव करने पर ध्यान दिया है जिसके फलस्वरूप न केवल पद की मधुरता बढ़ गयी है अपितु बाल-सुलभ चेष्टाओं का वर्णन भी अधिक सजीव हो उठा है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

पद ३६. चलत देखि जसुमति सुख पावै

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने कृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाओं का वर्णन किया है।

शब्दार्थ—ब्रह्मांड—सम्पूर्ण विश्व, चौदहों भुवन। क्रम-क्रम कै उतरावै—धीरे से सहारा देकर चलाती है।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि बालकृष्ण को चलते हुए देखकर यशोदा अत्यंत सुखी हो रही हैं कारण कि बहुत दिनों से उनकी यह मनोकामना थी कि उनका पुत्र किसी प्रकार चलने लगे। कवि का कहना है कि श्रीकृष्ण धीरे-धीरे घुटनों के बल चलते हैं और माता यशोदा को अपना चलना दिखाते हैं। तथा इस प्रकार धीरे-धीरे चलते हुए वे देहरी तक पहुँच जाते है लेकिन उसे लाँघ न पाने के कारण फिर अपनी माता यशोदा की ओर लौट आते हैं। इस प्रकार वे बार-बार देहरी के उस पार जाने का प्रयत्न करने मे गिर पड़ते हैं और लौट आते हैं अतः देवताओं तथा मुनियों को यह चिन्ता होने लगती है कि समस्त ब्रह्मांड की सृष्टि कर पलभर में ही उसे नष्ट कर अपने मे लीन करने वाला परम शक्तिशाली भगवान् आज देहरी क्यों नहीं लाँघ पा रहा है और उसी अखिल भुवन के स्वामी को यशोदा अनेक प्रकार के खेल क्यों खिला रही हैं? सूरदासजी कहते है कि जब यशोदा ने कृष्ण को देहरी के उस पार जाने में असमर्थ पाया तब वे उनका हाथ पकड़ कर धीरे-धीरे सहारा देकर चलाने लगीं और इस दृश्य को देखकर देवता तथा मुनिगण आदि की बुद्धि भ्रमोन्मीलित सी होने लगी। इसका अभिप्राय यह है कि

देवता तथा मुनि आदि कृष्ण का अब विष्णु का अवतार समझते थे लेकि स्वयं कृष्ण इस समय बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ कर अपनी माता को सुख दे रहे थे अतः उन्हें (देवतादि को) यह भ्रम हो रहा था कि क्या कृष्ण साधारण बालक मात्र ही हैं ?

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद भी वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित वात्सल्य-भक्ति का सुन्दर उदाहरण है।

अलंकार—विरोधाभास और अनुप्रास ।

पद ३७. मेरे माई स्याम मनोहर जीवनि •

अवतारणा—कविवर सूरदास जी ने प्रस्तुत पद में कृष्ण के प्रति माता यशोदा की स्नेहपूर्ण भावनाओं का चित्रण किया है।

शब्दार्थ—कुंतल—केश। कुटिल—घुँघराले। मकर—मछली। भ्रुव—भौंहे। बिलोकनि बंक—टेढ़ी चितवन। सुभग—सुन्दर। कोबिद—चतुर, पंडित।

भावार्थ—माता यशोदा एक गोपी से कह रही हैं कि कृष्ण तो उनके प्राण ही हैं अर्थात् वे उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक चाहती है। उनकी सुन्दर मुख-सुषमा मंद हँसी एवं दुग्ध-पान देखकर नेत्र अपने आपको भूल जाते हैं अर्थात् एकटक देखते रह जाते हैं और बार-बार देखकर भी तृप्त नहीं होते। साथ ही कृष्ण के बाल घुँघराले हैं, मकर की आकृति के कुंडल हैं और मछली सदृश्य भौंहें तथा टेढ़ी चितवन है जिसे देखकर ऐसा भास होता है, मानो अमृत- रूपी सागर से नया चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है जिसके अंक में मृग शोभायमान है। यहाँ कवि ने कृष्ण के मुखरूपी चन्द्रमा में स्थित नेत्रों को मृग के समान माना है। साथ ही कृष्ण के नीले कमल के सदृश्य श्याम शरीर पर मोर चंद्रिका एवं पुष्प सुशोभित हैं जिन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानों सुन्दर मेघो के ऊपर नक्षत्रों सहित इन्द्रधनुष शोभायमान हो रहा हो। इन पंक्तियों में कवि ने श्याम शरीर को मेघ, मोर-चंद्रिका को इन्द्र-धनुष और पुष्पों को नक्षत्र-गण कहा है। इतना ही नहीं कृष्ण बड़े चतुर और विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओ में निपुण भी हैं तथा वे कभी तो अपनी माता को स्नेहपूर्ण दृष्टि से

देखकर और कभी उन्हें अपने कमल सदृश्य हाथों का स्पर्श प्रदान कर अत्यंत सुख देते हैं। स्मरण रहे कि बालक कभी-कभी स्वयं ही अपनी माता के शरीर पर हाथ फेरने लगता है अतः कवि का कहना यह है कि बालक कृष्ण यशोदा के शरीर पर हाथ फेर कर उन्हें अत्यंत सुख प्रदान कर रहे हैं।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में मधुर वर्णों का सुन्दर चयन किया गया है और कवि ने बाल्योचित क्रीड़ाओं का स्वाभाविक चित्रण करने पर ध्यान दिया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

पद ३८. जागिये गोपाल लाल आनंद-निधि नंद बाल

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने यशोदा द्वारा प्रभाती गाते हुए बालकृष्ण को जगाने का वर्णन किया है।

शब्दार्थ—प्रीति-बापिका-मराल—प्रेम रूपी बावड़ी के हंस। सर्वरी—रात्रि। ससांक—चन्द्रमा। त्रास—भय, निराशा। खग निकर—पक्षियों का समूह। कैटभारे—कैटभ नामक राक्षस के वैरी। प्रपुंज—झुंड। चंचरीक—भ्रमर, भौंरा। भृत्य—सेवक।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि प्रातःकाल के समय यशोदा जी कृष्ण को जगाते हुए कह रही हैं कि हे आनन्द के निधि, नंद-नंदन, कृष्ण तुम अब सोकर उठो क्योंकि सुखद सबेरा हो गया है। वे पुन. कहती हैं कि हे कृष्ण तुम्हारे बड़े-बड़े नेत्र प्रेम रूपी बावड़ी के हंस हैं तथा तुम्हारे मुख की सुन्दर सुषमा पर करोड़ों कामदेव न्यौछावर हैं। साथ ही रात्रि व्यतीत हो चली है और चन्द्रमा की आभा मंद होने लगी है तथा सूर्य उदय हो रहा है। दीपक द्युतिहीन हो गए हैं और नक्षत्र गणों का भी प्रकाश क्षीण हो गया है तथा पूर्ण ज्ञान के उदय होने पर जिस प्रकार भोग-विलास आदि का अंत हो जाता है उसी प्रकार सूर्य के उदय होने पर रात्रि का अंत हो जाता है। स्मरण रहे प्रकाश को ज्ञान का प्रतीक माना जाता है और रात्रि को अंधकार का तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर मनुष्य ऐहिक वासनाओं से परे हो जाता है अतः कवि ने यहाँ सूर्योदय के रूप में ज्ञान के उदय होने की युक्तिसंगत कल्पना ही की है यशोदा जी कह रही हैं कि हे पुत्र सुनो सूर्योन्य के समय पक्षियों

का समूह मधुर ध्वनि से कलरव कर रहा है और उनके इन स्वरो को सुनकर ऐसा भास होता है मानो वेद, बदीगण, सूत, मागध आदि तुम्हारा यश वर्णन कर रहे हों तथा यह कह रहे हों कि "हे कैटभ राक्षस के शत्रु तुम्हारी जय हो।" प्रात:काल हो जाने के कारण कमलों की पंक्तियाँ खिल उठी है तथा उनमें सुप्त भ्रमर समूह भी बाहर निकलकर अत्यन्त कोमल ध्वनि से गुजार कर रहा है और उनकी ध्वनि ऐसी प्रतीत होती है मानों वैराग्य लेकर अपने कुटुम्ब और घर को छोड़कर भगवान् के भक्त भगवत्प्रेम में तन्मय हो प्रभु का गुण गान कर रहे हों। सूरदास जी कहते हैं कि अपने माता के इन सुन्दर मधुर वचनों को सुन कर परम कृपालु कृष्ण जी जाग पड़े और उनके जागते ही जगत् के समस्त कष्ट एवं दु:ख मिट गये तथा उनके कमल सदृश्य मुख को देखकर सब भ्रमफंद एवं राग द्वेषादि नष्ट हो गये। इस प्रकार कृष्ण ने सबका अहंकार या घमंड दूर कर सबको अत्यंत आनन्द प्रदान किया।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में प्रात:काल का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है तथा साथ ही कवि ने कृष्ण के चराचर नायकत्व एवं उनके लोकोत्तर रूप का भी स्मरण कराया है। कविवर तुलसीदास ने भी रामचरित मानस मे रामचन्द्र जी के जगाने का वर्णन इस प्रकार किया है—

> **भोर भयेउ जागहु रघुनंदन। गत व्यलीक भक्तन उर चन्दन।**
> **शशिकर हीन छीन द्युति तारे। तमचुर मुखर सुनहु मेरे प्यारे॥**
> **विकसित कंज कुमुद बिलखाने। लै पराग रस मधुप उड़ाने।**
> **अनुज सखा सब बोलन आये। वंदित अति पुनीत गुन गाये।**
> **मन भावतौ कलेवौ कीजै। तुलसिदास कहँ जूठन दीजै॥**

अलंकार—उत्प्रेक्षा तथा परंपरित रूपक।

पद २९. सखीरी नंद नंदन देखु

अवतारणा—प्रस्तुत पद में कविवर सूरदास जी ने बालकृष्ण की सुन्दरता का वर्णन करते हुए उनमें और भगवान शिव में बड़ी चतुराई के साथ सादृश्यता प्रतिपादित की है।

शब्दार्थ—नंदनंदन—नंद का पुत्र अर्थात् कृष्ण। धूरिधूसर—धूल से लिपटे हुए जूटलि—**बँधी हुई** हरि किये हरबेषु विष्णु ने महादेव का रूप

धारण किया है। जलजमाल—कमलों की माला। केहरि नख—सिंह नख। अनंग—कामदेव।

भावार्थ—गोकुल की एक गोपी अपनी किसी सहेली से कह रही है कि सखी नंद के पुत्र कृष्ण की इस वेशभूषा को देख; उन्होंने किस प्रकार धूल-धूसरित जटा धारण किए हुए शंकर का वेष बना रखा है अर्थात् कृष्ण ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानो वे भगवान् शंकर ही हों। नी वस्त्र में पिरोई हुई मणियों की माला को देखकर शिव के कंठ में विराजमा सर्प का भ्रम हो जाता है तथा जब वे झुनझुना बजाकर हँसते हैं तब ऐ प्रतीत होता है मानो शंकर जी डमरू बजाकर हँस रहे हों। इसी प्र उन्होंने जो कमलों की माला पहन ली है उसकी सुषमा तो अवर्णनीय ही लेकिन उसे देखकर ऐसा भास होता है मानों भगवान् शंकर अपनी ग्री में मुण्डमाल धारण किए हुए हैं। कृष्ण के श्यामल शरीर पर स्वाति-नक्ष में उत्पन्न मोतियों की माला ऐसी शोभा देती है मानों शिवजी ने पार्वती के भय से गंगा को अपने कंठ से लगा लिया हो तथा उनके गले में सिंह नख को पड़ा देखकर स्त्रियाँ विचार करने लगती हैं कि क्या शंकर जी बाल चन्द्रमा को शीश पर से उतार कर हृदय पर धारण कर लिया है साथ ही कृष्ण को शिव के सदृश्य देखकर कामदेव भी डर रहा है कि कहीं दुबारा फिर से न भस्म होना पड़े। सूरदास जी कह रहे हैं कि वे यही चा है कि उनके हृदय में हमेशा कृष्ण रूपी शिव निवास करते रहें।

अन्य विशेषताएँ—इस पद में कवि ने बड़ी कुशलता के साथ शिव कृष्ण की एकता प्रतिपादित की है। यद्यपि कृष्ण रूप पर शिव का आरोप कल्पनामूलक ही है लेकिन अप्रस्तुत-योजना एवं उक्ति-वैचित्र्य दृष्टि से यह पद प्रशंसनीय ही है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में शिव द्वारा कामदेव-दहन की पौराणिक कथा ओर भी संकेत किया गया है। कहा जाता है, शिव की तपस्या भंग करने लिए कामदेव उनके समीप पहुँचा और उसने उनके चरणों पर फूलों वाण चलाया लेकिन शिव का तीसरा नेत्र उसी समय खुल गया और काम सशरीर भस्म हो गया परन्तु उसकी पत्नी रति के विलाप के पश्चात् उ

यह वरदान दिया गया कि उसका पति अशरीरी रह कर भी उसी प्रकार प्रभावशाली रहेगा जैसा कि पहले था। इस पद में कामदेव कृष्ण को शिव वेश में देखकर उनके पास जाने से जो डरता है उसका यही कारण है कि उसे भय है कि कहीं फिर से उनका तीसरा नेत्र न खुल पड़े।

अलंकार—संदेह और उत्प्रेक्षा।

पद ४०. मैया मैं नाहीं दधि खायो

अवतारणा—जिस समय, कृष्ण की माखन चोरी की शिकायत, यशोदा के पास आने पर, वे उन्हें पकड़ कर दंड देना चाहती हैं. उस समय कृष्ण ने उस अभियोग का जो निराकरण किया वही इन पंक्तियों में सूरदास जी ने अंकित किया है।

शब्दार्थ—भाजन—बरतन। साँटि—बेंत।

भावार्थ—कृष्ण अपनी माता यशोदा से कह रहे हैं कि मैंने चुराकर दही नहीं खाया बल्कि खेल-ही-खेल में इन सब सखाओं ने मिलकर बलपूर्वक मेरे मुख में दही लगा दिया है जिससे कि मुझे अकारण दंड मिले। कृष्ण कहते है कि तू भला स्वयं यह सोच कि इतनी ऊँचाई पर लटकाये गये बर्तनों तक भला मैं इतना छोटा होते हुए अपने नन्हें हाथों से कैसे पहुँच सकता हूँ। परन्तु चूँकि जल्दी-जल्दी चोरी करके दही खाने से उनके मुख पर दही लग गया था और उनके हाथ में दही का दोना भी था अतः वे जल्दी से मुख का दही पोंछ लेते हैं और दोना भी पीठ के पीछे छिपा लेते हैं जिससे कहीं उनकी माता उन्हें अपराधी न समझ ले। माता यशोदा कृष्ण की इन बातों को सुनकर मन-ही-मन मुस्करा उठती हैं तथा उन्हें पीटने के लिए लायी गयी छड़ी को फेंक देती हैं। सूरदास जी कह रहे हैं कि अपनी बाल-क्रीड़ाओं से कृष्ण ने यशोदा के मन को मोह लिया तथा उनकी भक्ति का प्रताप दिखाकर यह सिद्ध कर दिया कि भगवान् भक्तों के वश में हैं और उनकी मनोकामना पूर्ण करने के हेतु हमेशा तत्पर रहते हैं। साथ ही जो सुख शिव और ब्रह्मा को न मिल सका जब कि वे भगवान् के परम भक्त कहलाते हैं वह सुख माता यशोदा को प्राप्त हुआ

अलंकार—व्यंग्य ।

पद ४१. कुँवर जल लोचन भरि भरि लेत

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने यशोदा द्वारा कृष्ण को ताड़ना दिए जाने पर उनकी एक सखी द्वारा उलाहना दिलवाया है ।

शब्दार्थ—विलोकि—देखकर । रिस—क्रोध । अचेत—अजान । दुसह—कठोर । दाँवरी—रस्सी । तामस—क्रोध । एत—इतना । कनिका—कण । सुधानिधि—अमृत का सागर । उडुगन—तारे । अवलि—पंक्ति । सरबसु—सर्वस्व ।

भावार्थ—यशोदा द्वारा कृष्ण को ताड़ना दिए जाने पर उनकी एक सखी कहती है कि हे यशोदा तू कुँवर कृष्ण के मुख की ओर देख जो कि तेरे इस प्रकार अनजान ही क्रोध करने से उनके नेत्रों से आँसू बह रहे हैं । तूने जो यह कठोर रस्सी उनके कमर से बाँध दी है उसे खोल कर उन्हें मुक्त कर दे और अपने हाथ की बेंत भी फेंक दे । भला तुझे इस छोटे से दुधमुँहे बच्चे पर इतना क्रोध क्यों आता है ? वह पुनः कहती है कि कृष्ण के अश्रुपूर्ण मुख पर जो मक्खन के एकाध कण लगे हैं उन्हें देखकर नेत्रों को अत्यंत सुख मिलता है और ऐसा प्रतीत होता है मानों ताराओं से युक्त चन्द्रमा अमृत के मोती टपका रहा हो । इस प्रकार की सुहावनी छवि वाले कृष्ण जी पर तो तू अपना सर्वस्व न्योछावर कर दे क्योंकि बड़े भाग्य से यह तेरे घर पैदा हुए हैं ।

टिप्पणी—अंतिम दो पंक्तियों में कतिपय टीकाकार अलौकिकता दिखलाने का मोह संवरण नहीं कर पाते और इस प्रकार अर्थ का अनर्थ हो जाता है परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इसका यही स्वाभाविक अर्थ ग्रहण करना उचित होगा ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

पद ४२. पाई पाई है रे मैया, कुंज-पुंज में टाली

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने श्रीकृष्ण के गोचारण का एक दृश्य अंकित किया है । श्रीमदभागवत के अनुसार एक दिन जब श्रीकृष्ण अपने सखाओं के साथ वृ दावन मे गायें चराने गये तब वे सभी अपनी-अपनी गायों

को विस्मरण कर इधर-उधर बाल्योचित खेल खेलते हुए विचरने लगे और इस प्रकार खेल में व्यस्त हो गये कि उन्हें अपनी गायों की सुधि ही न रही। उधर ग्वाल बालों को गायों की सुधि आने पर वे उन्हें बड़े उद्विग्न मन से ढूँढने लगे और जब कुंजों के समूह में कृष्ण ने गायों के झुंड को पाया तब उन्होंने उपदेश देते हुए अपने सखाओं से जो कुछ कहा वही इस पद में दिया गया है।

शब्दार्थ—कुंज-पुंज—कुंजों का समूह। टाली—गायों का झुँड। हटकि—रोक कर, सँभाल कर। घाली—गाय। समुहाने—सामने की ओर हुए। अनत ही—अन्यत्र, कहीं के कहीं। द्रुमवेली—पेड़ और बेल, वन।

भावार्थ—कृष्ण अपने सखाओं से कह रहे है कि भाइयों इन गायों के खोजने में बहुत अधिक परिश्रम करने पर ये कुंजो के समूहों में मिली है अत. अब तुम लोग अत्यंत सतर्कता के साथ इन्हें चराना अन्यथा ये भटक जाएँगी। तुम सब इधर-उधर व्याकुल होकर क्यों भटक रहे हो और अब शीघ्रता के साथ मेरे पास आओ। कृष्ण के इन मधुर वचनों को सुनकर ग्वाल-बाल प्रसन्नता के साथ उनके पास पहुँचे और तब उन्होंने पुनः यह कहा कि तुम लोग इन्हें अन्यत्र खोज रहे थे ओर ये वन में अकेली घूम रही थीं। वह जगल बहुत ही सघन है अतः यदि कहीं गाएँ वहाँ खो जातीं तब तुम लोगों को यों-ही खाली हाथ लौटना पड़ता क्योंकि हम सब और कर ही क्या सकते थे। सूरदास जी कह रहे हैं कि कृष्ण के इन मधुर वचनों से सभी ग्वालबालों को बडा संतोष हुआ और वे सभी आनन्द के साथ नाचते गाते गाय चराने कृष्ण के पास पहुँचे।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद का समासोक्ति द्वारा एक अन्य आध्यात्मिक अर्थ भी ग्रहण किया जाता है और इस प्रकार हम इसका यह अर्थ कर सकते है कि इस संसार रूपी सघन वन में मनुष्य को अपनी गो रूपी इंद्रियों को सँभाल कर रखना चाहिए अन्यथा वे कुमार्गगामिनी होकर इधर-उधर भटक जाएँगी तथा आत्मा रूपी ग्वाला भी इधर-उधर भटकता रहेगा अतएव सयम रूपी से इन्हें अपने वश मे रखना आवश्यक है कारण कि बिना अपना

इंद्रियों का दमन किए सुमार्ग पर चलना असंभव ही है। साथ ही भगवान् भी भक्तों की कुमार्गगामिनी मानसिक वृत्तियों को प्रारंभ में एक दो बार सँभाल कर उन्हें सुमार्ग पर लाने का प्रयास करते हैं तथा उन्हें चेतावनी भी दे देते हैं कि भविष्य में वे सतर्कता से काम लें।

अलंकार—समासोक्ति।

पद ४३. भहरात झहरात दवानल आयौ

अवतारणा—एक दिन जब कृष्ण ग्वाल-बाल सहित गाय चराने गए थे तब अचानक उस वन में अकस्मात् दावाग्नि लग गई तथा तेज हवा चलने के कारण वह दूर दूर तक फैलने लगी परन्तु श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही उस दावाग्नि का पान कर समस्त व्रजवासियों की रक्षा की थी। यह पद इसी प्रसंग का है।

शब्दार्थ—भहरात—एकाएक, वेग के साथ। झहरात—झरझर शब्द के साथ। दावानल—अग्नि। अंदोर—हलचल। धरनि—धरती। थरहरत—काँपते हैं। झार—लपट। धुंधार—धुआँ फैल जाने से होनेवाला अंधकार। झंझार—आँधी। अररात—वेग के साथ टूट पड़ना। टेरि—पुकार कर।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि अचानक वन में बड़े वेग के साथ झर-झर शब्द करती हुई आग लग गई और इसने वन को चारों तरफ से इस प्रकार घेर लिया कि सभी ओर हलचल सी मच गई। धरती से आकाश तक चारों ओर अग्नि की लपटें छा गयीं, वन के बाँस जलने लगे तथा कुस और काँस वायु के प्रचंड वेग से काँपने लगे तथा जलकर इधर-उधर उड़ने लगे। आग की लपटें द्रुत गति से बढ़ने लगीं और वन के फल चट चट शब्द करते हुए फटने लगे तथा तेज लपट के कारण पेड़ जमीन पर गिरने लगे। इस भयंकर दावाग्नि के कारण चारों ओर आग की लपटें ही लपटें दिखायी पड़ने लगीं और सभी तरफ धुएँ का अंधकार-सा छा गया। इस प्रकार वृक्षों के पत्ते जलने लगे तथा बड़े-बड़े वृक्ष भारी शोर करके भूमि पर गिरने लगे। इस भीषण स्थिति में ब्रज के सभी ग्वाल बाल अत्यंत व्याकुल होकर भगवान् कृष्ण से यह कहने लगे कि हम सब आपकी ही शरण में हैं और जिस प्रकार तृणासुर, केशी शकटासुर बकासुर तथा अघासुर आदि से आपने हमारी रक्षा की

थी और गोवर्धन पर्वत को अपने बाएँ हाथ पर उठाकर इन्द्र के क्रोध से आपने हम सबको बचाया था उसी प्रकार पुनः अब आप हमारी रक्षा करिए। ग्वालवालों की यह प्रार्थना सुनकर कृष्ण ने उनसे कहा कि तुम सब डरो मत और थोड़ी देर धीरज रखो तथा अपनी आँखें बंद कर लो। कृष्ण की यह बात सुनकर उन सब ग्वाल बालों ने अपने नेत्र मूँद लिए और इसी बीच कृष्ण ने उस दावाग्नि को मुट्ठी में भरकर अपने मुँह में डाल लिया। सूरदास जी कह रहे हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार से दावाग्नि पान करके ब्रजवासियों की रक्षा की।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में कवि ने कृष्ण के अलौकिक कृत्यों का ही वर्णन किया है और इस प्रकार वह यह दिखलाना चाहा है कि भगवान् अपने भक्तों की किस प्रकार रक्षा करते हैं। यह जानकर कि मेरा वैरी गोकुल में उत्पन्न हो चुका है कंस ने कई राक्षसों को वहाँ भेजा था लेकिन वे सभी कृष्ण द्वारा मारे गए और इस प्रकार राक्षसगणों के उत्पात से उन्होंने ब्रज की रक्षा की थी। इसी प्रकार गोकुल में प्रचलित इंद्र पूजा को बंद कराकर कृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत की पूजा प्रारंभ की थी अतः इससे इंद्र बहुत नाराज हुआ और उसने ब्रज पर मूसलाधार वृष्टि की तब भगवान कृष्ण ने अपने बाएं हाथ में गोवर्द्धन पर्वत उठाकर ब्रजवासियों की रक्षा की थी। इस प्रकार प्रस्तुत पद में सूर ने श्रीमद्भागवत की कृष्ण-चरित्र विषयक इन कतिपय कथाओं की लडी गूँथ दी है।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद ओजपूर्ण गीत का सर्वोत्तम उदाहरण है और उसका प्रत्येक शब्द नृत्य की ताल दे रहा है तथा शब्दों में साहित्यिक कल्पना का पुट न होकर शुद्ध ग्रामीणता की झलक सी है। इस प्रकार डॉ० मनमोहन गौतम के शब्दों में "सूर की वीणा जितनी ही मधुर स्वरों की झंकार उत्पन्न कर सकती थी उतनी ही वह अवसर प्राप्त होने पर शिव-ताण्डव का स्वर भी प्रस्तुत करने में समर्थ थी और सूरदास जी ने जहाँ वात्सल्य और शृंगार रसों के चित्रण में अपनी अद्वितीयता दिखाई है वहाँ वे भयानक और वीर जैसे रसों को भी वैसी ही कुशलता के साथ प्रस्तुत कर सके हैं।" (**सूर की काव्य कला पृ० ११०** प्रस्तुत पद रस का

उदाहरण है और उसमें अर्थ-ध्वनन के विशेष गुण के साथ-साथ वर्ण्य-वस्तु के संश्लिष्ट चित्रांकन का भी गुण विद्यमान है ।

अलंकार—अनुप्रास ।

पद ४४. रजनी मुख बन ते बने आवत
भावत मन्द गयंद की लटकनि

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने सायंकाल के समय वन से लौटने वाले श्रीकृष्ण का वर्णन किया है ।

शब्दार्थ—रजनी मुख—संध्याकाल । गयन्द—हाथी । लटकनि—मस्त चाल, झूम कर चलना । लकुटि—छड़ी । हटकनि—सँभालना । कुमुद—कमल । सर—तालाब । लोचनपुर—नेत्रों रूपी प्याला । घटकनि—तेजी के साथ पीना । उडुपति—चंद्रमा । मन्मथ—कामदेव । पुट—पात्र ।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि संध्याकाल के समय जब श्रीकृष्ण वन से धेनु चराकर लौटते हैं तब उनकी मस्त हाथी के सदृश्य चाल मन को बड़ी भली लगती है और उनके साथ बालकों का एक झुंड रहता है जिसे कि वे अपने विनोदपूर्ण वार्तालाप से हँसाते हैं । अपने हाथों में एक छोटी सी लकड़ी लिए हुए वे गायों को सँभाल कर ले चलते हैं । कवि का कहना है कि इस अवसर पर उनके दर्शनों के लिए गोपियाँ तालाब में खिले हुए कमल के समान अपने नेत्र रूपी पात्र से कृष्ण की रूप-सुधा का पान करने के लिए उमड पडती है और कृष्ण का आगमन देख कर ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा ही अपनी सोलह कलाओं के सहित उदय हुआ है तथा गोपियों का वियोगरूपी अंधकार दूर हो गया है । श्रीकृष्ण जी की सुन्दर छवि एवं भृकुटि-विलास तथा भौंहों का मटकना देख कर कामदेव भी लज्जित हो उठा है और इस प्रकार सूरदास जी का कहना है कि उस छबीले गिरिधर श्रीकृष्ण के चातुर्यपूर्ण नाट्य की बलिहारी है ।

अलंकार—रूपक तथा उत्प्रेक्षा ।

पद ४५. देखि री आनंद कन्द

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने आनन्द कंद श्रीकृष्णचन्द्र का रूप चित्रण किया है

शब्दार्थ—दीपति—प्रकाशपूर्ण होना। दीपमालिका—दियों की कतार। निसि कालिका—अंधकार पूर्ण रात्रि। झाक—झरोखा। झालिका—झालर प्रवालिका—मूँगा। साज—सामग्री। रसालिका—रसिक गोपिकाएं। संपुट—अंजुली, पात्र, दोना। मालिका—माला के रूप में।

भावार्थ—सूरदास जी का कहना है कि आज गोकुल में अनेकों दिव्य दीपकों की कतार जगमगा रही है और ऐसा प्रतीत होता है मानों करोड़ों सूर्य एवं चन्द्रमा प्रकाश दे रहे हैं तथा अंधकार पूर्ण रात्रि बीत गयी है। गोकुल नगरी की आज विचित्र ही शोभा है क्योंकि वह आज मणियों से सजायी गयी है और सुन्दर झरोखों, पुष्प के गुच्छों तथा झालरों से अलंकृत है, स्थान-स्थान पर गजमुक्ता मणि की चौक पूरी गयी है तथा उनके बीच-बीच में लाल रंग के मूँगे सुशोभित हैं। कवि कह रहा है कि राधिकाजी का भली-भाँति श्रृंगार कर तथा उन्हें अपने साथ लेकर ब्रज की समस्त गोपिकाएं गोकुल में निकली हैं और उनके हाथों में विविध सामग्रियों से पूर्ण एवं झिलमिलाते दीप से भरी सुवर्ण थालियां हैं। वे सभी जब मदनमोहन श्रीकृष्ण के पास पहुँची तब उनकी सुन्दर छवि देख कर स्तंभित सी रह गई और एकटक उनकी ओर देखने लगीं। सभी अपनी तालियाँ बजा-बजा कर नाचने-गाने लगीं और कभी तो गाते समय वे स्वयं ही हँसने लगती हैं तथा कभी गा-गा कर दूसरों को भी हँसाने लगती हैं अर्थात् स्वयं का मनोरंजन करने के साथ-साथ परचित्तानुरंजन भी उनका ध्येय था। इस प्रकार नंद जी के द्वार पर अत्यंत आनन्दपूर्ण उत्सव हो रहा है तथा परम रसिक गोपिकाएँ उसे प्रसन्नता के साथ देख रही हैं और इस सुन्दर दृश्य को देखकर देवता भी गगन मंडल से अपने हाथों में पुष्प भर-भर कर गोकुल नगरी पर बरसा रहे हैं।

अलंकार—अनुप्रास और उत्प्रेक्षा।

पद ४७. ग्वालिनि प्रगट्यो पूरन नेहु

अवतारणा—प्रस्तुत पद गोपी-प्रेम सम्बंधी है और इसमें कृष्ण के प्रति एक गोपिका की प्रेम-भावना का चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—नेहु—स्नेह। बीथी—गली। बिथक्यौ—भूल गया। स्रवन—कान। सुरति—सुध-बुध। पोच—तुच्छ, बुरा। बारुणी—मदिरा, शराब। मुकुलित—खुली हुई। लिलार—माथा। तरंगिनी—नदी। परमिति—सीमा

निकासनहार—निकालनेवाला; उद्धार करने वाला। कूल—किनारा। बिदारि—तोड़कर। निबेरै—अलग करे। बारि—जल। आकर्ष्यो—आकर्षित होना। भुजंग—सर्प।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि ग्वालिनी (गोपबाला) का कृष्ण के प्रति पूर्ण प्रेम प्रकट हुआ है। वह प्रेम में इतना अधिक तन्मय हो गयी है कि उसे अपनी तनिक भी सुधि-बुधि नहीं रही। वस्तुतः वह कृष्ण प्रेम में इस प्रकार आत्म-विस्मृत हो गयी है कि सिर पर दही का पात्र रखे हुए 'दही लो' कहने के स्थान पर 'गोपाल लो' कह रही है अर्थात् उसे यह स्मरण ही नहीं रहा कि वह दही बेचने निकली है।* वह रास्ते में जहाँ कहीं भी जाती है कृष्ण का नाम हीं लेती है और समझाने से समझती भी नही है तथा कृष्ण प्रेम में इतनी तन्मय है कि अपना गाँव भी भूल जाती है और इधर-उधर भटका करती है। उसे न तो किसी के कुछ कहने की ही चिन्ता है और न कोई संकोच ही है क्योंकि प्रेम में व्यक्ति न तो किसी की सुनता है, न किसी को और कुछ सुनाना पसन्द करता है, न किसी बात पर ध्यान देता है, न उसे किसी प्रकार का संकोच ही रहता है और न वह सुमार्ग या कुमार्ग का विचार ही करता है। इस प्रकार वह गोपी प्रेमरूपी मदिरा को पान कर प्रलाप कर रही है तथा उसे प्रेमावेश के कारण अपने तन की भी सुधि नहीं रही और इसीलिए चलते समय वह अपना भार भी नहीं सँभाल पा रही है। उसके पैर डगमगा रहे हैं और मस्तक पर अलकें बिखरी हुई हैं तथा वह नेत्र बंद किये हुए है। कवि का कहना है कि जिस प्रकार मंदिर के अंदर दीपक जलने से उसका प्रकाश बाहर कोई नही देख पाता उसी प्रकार कृष्ण के प्रति ग्वालिनी का जो आंतरिक प्रेम था वह अभी तक लोगों को विदित नहीं था लेकिन अब उसकी इन चेष्टाओं से सभी को यह ज्ञात हो गया है कि वह कृष्ण से प्रेम करती है और वह उसे गुप्त न रख सकी। इसी तरह लज्जा ही चंचल नदी है और

---

*इसी प्रकार मीरा ने भी एक स्थान पर कहा है—

या ब्रज में कछु देख्यो री टोना।
लै मटुकी सिर चली गुजरिया, आगे मिले बाबा नंद को छौना।
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी से लेहु रे कोई स्याम सलौना

गुरुजनों की मर्यादा का ध्यान ही उसकी गहरी धारा है तथा इस नदी के दोनों किनारों की कोई सीमा भी नहीं है परन्तु उस ग्वालिनी ने तो इसे पार करने में किंचित विलम्ब भी नहीं लगाया अर्थात् वह गुरुजनों की मर्यादा एव लोक लज्जा का त्याग कर कृष्ण से प्रेम कर रही है। कवि का कहना है कि विधाता ने तो गोपिका रूपी पात्र छोटा ही रचा है जब कि कृष्ण जी शोभा के अपार सिंधु हैं अतएव वह स्वयं ही कृष्णरूपी सागर में निमग्न हो गयी है और उसको अब विलग करने वाला कौन है ? इसका अर्थ यह है कि छोटे से पात्र में अथाह समुद्र नहीं भरा जा सकता है अतः गोपी ने स्वयं ही कृष्ण में लीन हो जाना उचित समझा है। जिस प्रकार नदी अपने किनारों को गिराती हुई समुद्र में जा मिलती है और अपनी स्वतंत्र सत्ता खोकर समुद्रमय हो जाती है तथा फिर उसे कोई भी उससे अलग नहीं कर सकता उसी प्रकार वह ग्वालिनी भी कृष्ण में लीन हो गयी है। नद के पुत्र कृष्ण ने उसका मन अपनी मधुर मुरली बजाकर आकर्षित कर लिया है और जिस लज्जा में संसार लज्जित होता है वही लज्जा अब ग्वालिनी के इस स्नेह को देखकर स्वयं लज्जित हो गयी है अर्थात् उसके द्वारा लोकलज्जा को पूर्णरूप से तिलांजली दे देने के कारण लज्जा को अपना मुँह ऊपर उठाने का साहस भी नहीं हो रहा है। सूरदास जी कहते है कि जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुल उतार कर नवीन रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार ग्वालिनी ने भी मायाजाल की केंचुल त्यागकर कृष्ण प्रेम में मग्न हो नवीन रूप प्राप्त किया है और इस तरह उसके नेत्र, मुख, वचन एवं नासिका आदि इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुखी व्यापार को तज कर अंतर्मुखी हो गयी हैं अर्थात् उस गोपी ने अपनी सभी इन्द्रियों को कृष्ण की ओर लगा दिया है।

अन्य विशेषताएँ—वल्लभ-सम्प्रदाय में गोपिकाएँ रसात्मकता—आनन्द के आविर्भाव की स्थिति—सिद्ध कराने वाली शक्तियों की प्रतीक मानी गयी हे और गोपी प्रेम को भक्ति परक महत्त्व दिया गया है अतः सूरदास के इस पद को वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुकूल ही समझना चाहिए। साथ ही प्रस्तुत पद में आत्मविस्मृति को ही अधिक महत्त्व देते हुए भक्त का भगवान में पूर्णतः लीन हो जाना ही उचित माना गया है।

और विभावना

पद ४८. अब तो प्रगट भई जग जानी

अवारणा—प्रस्तुत पद में एक गोपी अपनी सखी से कृष्ण के प्रति अपने हृद्योदगार प्रकट कर रही है।

शब्दार्थ—निरंतर—लगातार। क्यों अब—कैसे, क्यों। छानी—छिपी हुई। माँझ—में। पचिहारी—प्रयत्न करके हार गयी। निरबारि—अलग की जाय।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त एक गोपी अपनी सखी से कह रही है कि अब तो उनके प्रति मेरा प्रेम प्रकट हो गया है और वह छिपा नहीं रह सका तथा सारा संसार इसे जान गया है। भला कृष्ण के प्रति मेरा प्रेम किसी भी प्रकार छिपाकर भी कैसे रखा जा सकता था और वह एक-न-एक दिन प्रकट होने वाला ही था। उस गोपी का कहना है कि कृष्ण की सुहावनी मूर्ति मेरे नेत्रों में इस प्रकार समा गयी है कि अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी वह निकल नहीं पाती और इस तरह उनका रूप मेरे रोम-रोम में प्रविष्ट हो गया है तथा वह किसी भी प्रकार विलग नहीं किया जा सकता। वस्तुत: कृष्ण का सौंदर्य मेरे हृदय में उसी प्रकार मिल गया है जिस प्रकार कि दूध में पानी और प्रयत्न करने पर भी अब उसका अलग होना संभव नहीं है। श्रीकृष्ण जी तो हृदय की बात जानने वाले ही हैं और इस प्रकार वे मेरे मानस की इस प्रेम-भावना को जानते ही होंगे अत उनके सामने अपना प्रेम प्रकट करने की आवश्यकता ही क्या क्योंकि वे मेरे हृदय की बात जानकर मुझे निश्चित रूप से अपना लेंगे।

टिप्पणी—एकाध टीकाकारों ने इस पद की प्रथम दो पंक्तियों के विषय में यह अनुमान भी किया है कि इन्हें एक दूसरी गोपिका ने कृष्ण प्रेम में मतवाली गोपिका से कहा है लेकिन यह विचार असंगत ही है क्योंकि यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो पूरा पद एक ही गोपी द्वारा कहा गया जान पड़ता है। इसी प्रकार रसखान ने भी 'खोल री घूँघट खोलौं कहाँ, वह मूरति नैननि माँझ बसी है' में गोपी-प्रेम का यही रूप अंकित किया है।

पद ४९. उपमा हरि तन देखि लजाने

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने कृष्ण का सौंदर्य वर्णन करते हुए यह कहना चाहा है कि कृष्ण के शारीरिक-सौंदर्य की उपमा किसी भी वस्तु से नहीं दी जा सकती

शब्दार्थ—लजाने—लज्जित हो गये। अंबर—आकाश। तड़ित—बिजली। दसन—दाँत। अहिराज—बड़े-बड़े सर्प। बिबरनि—बिलों में। बिरमावता—भुलावे में रखना।

भावार्थ—श्रीकृष्ण की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कविवर सूरदास जी कह रहे हैं कि कृष्ण के शारीरिक सौंदर्य को देखकर सभी उपमान लज्जित से हो गये हैं कारण कि उनमें उसकी समकक्षता करने का तनिक भी साहस नहीं है। कवि कह रहा है कि कुछ उपमान तो जल में छिप गये, कुछ वन मे और कुछ आकाश चले गये। कृष्ण के मुख को देखकर चन्द्रमा तो आकाश चला गया क्योंकि उसमें कृष्ण के मुख सदृश्य सुरम्यता नहीं है तथा बिजली भी दाँतों को देखकर वहीं चली गयी कारण कि कृष्ण के दाँत उस बिजली से अधिक सुरम्य हैं। इसी प्रकार उनके हाथ, चरण और नेत्रों को देखकर उनकी समता न कर सकने की लज्जा से कमल और मछलियाँ जल में वास करने लगे तथा भुजाओं को देखकर बड़े-बड़े सर्प भी लज्जित होकर बिला मे घुस गये और साथ ही उनकी कमर देखकर सिंह भी भयभीत होकर वन मे छिप गया है। इस प्रकार जब कोई कवि कृष्ण के अंगों की इन उपमानो से तुलना करता है तब ये उपमान उन कवियों को गाली सी देते हैं कि वे व्यर्थ ही उनसे तुलना कर उन्हें भुलावे में डालते हैं कारण कि वे कृष्ण के अंग की समता के लिए उचित उपमान नहीं हैं।

अन्य विशेषताएँ—कवि के कथन का अभिप्राय यह है कि कृष्ण के अंग इतने अधिक सुन्दर हैं कि उनकी उपमा दी ही नहीं जा सकती। विद्यापति ने भी इसी प्रकार कहा है—

कबरी भय चामरि गिरि कन्दर मुख भय चाँद अकासे।
हरिन नयन भय, सर भय कोकिल, गति भय गज बनवासे॥
× × ×
भुज भय पंक मृनाल नुकायल, कर भय किसलय काँपे।
कवि सेखर मन कत कव ऐसन, कहब मदन परतापे॥

अलंकार—उपमा और प्रतीप।

पद ५०. चितवनि रोके हू न रही

अ——　प्रस्तुत पद मे एक गोपी कह रही है कि वह कृष्ण प्रम म

इतना अधिक तन्मय हो गयी है कि उसकी दृष्टि बार-बार कृष्ण की ओर ही जाती है तथा रोकने पर भी वह वश में नहीं रहती। उसका कहना है कि यह दृष्टि रूपी नदी श्यामसुन्दर कृष्ण रूपी सिंधु की ओर बड़ी तेजी से बही अर्थात जिस प्रकार समुद्र से मिलने के लिए सरिता अत्यंत तीव्र गति के साथ उसकी ओर बढ़ती है उसी प्रकार आँखें भी कृष्ण के रूप-समुद्र में निमग्न होने के लिए उस ओर बढ़ी जा रही हैं। साथ ही यह दृष्टि रूपी सरिता प्रेम रूपी जल के प्रवाह एवम् भँवरों से परिपूर्ण होने के कारण अथाह है अर्थात् प्रेम की कोई सीमा ही नहीं है और कृष्ण-दर्शन के लोभ से पूर्ण कटाक्ष रूपी लहरों ने अवगुंठन रूपी किनारों को ढा दिया है अर्थात् गोपी ने लोक-लज्जा को त्याग दिया है। साथ ही उसके नेत्रों की पलकें ही मानों मार्ग के बटोही हैं और धैर्य ही नाव है इसलिए ये पलक रूपी बटोही थकित होकर इतने अधिक स्तब्ध हो गये हैं कि अब उनमें धैर्य रूपी नौका को पकड़ने की भी सामर्थ्य नहीं रही और इस प्रकार वे अपने स्वभाववश ही श्याम रूपी सागर में जा मिली हैं तथा उनका पीछे लौटना असंभव है। इसका अर्थ यह है कि गोपियों ने इस संसार को भुलाकर कृष्ण के रूप-सागर में निमग्न हो जाना ही उचित समझा है।

अन्य विशेषताएँ—नेत्रों का यह स्वभाव ही माना जाता है कि वे जिसकी ओर देख लेते हैं मन भी उसी का हो जाता है और प्रेम-भावना के जागृत करने में उनका विशेष स्थान रहता है। रहीम ने कहा भी है—

रहिमन मन महाराज के दृग सों नाहिं दिवान।
जाहि देखि रीझे नयन मन तेहि हाथ बिकान।।

अलंकार—सांग रूपक।

पद ५१. हरिमुख निरखत नैन भुलाने

अवतारणा—कृष्ण की मुख-छबि देखने के पश्चात् एक गोपी की जो दशा हुई उसी का इस पद में वर्णन किया गया है।

शब्दार्थ—निरखत—देखते ही। मधुकर—भ्रमर। पंकज—कमल। ढिग—समीप, पास। दुज—द्विज, दाँत। वज्र द्युति—हीरे की चमक वाले। कुंचित—घुँघराले। सिलीमुख—भ्रमर। मकरंद—पुष्प-रस।

भावार्थ—एक गोपी कह रही है कि कृष्ण का मुख देखते ही मेरे नेत्र

अपने वश में नहीं रहे और वे अपने आपको भूल गये । वस्तुतः ये नेत्र रूपी भ्रमर कृष्ण रूपी कमल के लोलुप हैं अतः वे वहाँ से उड़ नहीं पाते अर्थात् जिस प्रकार भ्रमर कमल के रस पान में इस तरह प्रमत्त हो जाता है कि वह अपनी निजी सुधि ही विस्मरण कर देता है और उसे उस पुष्प से उड़कर अन्यत्र कहीं जाने की इच्छा ही नहीं होती उसी प्रकार ये नेत्र भी कृष्ण-मुख-छवि की सुधा पान करने में रत हैं । जिस तरह रात्रि के व्यतीत होने पर सूर्योदय होते ही कमल पुष्प खिल जाते हैं उसी तरह कृष्ण के कपोलों के निकट मकराकृति कुंडल रूपी सूर्य से मुखरूपी कमल भी खिल गया है। साथ ही सुन्दर भौंहों तथा नेत्रों को देखकर खंजन एवं मीन भी लज्जित हो जाते हैं और उनके अधर लाल तथा दंत-पंक्ति हीरे के सदृश्य कांतिवान है । इतना ही नहीं उनके सुन्दर स्वरूप की समकक्षता में अपने को न पाकर चद्रमा भी बादलों में छिप गया है तथा उनकी टेढ़ी अलकें देखकर ऐसा भास होता है मानों कमल का रस लेकर भ्रमर उड़ रहे हों । कृष्ण के मस्तक पर तिलक सुशोभित है और ग्रीवा में मोतियों की माला एवं मणिजटित स्वर्णाभूषण शोभायमान हैं । सूरदास जी का कहना है कि चतुर स्वामी कृष्ण के गुणों का वर्णन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता अतः स्वाभाविक ही उस गोपिका के नेत्र अपने वश में नहीं रहे ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति और प्रतीप ।

पद ५२. जो बिधिना अपवस करि पाऊँ

अवतारणा—प्रस्तुत पद में एक गोपी ने अपनी मानसिक विह्वलता प्रकट की है ।

शब्दार्थ—बिधिना—विधाता, ब्रह्मा । अपवस—अपने वश में । अपनी साध पुराऊँ—अपनी इच्छा पूरी करूँ । लोचन—नेत्र । निमिष—आँखों का ढकना ।

भावार्थ—कृष्ण प्रेमानुरक्ता एक गोपी कह रही है कि यदि कहीं विधाता मेरे वश में हो जाय तो जो कुछ तू कह रही है वह सब सत्य सिद्ध हो सकता है और मैं अपनी मनोकामना पूर्ण करने में सफल हो सकती हूँ । इसका अभिप्राय यह है कि उस गोपी से उसकी सखी ने कहीं यह कह दिया कि वह तो अब दिन रात कृष्ण प्रेम में ही निमग्न रहती है अतः वह अपने

स्वरूप यह कहना चाहती है कि अभी तो उसकी तनिक भी इच्छा पूर्ण नहीं हुई लेकिन यदि विधाता उसके वश में आ जाय तब वह अवश्य अपनी कामना पूरी कर सकती है। उस प्रेमानुरक्ता का कहना है कि मैं यह चाहती हूँ कि मेरे शरीर का रोम-रोम नेत्र बन जाय ताकि मैं उनसे जी भर कर कृष्ण का रूप-सुधा पान कर सकूँ। वह कह रही है कि इसके साथ मैं उन्हें बार-बार सतर्क रहने का भय भी दिखलाऊँगी जिससे वे स्तब्ध हो जाएँ। चूँकि नेत्रों की पलकें स्वाभाविक ही सर्वदा चला करती है अतः मैं एक ऐसी नवीन प्रणाली का निर्माण करूँगी जिससे वे हमेशा स्थिर ही रहें कारण कि उनके स्थिर रहने से मेरी इच्छा-पूर्ति में कभी भी किसी प्रकार का व्यवधान न पड़ेगा। उसका कहना है कि मैं स्वयं भला क्या कह सकती हूँ क्योंकि कृष्ण-रूप की राशि हैं और मेरे ये दो नेत्र उनकी सौन्दर्य-सुधा का पान करने योग्य नहीं है अतः कृष्ण की रूप सुधा का पूर्ण आनन्द न प्राप्त कर सकने के कारण ये नेत्र हमेशा दुखी रहते हैं परन्तु अपना यह दुःख कभी भी किसी के सामने प्रकट नहीं किया जा सकता।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में गोपी के प्रेम-विह्वल हृदय का सुन्दर चित्रण किया गया है और सूरदास जी ने यह दिखलाना चाहा है कि प्रेमोन्मत्त व्यक्ति सर्वदा ही अपने प्रेमी का सौन्दर्य देखना चाहता है। रोम-रोम में नेत्रों की कल्पना अनूठी ही है और इसका यह भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है कि भक्त अपने इष्टदेव का दर्शन सर्वदा ही करना चाहता है।

पद ५३. जब ते प्रीति स्याम सों कीन्हीं

अवतारणा—विचारकों ने शृंगार रस के संयोग और वियोग नामक दो भेद माने हैं तथा वियोग शृंगार को भी पूर्वानुराग, मान, प्रवास एवं करुण नामक चार उपभेदों में विभाजित किया जाता है। पूर्वानुराग में जिसे कि नियोग भी कहा जाता है प्रथम दर्शन द्वारा नायक-नायिका के परस्पर अनुरक्त होने पर भी किसी कारणवश मिलन न हो सकने से उनके हृदय में प्रेमपूर्ण अधीरता होती है। इसके अंतर्गत वियोगजनित दस अवस्थाएँ—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण—अंकित की जाती है। प्रस्तुत पद में एक ब्रजबाला की वियोगजनित उद्वेग अवस्था का चित्रण किया गया है

शब्दार्थ—नेकहुँ—तनिक भी, जरा भी। मोहाई—अच्छा लगना। सकल—कुल, सब। ऐसीयें—ऐसे ही, इसी प्रकार।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि प्रेम-विह्वल एक गोपी अपनी वियोगावस्था का वर्णन करते हुए कह रही है कि जब से मैंने कृष्ण से प्रेम किया है तब से मेरे इन नेत्रों को तनिक भी नींद नहीं आ रही है अर्थात् रात-दिन मेरे लोचनों में उन्हीं की मोहिनी मूर्ति छायी रहती है। उसका कहना है कि मेरा मन हमेशा घूमता रहता है अर्थात् वह स्थिर नहीं रह पाता और मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता कारण कि मेरा मन हमेशा उसी मनमोहन से मिलने की युक्ति ढूंढा करता है तथा यही चाहता है कि किसी-न-किसी प्रकार उनसे मिलने का अवसर मिले। वह ब्रजबाला अपनी सखी से कह रही है कि मुझे यह सारा संसार ही पराया जान पड़ता है क्योंकि कोई भी मेरे दुख से दुःखी होने वाला नहीं है अतः मैं अपना दुःख किसे सुनाऊँ। जिस प्रकार अबोध बालक अपने कष्ट को स्वयं ही सहन करता है तथा अपने दुख को कह नहीं सकता क्योंकि उसमें कहने की शक्ति ही नहीं रहती उसी प्रकार अब मैं भी इस पीड़ा का अनुभव मन-ही-मन कर रही हूँ और इसीलिए अपने मन की इस वेदना को किसी से कह नहीं सकती।

अन्य विशेषताएँ—कविवर सूरदास ने प्रेमोन्मत्त ब्रजबाला की वियोग-दशा का चित्रण करते हुए यह दिखलाना चाहा है कि प्रियमिलन की उत्कंठा-वश अब उसका मन किसी भी काम के करने में नहीं लगता और बाहर-भीतर एक प्रकार की खिन्नता सी रहती है। पद्माकर ने भी इसी प्रकार कहा है—

> घर ना सुहात ना सुहात बन बाहिर हू,
> बाग ना सुहात जे खुशहाल खुशबोही सों।
> कहै पद्माकर घनेरे धन धाम त्यों ही,
> चन्द ना सुहात चाँदनी हू जोग जोही सों॥
> साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माँझ कछू,
> व्यापी यह बात हौ बखानत हों तोही सों।
> रात ना सुहात ना सुहात परभात आली,
> जब मन लागि जात काहू निरमोही सों

पद ५४. लोचन भये पखेरू माइ

अवतारणा—प्रस्तुत पद में कवि ने एक ब्रजबाला के कृष्ण-रूप-सुधारस का पान करने वाले नेत्रों का वर्णन किया है।

शब्दार्थ—पखेरू—पक्षी। लुब्ध—लुभाया हुआ, मोहित। हाटी—चिड़िया पकड़ने की टटिया, जिस पर आकर पक्षी बैठ जाता है। ललित—सुन्दर। लकुट—लकड़ी।

भावार्थ—एक ब्रजबाला कह रही है कि मेरे नेत्र पक्षी हो गये हैं तथा वे श्यामरूपी चारे से लुब्ध होकर उनकी अलकों के फन्दे में फँस गये हैं। कृष्ण का मोर मुकुट ही मानों पक्षी पकड़ने की वह टटिया है जिस पर आकर पक्षी बैठते हैं अर्थात् उनके इस मुकुट ने इन नेत्रों को इस बात के लिए विवश सा कर दिया है कि दृष्टि बार-बार उनकी ओर जाती है और हटाये नहीं हटती। साथ ही कृष्ण की त्रिभंगी मूर्ति ही बैठने का वह सुन्दर भाव है जिससे सहज ही पक्षी रूपी नेत्र आकृष्ट हो उठते हैं तथा उनकी सुन्दर चितवन ही लासा नामक वह लसदार वस्तु है जो कि पक्षियों को फँसाने के लिए काम में आती है अर्थात् कृष्ण की सुंदर चितवन देखते ही गोपियाँ उसी ओर एकटक देखती रह जाती हैं और अपने नेत्र वहाँ से हटा नहीं पातीं। उनकी मृदुल मुस्कान ही पक्षी पकड़ने का ढंग है और इस प्रकार उनकी मोहिनी मुस्कान के वश में गोपियों के नेत्ररूपी पक्षियों का हो जाना सहज स्वाभाविक ही है। वह ब्रजबाला कह रही है कि इस प्रकार नेत्र रूपी पक्षी को मन रूपी बहेलिये ने घर और बाहर दोनों की सुधि विस्मरण करा कर उनको मुस्कान रूपी क्रिया-चातुरी द्वारा पकड़ कर लोभ के पिंजड़े में बंद कर दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि कृष्ण की मधुर मुस्कान से मोहित हो उस ब्रजबाला के नेत्र रूपी पक्षी कृष्ण के सौन्दर्य रूपी जाल में फँस गये है।

टिप्पणी—कवि ने प्रस्तुत पद में नेत्र रूपी पक्षी के सौन्दर्य रूपी जाल में फँस जाने का सुन्दर रूपकात्मक चित्रण किया है। उसने जो कृष्ण की मोहनी मुस्कान को पक्षी पकड़ने का ढंग कहा है उसका अर्थ यह है कि कृष्ण अपनी मधुर मुस्कान द्वारा ही गोपियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। मन को बहेलिया माना गया है और कृष्ण-दर्शन का लोभ ही वह पिंजड़ा है जिसमें पक्षी बंद किये गये हैं।

पद ५५. नैना हैं री ये बटपारी

अवतारणा—प्रस्तुत अवतरण में ब्रजबाला के रूप रसिक नेत्रों को ठग माना गया है।

शब्दार्थ—बटपारी—ठग, रास्ते में लूटनेवाले, लुटेरे। कपट नेह—कपटी प्रेम। प्रेम-ठगौरी—प्रेम की मोहकता। परसाइ—स्पर्श। बिपिन—वन, जंगल।

भावार्थ—एक गोपी कह रही है कि मेरे ये नेत्र बड़े ठग हैं कारण कि इन्होंने कपट स्नेह कर हमें अपने गुरुजनों से अलग कर दिया है अर्थात् अब इन नेत्रों की पिपासा शांत करने के लिए हमें अपने कुल-परिवार से विलग होना पड़ा है। जिस प्रकार ठग लोग पहले बात-बात में कपट प्रेम से ठगे जानेवाले व्यक्ति को कोई खाद्य पदार्थ जिसमें मादक वस्तु मिली रहती है खिला देते हैं और फिर नशे की हालत में उसे लूट लेते हैं उसी प्रकार इन नेत्रों ने कृष्ण दर्शन रूपी लड्डू खिलाकर प्रेम की मोहिनी से हमारा मन मुग्ध कर लिया है और इस प्रकार इन्होंने हमें कृष्ण की छवि देखने के लिए बार-बार विवश किया है। जिस प्रकार ठग लोग ठगे जाने वाले व्यक्ति के साथ उसके रुपये-पैसे का भेद लेने के लिए अपने दल के कुछ व्यक्तियों को भी लगा देते हैं उसी प्रकार इन नेत्ररूपी ठगों ने कृष्ण के मुख की प्रसन्नता, हँसी तथा मधुरता को मेरे साथ लगा दिया है अर्थात् मेरा चित्र हमेशा इन्हीं की ओर लगा रहता है। साथ ही मेरे मन ने इन ठगों से मिलकर मेरा सभी भेद बता दिया है अतएव अब विरह रूपी फाँसी मेरे कंठ में लगाकर इन्होंने हमारे कुल की लज्जा रूपी समस्त सम्पत्ति लूट ली है इसका अर्थ यह है कि इन नेत्रों ने उन ब्रज बालाओं की लोक लज्जा छुड़ाकर उन्हें कृष्ण की रूप-सुधा पान करने के लिए बाध्य कर दिया। वह ब्रजबाला कह रही है कि अब मैं मोहरूपी बन में पड़ी हुई कराह रही हूँ परन्तु प्रेम के कारण मेरे प्राण भी नहीं निकल पाते। सूरदास जी कह रहे हैं कि वह गोपिका कृष्ण के सुन्दर स्वरूप का बार-बार स्मरण करती हुई अपने मन में इस बात के लिए पछता रही है कि आखिर इस निर्मोही से क्यों मेरा पाला पड़ा कारण कि यदि मेरा मन इनकी ओर आकृष्ट न होता तो आज मेरी यह दशा न होती।

अन्य विशेषताएं—वस्तुत इस पद मे उस की वियोगावस्था

का चित्रण करते हुए वियोगातगत स्मरण एव प्रिय गुण कथन का ही वर्णन किया गया है।

अलंकार—सांगरूपक।

पद ५६. मेरे इन नैनन इतै करे

अवतारणा—प्रस्तुत पद में एक ब्रजबाला कृष्ण के रूप पर आसक्त अपने नेत्रों की करनी का उल्लेख दूसरी ब्रजबाला से कह रही है।

शब्दार्थ—इतै करे—इतना किया। प्रमुदित—प्रसन्न। उरग—सर्प। निधि—खजाना, धन-राशि। निदरे—निरादर करना, उपेक्षा करना। ठग लडआ—वह लड्डू जिसे खिलाकर ठग लोग राहगीरों को वेहोश कर उनका सामान ठग लेते हैं। मिसि—बहाने। गोचर—आँख, इंद्रिय। अरति—हठ। अनुमने—उदास। गथ—सिक्का।

भावार्थ—एक ब्रजबाला कह रही है कि मेरे नेत्रों ने कुछ इस प्रकार का कार्य किया कि मैं अब कृष्ण की मुख-छवि देखकर उनके प्रति अत्यधिक मोहित हो गयी हूँ और जिस प्रकार चन्द्रमा से प्रेम करने के कारण चकोर हमेशा अपने प्रिय चन्द्रमा की ओर देखा करता है तथा एक पल को भी उस ओर से अपनी दृष्टि नहीं हटाता उसी प्रकार मेरे ये नेत्र भी कृष्ण के मुख रूपी चन्द्रमा को एकटक देखते रहते हैं। साथ ही जैसे सर्प अपनी खोयी हुई मणि को पाकर अत्यधिक प्रसन्न हो उठता है वैसे ही मेरे ये नेत्र कृष्ण के मुख को देखकर बहुत ही अधिक आनन्दित हो उठते है परन्तु जिस प्रकार कोई नीच पुरुष धन-राशि पाकर मदान्ध हो गर्व करने लगता है उसी प्रकार ये नेत्र अब इतना अधिक गर्व करने लगे हैं कि वे हमारी तनिक भी परवाह नहीं करते। उस ब्रजबाला के कथन का अभिप्राय यह है कि नेत्रों को इस जरा सी बात पर मिथ्या गर्व न करना चाहिए कारण कि गर्व के फलस्वरूप प्रेम का स्वाभाविक आनन्द स्थिर नहीं रह पाता। वह गोपागना पुनः कह रही है कि कृष्ण की मधुर मुस्कान ही मानो ठग के वे लड्डू है जिन्हें खाकर हमें तनिक भी सुधि नहीं रहती अर्थात् हम कृष्ण की उस मोहिनी मुस्कान पर अपने आपको न्यौछावर कर देती हैं इतना ही नही अब

यह नेत्र कृष्ण के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग पर मोहित हो गये हैं और बार-बार समझाने पर भी होश में नहीं आते तथा जिस प्रकार अवगुंठन के अंदर रहने वाले नेत्र बाहर नहीं देख पाते और वे उस वस्त्र में ही अटक जाते हैं उसी प्रकार हमारे ये नेत्र भी अब कृष्ण के प्रत्येक अंग मे अटके हुए हैं अर्थात् उन्हीं पर आसक्त हैं। जैसे कोई बालक किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए हठ करने लगता है और जब तक वह प्राप्त न हो जाय धैर्य नहीं धारण करता वैसे ही यह नेत्र भी कृष्ण-मुख-सुधा का पान करने के लिए हठ किए हुए है तथा जिस प्रकार वह बालक ताड़ना दिये जाने पर भी अपनी हठ नहीं छोड़ता उसी प्रकार गुरुजनों एवं परिजनों द्वारा मना किए जाने पर भी ये नेत्र कृष्ण की ओर आकृष्ट हो जाते हैं तथा अपनी प्रवृत्ति नहीं त्यागते। उस गोपांगना का कहना है कि यदि अपना सिक्का ही खोटा हो तब परखने वाले को दोष देना व्यर्थ ही है इसलिए जब ये स्वयं ही कृष्ण के रूप पर आसक्त हो गये हैं तब उन्हें इसका जो प्रतिफल होगा उसे सहन करना ही पड़ेगा।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद शृंगार रस पूर्ण है तथा इसमें गोपी प्रेम का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। प्रेम-तत्व निरूपण की दृष्टि से भी यह पद उल्लेखनीय है कारण कि इसमें कवि ने यह दिखलाना चाहा है कि रूपा-सक्त नेत्र हमेशा ही प्रिय के रूप में रँगे रहते हैं तथा प्रेम-पात्र के दृष्टिगोचर होते ही वे उसी को एक टक देखते रहते हैं और गुरुजनों की मर्यादा का भी विचार उन्हें नहीं रहता।

पद ५७. रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै

अवतारणा—वल्लभाचार्य जी ने श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका मे एक स्थान पर लिखा है कि जिसमें बहुत सी नर्तकियाँ हों और नाच करें उसमें रसाभिव्यक्ति होती है तथा यही रसयुक्त नाच 'रास' कहलाता है। उनका कहना है कि रास क्रीडा की मानसिक अनुभूति से रसाभिव्यक्ति होती है तथा गोलोक या निजधाम ब्रजवृंदावन में भगवान् कृष्ण अपने आनन्द विग्रह से अपनी आनन्द प्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्य रसमग्न रहते हैं और उनकी यह क्रीडा अनादि एवं अनन्त है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि शरद् पूर्णिमा की रात्रि में कृष्ण की मुरली की मधुर तान सुनकर गोपिकाएँ मुग्ध हो

उनसे मिलन के लिए अपने परिजनों एवं लोक-लज्जा का त्याग वृन्दावन के उस निर्जन प्रदेश में जा पहुँचीं जहाँ वे वंशीवादन कर रहे थे। कृष्ण ने पहले उन्हें बहुत समझाया लेकिन उनकी तीव्र लालसा देख कर वे रास के लिए तैयार हो गये। इसी रास-लीला का चित्रण अष्टछापी कवियों ने भी विस्तार के साथ किया है लेकिन उन्होंने गोपी-कृष्ण-रास में आध्यात्मिक दृष्टि का आरोप कर उसे दिव्य रूप प्रदान किया है और रास के शृंगारिक भावों को परब्रह्म कृष्ण के संसर्ग के कारण निर्दोष ही माना है। स्वयं वल्लभाचार्य ने भी सुबोधिनी की कारिकाओं में उसका आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि कृष्ण की रासलीला में काम नहीं है तथा गोपियों के लौकिक काम का शमन और अलौकिक काम की पूर्ति ही उसमें निष्काम भगवान् द्वारा हुई है। आचार्य जी इसमें किसी मर्यादा का भंग होना भी नहीं मानते तथा उनका कहना है कि इसमें तो गोपियों को 'स्वरूपानंद की मुक्ति' ही प्राप्त हुई है। स्वयं शुकदेव मुनि ने भी रास-प्रकरण के अन्त में यही कहा है कि रसात्मक विष्णु भगवान् ने ब्रजवधुओं के साथ जो क्रीड़ा और रास की उनको श्रद्धापूर्वक श्रवण करने एवं वर्णन करने से कामरूपी हृदय-रोग नष्ट हो जाता है। प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने रासलीला का ही सुन्दर चित्रण किया है।

शब्दार्थ—रस—आनंद। रीति—ढग, प्रकार। लहौं—प्राप्त करूँ। निगम अगम—वेद-शास्त्र।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि रास का रस और रीति अर्थात् आनन्द और ढंग का वर्णन नहीं किया जा सकता कारण कि न तो मेरी वैसी बुद्धि ही है और न मन। साथ ही गोपियों के सदृश्य रसानुभावी मन प्राप्त कर अपने चित्त को स्थिर करना भी मेरे लिए सहज नहीं है। यदि मैं यह कहता हूँ कि वेद-शास्त्र भी इस रहस्य को समझ नहीं सके तो मेरी बात का विश्वास कोई नहीं करेगा परन्तु वास्तविकता यही है कि बिना भगवत्कृपा के कोई भी इस रस को नहीं पा सकता तथा इसका अनुभव वही मनुष्य कर सकता है जो एकाग्रचित्त, स्थिर बुद्धि एवम् विकार रहित दृष्टि वाला हो। कवि का कहना है कि आनन्द रूप भगवान् कृष्ण भावरूप ही हैं तथा बिना भाव के उनकी लीला का आनन्द नहीं उठाया जा सकता और जो लोग भाव से

भगवान् का भजन करते हैं तथा उनके भावमय आनन्द रस का ध्यान करते हैं उन्हीं के मानस में भगवान् एवम् उनका रास-रस आते है। इसका अर्थ यह है कि भगवान् भाव के ही भूखे है तथा जिनकी जैसी भावना रहती है उन्हें ईश्वर की वैसी ही कृपा भी प्राप्त होती है। इस प्रकार सूरदास जी कह रहे है कि हे प्रभु मैं आपसे बार-बार यही प्रार्थना करता हूँ कि मैं मनुष्य शरीर पाऊँ और मेरे इन दोनों नेत्रों में दृष्टि शक्ति बनी रहे जिससे कि मैं हमेशा दम्पति अर्थात् राधाकृष्ण का दर्शन करता रहूँ और उनका ही गुणगान किया करूँ। वस्तुतः यही मेरे जीवन का एक मात्र उद्देश्य तथा ज्ञान का सार है। •

अन्य विशेषताएँ—वस्तुतः पुष्टिमार्गीय भक्ति में हरिलीला का समावेश विशेष रूप से किया गया है और हरिलीला का प्रमुख अंग रासलीला माना गया है अतः सूर ने इसका वर्णन करते समय यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम-भाव के बिना भगवत्प्राप्ति असंभव है और यह प्रेम-भाव भी भगवत्कृपा से ही सुलभ होता है। वस्तुतः रास का आध्यात्मिक महत्त्व भी है और इस लीला में जीवात्मा परमात्मा से मिल कर तदाकार हो जाता है तथा उसके आनन्द का साक्षात्कार जन्म-जन्मान्तर के संचित पुण्य-फल से ही संभव है। •

पद ५८. केहि मारग मैं जाऊँ सखी री मारग मोहि बिसरयो

अवतारणा—श्रीमद्भागवत के अनुसार रासलीला के प्रारंभ मे गोपियों के हृदय में अचानक यह भाव उत्पन्न हुआ कि संसार की समस्त स्त्रियों में हम ही श्रेष्ठ हैं तभी तो कृष्ण हमसे प्रेम करते हैं अतः श्रीकृष्ण उनका मान दूर करने के हेतु अंतर्ध्यान हो गये। प्रारंभ में तो ब्रजबालाओं ने इसे विनोद समझा लेकिन जब कृष्ण बहुत देर तक नहीं आये तब उन्हें बोध हुआ और वे यह समझ गयीं कि उनके प्रिय ने उनकी किसी त्रुटिवश उन्हें त्याग दिया है। अब वे वियोगिनी सी हो अपने प्रियतम कृष्ण को ढूँढने लगीं और जड़ चेतन सभी से उनका पता पूँछने लगीं, लेकिन जब कृष्ण नहीं आये तब वे शिथिल होकर बैठ गयीं और उनका ध्यान करने लगीं। प्रस्तुत पद में गोपियों की इसी अवस्था का चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—डोंगर—टीला, पहाड़ी। द्रुम—वृक्ष। रूख—छोटे वृक्ष। अबकैं—इस बार।

भावार्थ—रास-क्रीड़ा के समय कृष्ण के अंतर्ध्यान हो जाने पर उन्हें ढूँढती हुई एक ब्रजबाला अपनी सखी से कह रही है कि कृष्ण प्रेम में विभोर होने के कारण मैं तो अब रास्ता ही भूल गयी और मुझे यह समझ में नहीं आता मैं किधर उनकी खोज करूँ। मुझे मोहित कर न जाने वे किधर चले गये तथा उनके जाते समय मैं यह जान ही न सकी कि वे कब गये और चूँकि मुझे उनसे मिलने की तीव्र लालसा है अतः मैं अपने प्रियतम को खोजती फिर रही हूँ। उस ब्रजबाला का कहना है कि मेरे हृदय में प्रेम का काँटा लगने के कारण अर्थात् मेरे प्रेम-विभोर होने के फलस्वरूप ही प्रियतम को इस तरह भागने का अवसर मिल गया लेकिन मैं भी अब अपना गाँव तथा घर का मार्ग तज वन और टीलों में उन्हें खोजती फिर रही हूँ तथा प्रत्येक वृक्ष और पौधे से उनका पता पूँछ रही हूँ लेकिन कोई भी मुझे उनका पता नहीं बतलाता। इस प्रकार अत्यंत असहाय सी हो इधर-उधर मैं व्याकुल सी उन्हें ढूँढ रही हूँ तथा उनके न मिलने पर मुझे इसलिए आश्चर्य हो रहा है कि आखिर इतनी जल्दी वे कहाँ छिप गये। उस गोपांगना का कहना है कि यदि अबकी बार मुझे वे मिल गये तो मैं उन्हें निमिष मात्र के लिए भी अपने से विलग न करूँगी तथा अपने हृदय को उनका निवास-स्थान बना नेत्रों में उन्हें बिठाऊँगी और उनके साथ रासलीला का पूर्ण आनन्द प्राप्त करूँगी।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में कविवर सूरदास ने उस ब्रजबाला के प्रोषितपतिका रूप का ही चित्रण किया है और इस प्रकार वह उसकी वियोग-जनित अवस्था का हृदयस्पर्शी वर्णन करने में सफल रहा है।

पद ५९. अतिहि अरुन हरि नैन तिहारे

अवतारणा—प्रस्तुत पद में एक गोपांगना कृष्ण के रूप पर मुग्ध हो उनके नेत्रों की प्रशंसा कर रही है।

शब्दार्थ—रँगमगे—रँगे हुए, अनुरंजित। रंग—आनन्द, विनोद। बींधे—फँस गये चंचल अलि बारे भौंरे के चंचल बच्चे

है। अनुराग—प्रेम। अनियारे—नुकीले, चुभने वाले। काम—कामदेव। खर—तेज। सान सँवारे—धार करना। पलक पट—पलकों रूपी पर्दा। मर्कत—पन्ना। खंजरीट—खंजन पक्षी। चटकारे—तेज रंग के। कुरुखियन—टेढी दृष्टि से। रोचन—सुन्दर, रुचिकारी। रतनारे—लाल, अनुराग रंग पूर्ण।

भावार्थ—कृष्ण के रूप पर मुग्ध एक गोपांगना उनके नेत्रों की प्रशंसा करते हुए कह रही है कि हे कृष्ण तुम्हारे नेत्र अत्यंत लाल है और ऐसा प्रतीत होता है मानो वे प्रेम रस से अनुरंजित होने के कारण लाल हो गये है तथा अनिमेष दृष्टि से रंगरेलियाँ किया करते हैं। चूंकि साहित्य में प्रेम का रंग लाल माना गया है अत: अरुण नेत्रों को प्रेम रंग से रंजित माना गया है और साथ ही गोपियों की ओर वे एकटक देखते रहते हैं अतः उन्हे अनिमेष दृष्टि से रंगरेलियाँ करने वाला कहा गया है। वह ब्रजबाला पुनः कह रही है कि उनके नेत्रों की पुतलियाँ किसी शंकावश ही इधर-उधर धीरे-धीरे घूमती है और उन्हें देखकर ऐसा भास होता है मानो दो मनोहर तारे मध्य में सुशोभित है या फिर कमल की पंखुड़ियों में दो छोटे-छोटे भ्रमर फंस गये हैं और उड़ नहीं पाते। नेत्र चंचलता के साथ चमचमाते तथा प्रेम प्रकट करते है और अत्यंत नुकीले हैं। साथ ही वे रस से मतवाले हो इधर-उधर घूमते हैं मानो समस्त संसार पर विजय प्राप्त करने के लिए कामदेव अपने बाणों की धार और तेज कर रहा है। ये नेत्र कभी अटपटाते हैं, कभी अलसाते हैं और कभी तो पलकों के पट बंद कर लेते हैं तथा कभी खोले रहते हैं मानो पन्ना मणि से निर्मित प्रांगण में तेज रंग के दो खंजन पक्षी हर्षपूर्वक खेल रहे हों। उस गोपिका का कहना है कि तुम्हारे नेत्र बराबर कनखियों से हमारी ओर देख कपटी प्रेम से हमारे मन को हरते हैं अर्थात् तुम्हारा प्रेम वास्तविक नहीं रहता और तुम मिथ्या प्रेम ही करते हो। परन्तु वास्तव में ये नेत्र सुख-दायक, विपत्तियाँ दूर करने वाले तथा सुन्दर हैं और प्रेम रंग से अनुरंजित हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में नेत्रों का वर्णन करते समय कवि ने अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है। नेत्रों का अलंकारिक वर्णन प्रायः सभी हिन्दी-कवियों ने किया है। रत्नाकर जी का यह छंद दृष्टव्य है—

लागैं नैंकु नैननि अचैंत चित-ऐन भरै,
अंग करै सकल अनंग मतवारे हैं।

कहै रतनाकर बढ़त तन ताप होत,
बरस-तृषा सौं प्रान परम दुखारे हैं ।।
औषध उपाय ना बिहाइ बिष सोई और,
तलफत हाय परे नंद के दुलारे हैं ।
धारे सुरमे की सान-आप अनियारे अति,
लोचन तिहारे बलि बिसिख बिसारे हैं ।।

अलंकार—उत्प्रेक्षा और रूपक ।

पद ६०. यह रितु रूसिबे की नाहीं

अवतारणा—कहा जाता है कि कृष्ण को अन्य गोपियों से प्रेम करते देख राधा ने मान किया परन्तु कृष्ण ने उन्हें मना लिया लेकिन जब राधा ने फिर कृष्ण को अन्य गोपिकाओं से रमते देखा तब वे मान करके बैठ गयीं और कृष्ण के बार-बार अनुरोध करने पर भी वैसी ही बैठी रहीं अतएव उन्होंने उनका मान भंग करने के लिए एक दूती को भेजा । उस दूती ने राधा से जो कुछ कहा वही इन पंक्तियों में सूरदास जी ने अंकित किया है ।

शब्दार्थ—रूसिबे की नाहीं—रूठने की नहीं है । मेघ—बादल । मेदिनी—पृथ्वी । डाहीं—जला दी थीं, झुलसा दी थीं । रस-रीति—प्रेम रस की परिपाटी ।

भावार्थ—राधिका को समझाते हुए एक दूती कह रही है कि यह सुहावनी वर्षा ऋतु रूठने की नहीं है बल्कि रस-भोग करने की है । उसका कहना है कि प्रकृति में सभी तरफ संयोग के चिह्न प्रकट हो रहे हैं और यह ऋतु बिछुड़े हुए दम्पतियों को मिला देती है तथा निदाघ की भीषण ज्वाला से तप्त पृथ्वी को शीतल करने के लिए बादल भी वर्षा कर रहे हैं । जो लताएँ ग्रीष्म ऋतु में भुवनभास्कर के प्रचण्ड ताप से झुलस गयीं थीं वे अब पुनः लहलहा उठी हैं और अपने प्रियतम वृक्षों से लिपटी हुई हैं तथा इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु मे सूख जानेवाली सरिताएँ पुनः जल से परिपूर्ण हों अत्यधिक उमंग के साथ अपने प्रियतम समुद्र से मिलने जा रही है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति का समस्त जड़ हो जब प्रेम से अनुरक्त हो रहा है तब राधा का

चेतन होते हुए भी एकाकी इस प्रकार गाल फुलाए हुए बैठना उचित नहीं है। वह दूती पुनः कह रही है कि यह यौवन रूपी धन या जीवन रूपी धन बदली की छाया के समान चार दिनों के लिए ही है अर्थात् अस्थिर ही है अतएव इस अवसर को हाथ से न जाने देना चाहिए तथा मैंने तुम्हें प्रेम-रस की पद्धति समझा दी है और तुम स्वयं ही चतुर हो अतः तुम्हें इसे भली-भांति समझ लेना चाहिए कि कृष्ण से तुम्हारा मिलन ही उचित है।

टिप्पणी—जो स्त्री नायक और नायिका को परस्पर मिला देने का चतुरतापूर्ण प्रयास करती है वह दूती कहलाती है। दूती का अत्यंत चतुर, वाक्पटु, संकेत-कुशल एवं मनोविज्ञान का पूर्ण पारखी होना आवश्यक है तभी वह अपने कार्य में सफल हो सकती है।

पद ६१. झूलत स्याम स्यामा संग

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदासजी ने राधाकृष्ण के हिंडोला-विहार का चित्रण किया है।

शब्दार्थ—अनंग—कामदेव। त्रिबिधि बयारि—शीतल, मंद, सुगंधित पवन। बिपुल—असंख्य। बन गृह—कुंज। रवन—आनन्द विहार-करने वाले।

भावार्थ—सूरदासजी कह रहे हैं कि आज राधा और कृष्ण साथ-साथ झूला झूल रहे है तथा उन दोनों की अंग-शोभा को देखकर करोड़ों कामदेव लज्जित हो रहे हैं अर्थात् उनकी सुन्दरता के सामने करोड़ों कामदेव भी कुछ नहीं हैं। इस समय शीतल, मंद, सुगन्धि पवन बह रही है तथा दम्पति के अंग से सुगन्धि सी उड़ रही है। वे दोनों जिस समय हिंडोले पर हिचकोले खाते हैं उस समय सुगंधि के झकोरे उठने के कारण भ्रमर भी उनके साथ-साथ उड़ने लगते है। जिस स्थान पर हिंडोला-विहार हो रहा है वहाँ यमुना का वातावरण भी अत्यंत मनोहारी है तथा ब्रजबालाएँ भी सुसज्जित हो कनखियों से कृष्ण को देख रही हैं। साथ ही वृन्दावन के सघन कुंजों के द्वार विहार-स्थल हो रहे हैं और असंख्य गोपियाँ वृन्दावन की उस विस्तृत रंगस्थली में आनन्द-विहार करनेवाले कृष्ण के साथ सुशोभित हैं। सूरदास जी कह रहे है कि भगवान् की यह लीला स्थायी है तथा यह आनन्द एवं मंगल-गान भी नित्य है और इस

लीला को देखकर देवता एवं मुनि गण प्रशंसा करते हुए कह रहे हैं कि गोपियाँ और कृष्ण धन्य हैं।

अन्य विशेषताएँ—कवि राधा को प्रकृति तथा कृष्ण को पुरुष मानता है और इस प्रकार उसका कहना है कि इस प्रकृति-पुरुष का झूलना ही ससार की लीला है तथा यह हिंडोला-विहार भी नित्य है। हिंडोला-विहार का इसी प्रकार सुन्दर चित्रण गदाधर भट्ट ने भी किया है—

झूलत नागरि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल॥
फरहराति पटपीत नील के, अंचल चंचल चाल।
मनहुँ परसपर उमँगि ध्यान छबि, प्रगट भई तिहिं काल॥
सिलसिलात अति प्रिया-सीस तें, लटकटति बेनी नाल।
जनु पिय-मुकुट-बरहि भ्रमबस तहँ ब्याली बिकल बिहाल॥
स्यामल गौर परस्पर प्रति छबि, सोभा बिसद बिसाल।
निरखि गदाधर रसिक कुँवरि-मन, परयो सुरस जंजाल॥

पद ६२. जागिये गोपाल लाल ग्वाल द्वार ठाढ़े

अवतारणा—प्रातःकाल के समय नंद तथा यशोदा अपने पुत्र कृष्ण को जगाते हुए जो मधुर वचन कह रहे हैं वे ही इस पद में अंकित हैं।

शब्दार्थ—तरनि—सूर्य। मुकुलित भये—खिल उठे।

भावार्थ—प्रातःकाल होने पर नंद और यशोदा कृष्ण को जगाते हुए कह रहे हैं कि हे गोपाल लाल उठो; देखो ग्वाल-बाल तुम्हारे द्वार पर खड़े तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। रात्रि का अंधकार समाप्त हो गया है तथा चंद्रमा का प्रकाश फीका पड़ गया है और तारागण भी आकाश में नहीं देख पड़ते तथा सूर्य की किरणें अग्रसर हो रही हैं अर्थात् शनैः-शनैः सूर्य उदय हो रहा है। इसी प्रकार कमलों का समूह विकसित हो रहा है तथा उन पर भ्रमर-दल गुंजायमान है और वट के वृक्षों की डालें एवं पुष्प खिल उठे हैं। साथ ही कुमुदिनी कुम्हला रही है क्योंकि वह रात्रि में खिलती है और प्रातःकाल कुम्हला उठती है। गंधर्वगण तुम्हारा गुण गान कर रहे हैं, तथा लोग स्नान दान आदि प्रातःकालीन दैनिक कार्य कर रहे हैं कवि कह रहा है

कि नंद कृष्ण से बार-बार यह कहते है कि हे पुत्र उठो जिससे मैं तुम्हारा मुख देख सकूँ और देखो वृन्दावन जाने के लिए गायों को भी बड़ी देर हो रही है। इसी प्रकार माता यशोदा भी कह रही हैं कि हे श्याम उठो क्या तुम यह सोच कर नहीं उठ रहे हो कि अभी रात्रि कुछ शेष बची है, साथ ही क्या तुम्हें इतना दिन चढ़ जाने पर भी भूख नहीं लगी जो तुम उठकर कुछ खाने के लिए हठ नहीं कर रहे हो।

अन्य विशेषताएँ—इस पद में मातृ-पितृ-हृदय की वात्सल्यपूर्ण भावनाओं का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। कहा जाता है कि सूरदास जी यह प्रभात गीत श्रीनाथ जी के मंदिर में बड़े ही सुरीले ढंग से गाकर सुनाते थे।

पद ६३. नटवर वेष धरे ब्रज आवत

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने कृष्ण के नटवर वेष का वर्णन किया है।

शब्दार्थ—नटवर—प्रधान नट। मकराकृत—मकर के आकार के। कुटिल अलक—घुँघराले केश। बिवि—दो। मेखला—करधनी।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि कृष्ण नटवर का वेष धारण किए हुए ब्रज आ रहे हैं। वे मोर-मुकुट तथा मकर की आकृति के कुंडल पहने हुए हैं और उनके मुख घुँघरारे बालों से शोभायमान हैं। भृकुटियाँ टेढ़ी तथा नेत्र बड़े चंचल हैं और उनकी इस छवि को देखकर मस्तिष्क में एक उपमा उठती है कि धनुष को देखकर दो खंजन पक्षी भयभीत हो रहे है लेकिन उड़ने के लिए उत्सुक होते हुए भी उड़ नहीं पा रहे हैं। यहाँ कवि ने भृकुटियों को धनुष तथा नेत्रों को खंजन माना है। स्वरों से परिपूर्ण मुरली उनके अधरों पर विराजमान है और वे गौरी राग बजा रहे हैं। उनके साथ गायों और ग्वाल-बालों का समूह आनन्द के साथ गा रहा है। उनकी कमर में सोने की करधनी तथा पीताम्बर सुशोभित है और वे मंद स्वरों में नृत्य कर रहे हैं। सूरदास जी का कहना है कि कृष्ण का प्रत्येक अंग शोभा से परिपूर्ण है जिन्हें देखकर ब्रजवासी मन-ही-मन प्रमुदित हो रहे हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में कृष्ण की सुन्दर छवि का अलंकृत वर्णन किया गया है। इसी प्रकार का मनोहर सौंदर्य-वर्णन रसखानि ने भी एक स्थल पर किया है

गोरज बिराजै भाल लहलही बनमाल
आगे गैयाँ पाछे ग्वाल गावें मृदुतान री ।
तैसी धुनि बाँसुरी की मधुर-मधुर तैसी
बंक चितवनि मंद-मंद मुसुकान री ॥
कदम बिटप के निकट, तटिनी के तट
अटा चढ़ि देखु पीतपट फहरान री ।
रस बरसावै तन तपन बुझावै नैन
प्राननि रिझावै वह आवै रसखान री ॥

अलंकार—उत्प्रेक्षा ।

पद ६४. नैनन-निरखि हरि को रूप

अवतारणा—कृष्ण-प्रेमानुरक्ता एक ब्रजांगना अपनी एक सखी से कृष्ण का स्वरूप अपने नेत्रों से देखने का आग्रह कर रही है ।

शब्दार्थ—सरद सरोज—शारदीय कमल । दुरत—छिपना । मनोज—कामदेव । नासा—नाक । ईषद हास—मन्द हँसी ।

भावार्थ—एक ब्रजांगना अपनी सखी से कह रही है कि हे सखी कृष्ण का रूप तुम इन नेत्रों से देखो और मन एवं बुद्धि को एकाग्र कर उनके सुंदर मुख का दर्शन करो । कृष्ण के प्रत्येक अंग में मोहकता है तथा सुन्दर टेढ़े केश भ्रमर के समान है और नेत्र शरतकालीन कमल पुष्प की भाँति स्वच्छ है । साथ ही उनके मकराकृत कुंडलों की किरणों की छबि से कामदेव भी लज्जित हो अपना मुँह छिपाता फिरता है कारण कि उसमे भी इतना आकर्षण नहीं है । उनके अधर लाल, कपोल एवं नासिका सुन्दर तथा मंद हँसी मन को हरनेवाली है । दाँत बिजली की तरह कांतिवान हैं और उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो बादलों के बीच नवीन चन्द्रमा उदय हुआ है । कृष्ण के मुख को यहाँ बादल तथा दाँतों को चंद्रमा माना गया है और उनकी भृकुटी कामदेव का विलास प्रतीत होती है या इसे यों भी कह सकते हैं कि उसमें कामविनोद छिपा हुआ है । वस्तुतः कृष्ण के अंग-अंग ने कामदेव पर विजय प्राप्त कर ली है अर्थात कृष्ण का प्रत्येक अंग कामदेव से अधिक सुन्दर है और

उनके हृदय मे सुन्दर वनमाला पड़ी हुई है तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी शोभा मन को पूर्ण सुख देनेवाली है।

अन्य विशेषताएँ—उस गोपिका ने अपनी सखी से कृष्ण का सौंदर्य अपने नेत्रों से तथा मन एवं बुद्धि को एकाग्र कर देखने के लिए इसलिए कहा क्योंकि बिना ऐसा किए सुंदर वस्तु आनन्ददायिनी प्रतीत नहीं होती। इस पद का भक्तिपरक अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है और इस प्रकार कवि इन पंक्तियों में यह दिखलाना चाहता है कि एकाग्र चित हो कृष्ण का दर्शन किए बिना आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

पद ६५. सुन्दर बर संग ललना विहरति सरस बसंत रितु आई

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने बसंत ऋतु का सुन्दर वर्णन किया है।

शब्दार्थ—ललना—ब्रजबालाएँ। विहरति—बिहार कर रही है। द्वादश बन—ब्रज के बारह वन; यथा, वृन्दावन, महावन, कामवन, मधुवन, मोदवन, तालवन, कुमुदवन, चंदनवन, खादिरवन, भांडीरवन, बेलवन, कोटवन। रतनारे —लाल। टेसू—पलाश, लाल रंग के फूलों वाला एक वृक्ष जो बसंत में फूलता है। मोरे अँबुआ—आमों मे बौर लगा है। द्रुम—वृक्ष। वेली—लतायें। पखावज—मृदंग। चौहटे—चौराहे पर। नरपुर—मृत्यु लोक।

भावार्थ—सूरदास जी कहते है कि ब्रजबालाएँ अपने सुन्दर वरों के साथ विहार कर रही थीं कि वसतऋतु का आगमन हुआ और अनिर्वचनीय शोभा का संचार होने लगा तथा ब्रज की ललनाएँ पूर्ण रूप से शृंगार कर श्रीकृष्ण के पास पहुँची। इस समय शीतल जलवाली यमुना भी मंद-मंद गति से बह रही है तथा सूर्य भी उत्तरायण हो गया है। कोकिला भी बड़े मधुर स्वर से कूकती हुई विरहणियों की विरह-भावना को उद्दीप्त कर रही है तथा प्रेम की मादकता के कारण ब्रज के बारहों वन लाल दिखाई पड़ रहे हैं। साथ ही चारों ओर टेसू फूले हुए हैं और आम के वृक्षों में बौर लग गये हैं तथा वृक्षों एवं लताओ के पुष्पों की सुगंध से भ्रमर मस्त हो रहे हैं। इधर राधिका जी एवं गोपियाँ और उधर श्रीकृष्ण एवं ग्वाल-बाल सभी मिलकर आनन्द मना रहे हैं सुन्दर श्याम तमाल-वृक्ष के नीचे रसिक कृष्ण और ब्रज फाग

खेल रही हैं तथा मृदंग पर ताल बज रही हैं और बीन तथा बाँसुरी पर सुन्दर गीत गाये जा रहे हैं। इस प्रकार रसिक कृष्ण तथा ब्रज की तरुण स्त्रियाँ आमोद-प्रमोद करते हुए ब्रज के चौराहे पर जा पहुँचे। कवि कह रहा है कि ब्रज की सभी स्त्रियाँ झूम-झूम कर झूमक राग गा रही हैं और मधुर वाणी बोल रही हैं तथा युवा, बाल, वृद्ध सभी आनन्द मग्न हैं और प्रसन्नता की अधिकता के कारण एक दूसरे के साथ परिहास कर रहे हैं। सूरदास जी का कहना है कि इस सुन्दर दृश्य को देखकर स्वर्ग, मृत्यु तथा पाताल लोक के प्राणियों को अत्यंत आनन्द प्राप्त हो रहा है और मैं स्वयं भी इसी आनन्द वश वसंत पंचमी की लीला का पद गा रहा हूँ।

टिप्पणी—वसंत पंचमी माघ शुक्ल पंचमी को मनायी जाती है और कहा जाता है कि यह वसंत के आने की सूचना देती है तथा इसी दिन से ऋतु में परिवर्तन होने लगता है। स्मरण रहे गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी प्रकार का वर्णन 'गीतावली' में किया है—

> खेलत बसन्त राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर-समाज ॥
> सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ। झोलिन्ह अबीर पिचकारि हाथ ॥
> बाजहिं मृदंग डफ ताल बेनु। छिरकैं सुगंध भरे मलय रेनु ॥
> उत जुवति-जूथ जानकी संग। पहिरे पट भूषन सरस रंग ॥
> लिए छरी बेंत सोधैं विभाग। चाँचरि झुमक कहैं सरस राग ॥
> नूपर किंकिनि धुनि अति सोहाइ। ललनागन जब जेहिं धरइँ धाइ ॥
> लोचन आँजहिं फगुआ मनाइ। छाँड़हिं न नाइ हा हा कराइ ॥
> चढ़े खरनि विदूषक स्वाँग साजि। करै कूट निपट गइ लाजि भाजि ॥
> नर नारि परसपर गारि देत। सुनि हँसत राम भाइन समेत ॥
> बरषत प्रसून बर बिबुध बृंद। जय जय दिनकर कुल कुमुद चंद ॥
> ब्रह्मादि प्रसंसत अवध बास। गावत कल कीरति तुलसिदास ॥

पद ६६. छबीले मुरली नेकु बजाइ

अवतारणा—साधारणतः सूरदास जी के पदों को विनय के पद, बाललीला के पद, सौन्दर्य-वर्णन सम्बन्धी पद, मुरली विषयक पद और भ्रमरगीत नामक पाँच भागों में विभाजित किया जाता है इसमें कोई संदेह नहीं कि सूर

ने मुरली पर बहुत लिखा है और मुरली संबंधी उनके पदों में कलात्मकता का बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य है। स्मरण रहे मुरली का आध्यात्मिक महत्त्व भी माना गया है और उसे कतिपय विद्वानों ने शब्द ब्रह्म भी कहा है तथा मुरली-ध्वनि को परमब्रह्म का शब्द रूप भी माना गया है। कहीं-कहीं वह योग माया का रूप भी मानी गयी है जो प्रभु की अपरा शक्ति की वाचक है। मुरली ग्वाल-बालों को भी बहुत प्रिय थी और श्रीमद्भागवत के अनुसार उसका मधुर राग सुनने के लिए गगन-मंडल में देवता भी एकत्र हो जाते थे। प्रस्तुत पद में जब ग्वाल-बाल श्रीकृष्ण से मुरली बजाने का अनुरोध करते हैं तब उन्होंने जो मुरलीवादन किया उसी का वर्णन है।

शब्दार्थ—मुरली—वंशी, बाँसुरी, वेणु। कमरिया—कामरी, छोटा कम्बल। दई डसाइ—बिछा दिया। सौंह—शपथ। गिरा—वाणी। गुन-गंभीर—गंभीर गुण वाले। कुंचित—घुँघराले। अलक—बाल। अलिमाल—भौंरों की कतार। अनाघात—स्वाभाविक। आयसु—आज्ञा।

भावार्थ—ग्वाल-बाल कृष्ण से मुरली बजाने का अनुरोध करते हुए कहते हैं कि हे छबीले थोड़ी देर के लिए मुरली बजाकर अपने अधरों का सुधा-रस हमें अवश्य पिलाओ। इतना कहकर वे सब सखा बार-बार उनकी बलैया लेने लगते हैं। सूरदास जी कह रहे हैं कि इसके पश्चात् उन ग्वालों ने अपने कंधों से कमरियाँ उतार कर वहाँ बिछाई तथा नंद बाबा की शपथ खिलाकर उनके पैर पकड़ मुरली बजाने की प्रार्थना करने लगे। श्रीकृष्ण इस प्रकार की दीन वाणी सुनकर उनकी ओर देख मुस्करा दिये और तदनन्तर गंभीर गुणों से युक्त मुरली को अपने अधरों पर रखकर कृष्ण ने मधुर स्वर में बजाना प्रारंभ कर दिया। उस मधुर ध्वनि को सुनकर जल और थल के समस्त जीव मुग्ध हो गये तथा अपना तन एवं प्राण उस पर न्योछावर करने के लिए प्रस्तुत हो गये। कवि कह रहा है कि मुरली बजाते समय कृष्ण के नेत्र, भौंहें तथा नासिका की शोभा एवं उनके सुन्दर मुख से निःसृत ध्वनि ऐसी प्रतीत होती थी मानो कोई नट कामदेव-रूपी नायक की चाल ढाल का अनुकरण कर नृत्य के विभिन्न हाव-भाव दिखा रहा है। साथ ही मुरली वादन करते समय उनकी मयूर चंद्रिका चमक रही थी और मस्तक पर बालों की घुँघराली लटें सुशोभित थीं अतः उन्हें देखकर यही भास होता था मानो

कमल-कोश के रस का पान करने के लिए भौंरो का समूह ही उड़कर वहाँ आ गया हो इसी प्रकार उनके सुन्दर कपोलों पर कुंडलों की आभा भी ऐसी प्रतीत होती थी मानो अमृत के समुद्र में अमृत पान करने के लिए मकर क्रीड़ा कर रहे हों। कवि कह रहा है कि बाँसुरी बजाते समय कृष्ण सुन्दर स्वाभाविक तान के साथ लय सहित गाते हैं और उस अनुपम गीत एवं मुरली ध्वनि को सुनकर सभी ग्वाल-बालों ने अत्यधिक प्रसन्न हो अपना सर्वस्व अर्थात् हृदय ही उनके चरणों में अर्पण कर दिया तथा उन्होंने, उन सबके चित्त को सुखदायी समझ, अपनी उपासना करने की आज्ञा दी और वे भी रूप के रंजित श्रीकृष्ण का दर्शन कर उनकी चरण-रज माँगने लगे।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद मे कवि ने कृष्ण के मुरली-वादन का वर्णन करते समय उनके मनोहारी स्वरूप का अलकारिक चित्रण भी किया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

पद ६७. मुरली के बस स्याम भये री

अवतारणा—ज्यों-ज्यों कृष्ण मुरली से अधिक अनुराग करने लगे त्यों-त्यों गोपिकाओं के हृदय में उसके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न होने लगी और उन्हें कृष्ण का हमेशा मुरली लिए रहना सहन नहीं हो सका। इस प्रकार प्रस्तुत पद में एक रूपगर्विता गोपांगना कृष्ण द्वारा उपेक्षित होने पर अपना सारा क्रोध मुरली पर उतार रही है।

शब्दार्थ—बस—आधीन। निनारी—अलग। रंग रए—रंग मे रंगे हुए दाहति—जलाती है। निदरि—निरादर करके, तिरस्कार करके। हरि को मुँह पाये—कृष्ण का रुख देख कर।

भावार्थ—कृष्ण द्वारा उपेक्षित एक व्रजबाला कह रही है कि कृष्ण तो अब मुरली के आधीन हो गये हैं और उसे जरा देर के लिए भी अपने से अलग नहीं करते तथा उसी के रंग मे रंग गये है जब कि वे हमें तो जरा देर के लिए भी अपना स्नेह नही प्रदान करते। साथ ही उन्हें उस मुरली के पीछे अपने शरीर की तनिक भी सुधि-बुधि नहीं रहती क्योंकि उसे बजाते समय वे इतना अधिक तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें अपने शरीर का तनिक भी ध्यान

नहीं रहता। उस गोपांगना का कहना है कि न जाने यह मुरली क्या करना चाहती है और इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसी बाँसुरी हमने कभी नहीं देखी-सुनी तथा यह बाँस की बनी वंशी संभवतः हमारा दिल जलाने के लिए ही है। (इस पंक्ति में बाँस शब्द प्रतीकात्मक भी है और उससे यह अर्थ लिया जा सकता है कि जिस प्रकार बाँस मुर्दा शरीर को जलाने के काम में आते हैं उसी प्रकार यह बाँस की बनी बाँसुरी गोपियों का हृदय जला रही है।) वह ब्रजबाला कह रही है कि इसने हमारा और कृष्ण दोनों का अपमान किया है तथा अभी कृष्ण को इससे प्रेम करते थोड़े ही दिन हुए लेकिन इसके अभी से ऐसे रंग-ढग है कि यह कृष्ण का रुख देखकर बड़े सुन्दर वचन बोलती है अर्थात् उनकी इच्छानुसार विविध राग-रागनियाँ उत्पन्न करती है। वस्तुतः गोपियो के चिढने का एक कारण यह भी जान पड़ता है कि बाँसुरी तो कृष्ण जैसा चाहते है वैसा ही करती है अर्थात् उनके इच्छानुसार ध्वनि उत्पन्न करती है अत वे अपने प्रियतम को जो अपने मनोनुकूल बनाना चाहती हैं वह संभव नही हो पाता।

पद ६८. मुरली नहिं करत स्याम अधरनि तें न्यारी

अवतारणा—कृष्ण के मुरली-प्रेम को देखकर एक गोपांगना के हृदय मे जो विचार उठे उन्हीं का इस पद में चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—न्यारी—अलग। बस्य पुहुमि सारी—सम्पूर्ण पृथ्वी वश मे हो जाती है। थावर—स्थावर, अचल। जंगम—चलने फिरने-वाला। स्वेद गए ह्वै पखान—पत्थर पसीज गये। डोंगर—टीला छोटी पहाड़ी। उकठे—उखड गये। भये पात—गिर गये। पाथर पर कमल जात—पत्थरों पर कमल जम गये। आरज पथ तज्यौ नात—आर्य पथ अर्थात् वेद मर्यादा का मार्ग एवम् मर्यादित सम्बंध छोड़ दिये। रीझें—प्रसन्न हुए। रव—ध्वनि, आवाज। सुखद धाम—आनंद का स्थान। जाम—याम, यामिनी।

भावार्थ—एक ब्रजबाला कह रही है कि कृष्ण एक पल के लिए भी मुरली को अपने अधरों से अलग नहीं करते हैं और उसे बजाते समय वे एक पैर से खड़े हो अपने शरीर को तीन जगह टेढ़ा कर लेते हैं अर्थात् त्रिभगी मुद्रा में हो जाते हैं बाँसुरी का स्वर ——— में चारों तरफ व्याप्त हो

जाने से सम्पूर्ण पृथ्वी ही उसके वश में हो जाती है और जो अभी तक स्थिर अर्थात् अचल था वह चल हो जाता है और जो चल था वह अचल। इसका अर्थ यह है कि बाँसुरी की ध्वनि पर सभी प्राकृतिक वस्तुएँ मुग्ध हो अपना वर्तमान रूप भूल जाती हैं। इतना ही नहीं नदी का प्रवाह भी विपरीत हो जाता है तथा वायु थक कर अपना चलना बंद कर देती है। वीतरागी मुनि-गण भी वंशी-ध्वनि सुन स्तंभित से रह जाते हैं और पत्थर तक पसीज उठते हैं तथा वृक्ष और पहाड़ियाँ भी चलने लगती हैं इसी तरह पशु-पक्षी अपनी सुधि-बुधि भूल जाते हैं, वृक्ष उखड़ कर धरती पर गिर पड़ते ह और पत्थरों पर कमल जम जाते हैं। इस प्रकार मुरली-वादन के पश्चात् सभी असंभव कार्य संभव हो जाते हैं और व्याकुल हो नर-नारी भी वेद विदित मार्ग का परित्याग करने लगते हैं। (यहाँ उन गोपियों की ओर संकेत किया गया है जो मुरली-ध्वनि सुनकर अपने परिजनों को त्याग कर श्रीकृष्ण के समीप पहुँची थीं।) सूरदास जी का कहना है कि मुरली-ध्वनि तो आनन्द का स्थान ही है और स्वयं श्रीकृष्ण भी उस पर रीझ कर उसे रात-दिन अहर्निश बजाया करते हैं तथा अपने से कभी भी अलग नहीं करते।

अलंकार—अतिशयोक्ति।

पद ६९. बासुरी बिधि हूँ ते परवीन

अवतारणा—प्रस्तुत पद में एक ब्रजबाला मुरली की तुलना ब्रह्मा से कर उसे विधाता से भी अधिक श्रेष्ठ मानती है।

शब्दार्थ—विधि—विधाता, ब्रह्मा। परबीन—प्रवीन, कुशल, चतुर। आहि—है। थापी—स्थापित की। थिरचर—स्थावर और जंगम। बिपुल—बहुत। बिभूति—ऐश्वर्य। चतुरानन—ब्रह्मा। थान—स्थान। जुगल—दो। मराल—हंस। अरोहन—चढ़कर, सवारी कर। प्रबल प्रसंस—बहुत प्रशंसनीय हो गया। ऐनु—भवन। ताग—यज्ञोपवीत।

भावार्थ—एक ब्रजबाला कह रही है कि कृष्ण की यह मुरलिका तो ब्रह्मा जी से भी बढ़कर चतुर प्रतीत होती है कारण कि उसके अतिरिक्त इस संसार में ऐसा कोई दूसरा नहीं है जिसने सम्पूर्ण जगत् को इस प्रकार अपने वशीभूत कर लिया हो। उसका कहना है कि विधाता तो केवल अपने चार

मुख से ही उपदेश देता है और स्थावर-जंगल जीवों के लिए ही नीति निर्धारित कर सका है लेकिन यह मुरली तो आठ मुखों से अभिमान के साथ गरजती है क्योंकि उसमें और ब्रह्मा में दुगुने का अंतर है इसलिए उसके सामने ब्रह्मा की नीति निभ नहीं सकती। (यहाँ मुरली के आठ मुखों से अभिप्राय उसके आठ छिद्रों से है।) इसी प्रकार एक कमल को अपना निवास-स्थान बना लेने पर ब्रह्मा ने संसार के महान् ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है परन्तु यह मुरली तो कृष्ण के दो करों (कमलों) पर विराजमान है अत: इसके अभिमान का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। केवल एक बार विष्णु भगवान् का उपदेश ग्रहण करने पर ब्रह्मा ने समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था लेकिन यहाँ तो विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण इसके नित्य कान भरा करते हैं अत: यह उनसे अधिक ज्ञानवान है। स्मरण रहे पुराणों के अनुसार कहा जाता है कि ब्रह्मा को विष्णु ने जब उपदेश दिया तब उन्हें समस्त वाङ्मय कंठस्थ हो गया अत: उस गोपिका के कहने का अभिप्राय यह कि केवल एक बार के उपदेश से जब ब्रह्मा को इतना ज्ञान हो सकता है तब बाँसुरी को तो उनसे अधिक ज्ञानी होना चाहिए कारण कि कृष्ण हमेशा इसके कान फूँकते रहते हैं। (कान फूँकने का अर्थ यहाँ बजाने से है।) वह गोपांगना पुन: कह रही है कि एक हंस की सवारी कर ब्रह्मा ने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की है परन्तु यह मुरली तो समस्त गोपीजनों के मानस-हंसों को अपना विमान बनाये हुए है अर्थात् उन पर सवारी किये हुए है और इस प्रकार इसने उनसे अधिक ख्याति पायी है। इतना ही नहीं जिन बैकुंठनाथ भगवान् विष्णु के चरणों की धूलि के लिए बैकुंठवासी तक लालायित रहते हैं उन्हीं के मुख को अपना सुखमय सिंहासन बनाकर वह विराजमान है अत: इसके सदृश्य सौभाग्यशालिनी दूसरा कौन हो सकता है। वह सम्मान तो ब्रह्मा को भी प्राप्त नहीं हुआ। (कतिपय प्रतियों में 'श्री बैकुंठनाथ पुरवासी' के स्थान पर 'श्री बैकुंठनाथ उरवासिनी भी पाठ है अतः उसका अर्थ श्री भगवान् विष्णु के हृदय में निवास करनेवाली लक्ष्मी जी होगा।) अत में ईर्ष्यावश वह गोपांगना उस मुरली के विषय में यह कहती है कि इसने तो कृष्ण का अधरामृत पान करके अपने कुल के नियमों को तज दिया है और फिर न तो इसके शिखा है और न यज्ञोपवीत ही अत इसे उच्चकुल की न

मानकर निम्नकुल की ही समझना चाहिए लेकिन इतना होते हुए भी यह समझ में नहीं आता कि आखिर कृष्ण को क्यों इससे इतना अधिक प्रेम है ?

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में मुरली की तुलना ब्रह्मा से कर उसे कई दृष्टियो से उनसे श्रेष्ठ माना गया है।

अलंकार—प्रतीप, व्याजस्तुति तथा तुल्योगिता ।

पद ७०. सजनी स्याम सदाई ऐसे

अवतारणा—चूँकि मुरलीवादन में तन्मय हो जाने के कारण कृष्ण गोपियो की परवाह नहीं करते थे अतः उनकी इस उपेक्षा से खीझ कर एक गोपी ने अपने जो विचार व्यक्त किए वे ही इस पद में अंकित हैं।

शब्दार्थ—सदाई—हमेशा । निठुर—निष्ठुर, निर्दयी । तकि—देखकर । वाके नेकु न भाए—उनको तनिक भी पसंद नहीं आता । जल वे डारत खाये—खाइयों में जल डालते हैं।

भावार्थ—एक गोपिका कह रही है कि श्याम हमेशा ही इसी प्रकार के रहे है अर्थात् वे हमें पूर्णतः प्रेम नहीं करते । हमारी तो उनके प्रति एकांगी प्रीति ही है अर्थात् हम तो उन्हें बहुत ही अधिक चाहती हैं चाहे वे हमें प्रेम करें या न करे । एकांगी प्रीति से अभिप्राय यहाँ एकपक्षी प्रीति से है और प्रेम के सम्बन्ध में कहा जाता है वह तभी अच्छा होता है जब दोनों ओर से किया जाय लेकिन गोपियों के कथनानुसार कृष्ण उन्हें उतना प्रेम नहीं करते जितना कि वे उनसे करती हैं इसीलिए इसे एकांगी प्रेम कहा गया । उदाहरण देते हुए वह गोपी कह रही है कि जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा से प्रेम करता है और उसके वियोग में अपने शरीर को नष्ट कर डालता है, लेकिन चन्द्रमा को उसकी किंचित मात्र परवाह नहीं होती; जल से प्रीति रखनेवाली मछली उससे बिछुड़ जाने पर वियोग में प्राण तक दे देती है परन्तु निष्ठुर जल पर इसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता; पतंग ज्योति को देखकर उससे मिलने जाता है और उस पर गिरकर भस्म हो जाता है पर उसे उसकी जरा भी चिंता नहीं होती, पपीहा रट-रट कर अपने प्राण गँवा देता है लेकिन स्वाति नक्षत्र के अतिरिक्त अन्य किसी नक्षत्र का जल नहीं पीता परन्तु बादल को उसकी तनिक भी

परवाह नहीं होती और वह चातक की प्यास तो बुझा नहीं पाता, हाँ खाइयों मे जल अवश्य डालता रहता है। इसी प्रकार कृष्ण भी न केवल इनके समान वलिक इन सबसे अधिक निर्दयी हैं तथा बाँसुरी भी उन्हें इसी प्रकार की मिली हे अतः इस प्रकार उन दोनों का मेल बहुत बढ़िया बन पड़ा है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में गोपियों के विरह-व्यथित मानस की झाँकी ही प्रस्तुत की गयी है।

पद ७१. मुरली हरि कौं नाच नचावति

अवतारणा—सूरदास ने मुरली को कृष्ण की सपत्नीक रूप में भी अंकित किया है और गोपिकाएँ तो कृष्ण के इस मुरली-प्रेम से स्वाभाविक ही चिढ़ सी उठी थी तथा उसे अपनी सौत समझने लगी थीं। प्रस्तुत पद में ब्रज-बालाओं ने मुरली को रूपगर्विता मानिनी नारी मानकर उसके सम्बंध में अपने हृदयोद्गार व्यक्त किये है।

शब्दार्थ—वस्य ऐसे ह्वै—इस प्रकार वशीभूत होकर। निदरै—निरादर करके। ग्रीव—गर्दन। रंध्र—छिद्र। रिस—क्रोध। डुलावत—हिलाते हैं।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही हैं कि यद्यपि यह मुरली कृष्ण को मन माने ढग से नचाती है लेकिन इतने पर भी उन्हें यह बहुत पसंद आती है और वे उसके वशीभूत होकर इस प्रकार खड़े हो जाते हैं कि उन्हें किसी भी प्रकार का वार्तालाप करने में संकोच होता है। वस्तुतः बाँसुरी बजाते समय एक विशेष मुद्रा में खड़ा होना पड़ता है और जब वह अधरों पर रहती है तब किसी भी प्रकार की बातचीत करने की सुविधा नहीं रहती अतः यहाँ गोपियाँ इसी को लक्ष्य कर कृष्ण पर यह व्यंग्य कर रही हैं कि वे मुरली के वशीभूत होकर ही यह सब करते हैं। उन ब्रजबालाओं का कहना है कि मुरली स्वयं कृष्ण की तनिक भी परवाह नहीं करती बल्कि उनका तिरस्कार सा कर उनसे अपनी आज्ञा का पालन करवाती है और उसे इसमें जरा सी भी लज्जा नही आती तथा जब वह यह समझ लेती है कि वे मेरे पूर्णतः वश में हो गये है तब वह उनकी गर्दन झुका उनके अधरों पर जा लेटती है और उनके चंचल कर कमलों से अपने रंध्र रूपी चरणों को दबवाती है। यहाँ मुरली बजाने की मुद्रा का चित्रण किया गया है और इस प्रकार गोपियों की सीझ इस

दृष्टिकोण से स्वाभाविक ही है कि कृष्ण उन्हें तो तनिक भी प्रेम नहीं करते जब कि वे मुरली के पूर्णत. वशीभूत हो गर्दन झुका कर उसके चरण दबाते हैं। वे ब्रजांगनाएँ कह रही है कि बाँसुरी हमारी ओर बड़ी क्रुद्ध दृष्टि से देखती है तथा कृष्ण की नासिका फूलने के बहाने हम पर अपना क्रोध प्रकट करती है और जब प्रसन्न होती है तब हर्ष के कारण अपना सिर हिलाने लगती है।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में गोपिकाओं की हृदगत् भावनाओं का बड़ा ही सुन्दर चित्रण हुआ है और मुरली-वादन की विभिन्न मुद्राओं को इस रूप में अंकित किया गया है कि इससे उन ब्रजबालाओं की क्षुब्धता स्वाभाविक ही प्रतीत होती है। यह पद सूर की चित्रोपम कल्पना का सुन्दर उदाहरण है।

पद ७२. मेरे दुख कौं ओर नहीं

अवतारणा—प्रस्तुत पद में मुरली स्वयं अपनी आत्मकथा कर रही है।

शब्दार्थ—कसकी नहीं—दर्द नहीं हुआ, कष्ट नहीं माना। घामैं—धूप में। अगिनि सुलाक देत—अग्नि द्वारा छिद्र किये गये। मुरकी—मुड़ी, हटी। बेह—छिद्र, रंध्र। जारि—जलाना।

भावार्थ—ब्रजबालाओं द्वारा सपत्नी भाव से ईर्ष्या करने पर मुरली स्वयं अपनी आत्मकथा कह रही है कि मैंने जितना कष्ट उठाया है उसकी कोई सीमा ही नहीं है और अनवरत कष्ट-साधना के पश्चात् ही मैं इस पद को प्राप्त कर सकी हूँ। प्रारंभ में मैं एक बाँस के वृक्ष के रूप में थी और शीत, ग्रीष्म तथा वर्षा आदि छहों ऋतुओं में मैं केवल एक पैर से खड़ी रही तथा जब मुझे काटा जाने लगा तब भी मैंने किंचित्-मात्र भी कष्ट का अनुभव नहीं किया अर्थात् अपनी इस विपत्ति में जरा सा भी दुख प्रकट नहीं किया। काटने के पश्चात् मुझे धूप में सूखने के लिए रखा गया (स्मरण रहे हरे बाँस को काटने के पश्चात् धूप में सूखने के लिए रखा जाता है) और फिर कालांतर में अग्नि द्वारा मुझमें छेद किये गये लेकिन मैं इतने पर भी विचलित नहीं हुई और इस प्रकार दग्ध कर छिद्र बनाते समय मैंने किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं की तथा सब कष्ट सहे मुरली गोपियो से कह रही है कि

तुम सब मुझे केवल बाँस की बनी हुई बाँसुरी समझकर जड़ एवं तुच्छ समझती हो लेकिन मैं तो अग्नि की छाप देकर आई हूँ अर्थात् अग्नि-परीक्षा देकर कठोर साधना में उत्तीर्ण हुई हूँ। कहते हैं प्रेम की यथार्थता परखने के लिए किसी समय अग्नि-परीक्षा का नियम प्रचलित था और शुद्ध प्रेम वाला व्यक्ति अग्नि-परीक्षा में सफल होता था अतः मुरली का अभिप्राय यह है कि उसके हृदय मे कृष्ण के प्रति गोपियों की अपेक्षा अधिक प्रेम है क्योंकि वह अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकी है। इस प्रकार सूरदास जी का कहना है कि मुरली उन ब्रजबालाओं से कह रही है कि तुम व्यर्थ ही मुझ पर क्रोध कर रही हो और यदि मेरे समान कष्ट तुम स्वयं भी सहन कर सको तभी मेरे पद को प्राप्त कर सकती हो।

अन्य विशेषताएँ—मुरली के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जो जितना अधिक कष्ट सहन करता है वह उतना ही महानपद प्राप्त करता है। स्मरण रहे आधुनिक काल के सुप्रसिद्ध साहित्यकार प्रसाद जी ने भी अपने नाटक 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' मे 'देवसेना' से कहलवाया है, "कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है।"

पद ७३. नहिं कोई स्यामहिं राखै जाइ

अवतारणा—श्रीमद्भागवत के अनुसार कंस ने जब यह सुना कि उसका बैरी गोकुल में उत्पन्न हो चुका है तब उसने उसे मारने के बहुत से उपाय किए परन्तु वह असफल ही रहा। अंत में जब वह अपने समस्त प्रयत्नों में विफल रहा तब उसने कृष्ण-बलराम को मथुरा लाने के लिए अक्रूर को गोकुल भेजा और उनसे कहलवाया कि मथुरा में बड़ा भारी उत्सव होने वाला है जिसमे भाग लेने के लिए नंद कृष्ण और बलराम सहित आएँ। अक्रूर ब्रज गये और उन्होंने कृष्ण से सब स्थिति स्पष्ट कर दी तथा कृष्ण ने मथुरा जाना स्वीकार कर लिया। जिस समय अक्रूर कृष्ण और बलराम को लेकर मथुरा जाने लगे उस समय समस्त ब्रजमंडल उनसे बिछुड़ने के कारण शोकाकुल हो उठा तथा माता यशोदा को तो अत्यधिक पीड़ा हुई। प्रस्तुत पद में इसी का हृदयस्पर्शी वर्णन है

शब्दार्थ सुफलक-सुत काहि किसको सुहाइ अच्छा लगे ठगोरी—मोहिनी मधुपुरी—मथुरा सूल—दुःख कष्ट पीड़ा

भावार्थ—जिस समय अक्रूर कृष्ण और बलराम को लेकर मथुरा जा रहे थे उस समय माता यशोदा ने कहा कि क्या इस समय समस्त ब्रजमंडल में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो कृष्ण को मथुरा जाने से रोक सके। चूँकि अक्रूर ही यशोदा के प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्र, कृष्ण को अपने साथ ले जा रहे थे अतः वे कहती हैं कि अक्रूर तो मेरे बैरी ही हो गये हैं जो कि मुझे मेरे पुत्र से विलग कर रहे हैं परन्तु कृष्ण के बिना यह आँगन, घर तथा गोकुल मुझे कैसे अच्छा लग सकता है क्योंकि जब पुत्र ही मेरे पास न रहेगा तब ये सभी वस्तुएँ मेरे लिए स्वाभाविक ही पीड़ावर्द्धिनी होंगी। इस समय समस्त गोपिकाएँ भी ठगी-सी खड़ी होकर कृष्ण और बलराम का मथुरा प्रस्थान देख रही हैं तथा उन दोनों को इस प्रकार विदा होते समय जी भर कर देखे बिना वे भला कैसे रह सकती हैं। सूरदास जी कह रहे हैं कि अक्रूर इस तरह सब के हृदय में पीड़ा उत्पन्न कर कृष्ण और बलराम को अपने साथ ले मथुरा को चले।

पद ७४. पाछे ही चितवत मेरे लोचन आगे परत न पाइ

अवतारणा—जब अक्रूर के साथ रथ पर बैठकर कृष्ण मथुरा चले गये तब गोपियों के हृदय में जो कारुण्य भावनाएँ उत्पन्न हुईं उन्हीं का वर्णन प्रस्तुत पद में किया गया है।

शब्दार्थ—पाछे—पीछे। उहलौं—उनके। पठै—भेजकर।

भावार्थ—जब कृष्ण रथ पर बैठकर अक्रूर के साथ चले गए तब एक ब्रजबाला कहने लगी कि जिस ओर कृष्ण गये हैं उसी ओर मेरे नेत्र भी लगे हुए है अर्थात् मैं उसी ओर देख रही हूँ। यद्यपि मैं घर की ओर लौट रही हूँ लेकिन मेरे पग आगे नहीं बढ़ रहे हैं और नेत्र भी सामने न देखकर पीछे ही देखते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि प्रियतम कृष्ण से बिछुड़ जाने पर उसे अत्यधिक पीड़ा हुई है और उसे घर लौटना रुचिकर नहीं लग रहा क्योंकि कृष्ण तो उन्हें विरह-वारिधि में निमग्न कर मथुरा चले गये हैं यह

गोपांगना पुनः कह रही है कि कृष्ण की मनोहर मूर्ति मेरा मन अपने साथ ही ले गयी है अतः मैं ब्रज लौटकर क्या करूँ। उसका कहना है कि मेरा मानव जन्म वृथा ही है क्योंकि मुझे आज अपने प्रियतम का वियोग सहन करना पड़ रहा है और यदि मैं वायु होती या फिर जिस रथ पर बैठकर कृष्ण गये हैं उसका ही कोई भाग होती या उस रथ की पताका ही होती तो उन्हीं के साथ चली जाती परन्तु मैं इनमें से कोई भी वस्तु न होने के कारण यहीं रह गयी। वह अपनी सखी से कह रही है कि यदि मैं धूल ही होती तो भी उनके चरणों से लिपट कर उन्हीं के साथ चली जाती और मुझे यह वियोग तो न सहन करना पड़ता अतः अब हे मेरी सखी तू मुझे यह बतला कि मैं इस प्रकार खड़ी-खड़ी क्या करूँ? मेरे तो यह समझ मे नहीं आ रहा कि कौन सा ऐसा उपाय किया जाय जिससे कि कृष्ण मुझे पुनः मिल जाएँ। सूरदास जी कह रहे हैं कि कृष्ण को मथुरा भेजने के पश्चात् समस्त ब्रज-बालाएँ शोक के कारण मुरझा गईं अर्थात् अत्यधिक दुःखी हुईं।

अन्य विशेषताएँ—प्रियतम से बिछुड़ने के पश्चात् स्वाभाविक ही प्रेमिका अपने निवास स्थान को लौट नहीं पाती कारण कि उसका मन तो उसके प्रिय की मोहिनी मूर्ति में रमा रहता है और प्रियतमा की हमेशा यही अभिलाषा रहती है कि वह सर्वदा अपने प्रेमी का सान्निध्य सुख प्राप्त करती रहे। इसीलिए प्रस्तुत पद में गोपिकाएँ कृष्ण से बिछुड़ने के पश्चात् यही सोचती हैं कि यदि वे पवन, रथ की पताका और रथ का कोई भाग या धूल ही होती तो उन्हें अपने प्रियतम का सान्निध्य सहज ही प्राप्त हो जाता।

पद ७५. फिर करि नंद न उत्तर दीनो

अवतारणा—अक्रूर के साथ जब कृष्ण और बलराम मथुरा गये थे तब नंद तथा अन्य गोप भी उन्हीं के साथ थे लेकिन कंस की मृत्यु के पश्चात् कृष्ण मथुरा से ब्रज वापिस नहीं लौटे और उन्होंने नंद को बड़े प्रेम से बहुत सी वस्तुएँ भेंट कर मथुरा से विदा किया परन्तु उन्हें कृष्ण को वहाँ छोड़कर गोकुल जाते समय बड़ा दुःख हो रहा था। प्रस्तुत पद में नंद की इसी करुणापूर्ण दशा का चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—फिर करि—फिर दुबारा। को जलपै—कौन उत्तर दे। काके पल लागे—किसको चैन पड़े। भुव—जमीन, पृथ्वी। पैठो—प्रवेश किया। कुलिस—वज्र।

भावार्थ—जब नंद गोकुल वापिस लौटने लगे तब उन्होंने कृष्ण को भी अपने साथ चलने के लिए कहा परन्तु उन्होंने वहाँ जाना स्वीकार नहीं किया और विभिन्न प्रकारों से नंद को समझाया। इसके पश्चात नंद ने उन्हें कोई भी उत्तर नहीं दिया और पुत्र वियोग के कारण उनका रोम-रोम करुणापूर्ण हो गया तथा कृष्ण के इन वचनों को सुनकर वे चित्रलिखित से स्तंभित खड़े रहे। कृष्ण ने पुन: कहा कि यह तो परम्परा ही चली आयी है कि सुख-दुख तथा लाभ-हानि क्रम से आते-जाते रहते हैं अतः आपको भी इस समय शोकाकुल न होना चाहिए, और हमें अपना पुत्र ही समझ कर हम पर हमेशा कृपा बनाए रहिएगा। कृष्ण के इन वचनों को सुनकर नंद मूक हो गये तथा उनका हृदय दु:ख से भर गया और कंठ शोक के कारण अवरुद्ध हो गया। सूरदास जी कह रहे हैं कि ऐसी स्थिति में भला कौन उत्तर दे सकता है या कुछ बोल सकता है और कौन ऐसा है जिसे चैन पड़ सकती हो अत नंद ने भी कृष्ण को देखकर चुपचाप अपना सिर झुका लिया। वस्तुत: यहाँ नंद के सिर झुकाने का अभिप्राय यह है कि कोई भी पिता यह कभी नहीं चाहता कि उसका पुत्र दु:खी हो और वह अपना दु:ख भी उससे छिपाना चाहता है अत: नद ने अपना सिर नीचे इसलिए झुका लिया जिससे कि कृष्ण उनकी शोकाकृति को देख कर स्वयं न दु:खी हो जायं।। कवि का कहना है कि गोकुल लौटते समय नंद को इतना कष्ट हो रहा था कि आधा पग भूमि भी उन्हें करोड़ों पर्वतों के समान दुर्लंघनीय जान पड़ती थी और वे बड़ी मुश्किल के साथ आगे बढ़ रहे थे तथा कठोर वज्र के समान पुत्र वियोग को उन्हें सहन करना पड़ा।

पद ७६. सखीरी स्याम सबै इक सार

अवतारणा—कृष्ण के गोकुल न लौटने पर गोपियों को अत्यधिक पीड़ा हुई और उनका हृदय इतना अधिक शोकपूर्ण हो गया कि उन्हें अब सभी काली वस्तुएँ कष्टदायक प्रतीत होने लगीं। प्रस्तुत पद में गोपियों की इसी विरहावस्था का चित्रण किया गया है

शब्दार्थ—इकसार—एक समान । सुहाये—सुहावने, रुचिकर । कुरंग—हिरण । चटसार—पाठशाला । लिलार—भाग्य । नाँपि आवै—बीच में ही छोड़ आती है ।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही हैं कि काले रंग वाले सभी एक समान ही होते और वे बाहर से तो बड़े ही मृदुभाषी प्रतीत होते हैं लेकिन अन्दर से हृदय को जलानेवाले ही होते हैं अर्थात् उनका कार्य दूसरों को पीड़ा पहुँचाना ही रहता है । भ्रमर, हरिण, कौआ और कोयल ये सभी कपटियों की पाठशाला में पढ़े हुए ही जान पड़ते हैं तथा इनका काम दूसरों के जी को जलाना ही रहता है। ब्रजबालाओं का कहना है कि कृष्ण जब से मथुरा चले गये है तब से सब आमोद-प्रमोद ही समाप्त हो गया लेकिन इसमें किसी दूसरे का दोष नहीं है क्योंकि ब्रह्मा ने जो कुछ भाग्य में लिखा है वह तो अवश्य ही होता है साथ ही भ्रमर, कौआ, हरिण और कोयल के कार्य तो उनके स्वभावानुकूल ही हैं तथा इनके सम्बंध मे तो प्राचीनकाल से ही कुछ निश्चित तथ्य प्रचलित हैं कि ये सब बड़े स्वार्थी होते हैं । गोपियों का कहना है कि इतना ही नहीं यह काली घटा भी इन्हीं के समान दूसरों का जी जलानेवाली ही है कारण कि यह भी उमड़ कर आती है और वर्षा-ऋतु में अत्यंत प्रेम बढ़ाकर नदी, तालाब आदि को तो जल से भर देती है लेकिन बेचारे चातक को तो निराश ही रखती है और वह बिचारा चिल्लाता रह जाता है । इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार काली घटा सारे संसार के लिए आनन्द-दायक हो सकती है लेकिन चातक को संतुष्ट नहीं कर सकती क्योंकि वह स्वाति नक्षत्र में ही बरसा हुआ जल पीता है उसी प्रकार गोपियों की भी दशा है कारण कि कृष्ण भले ही सम्पूर्ण संसार को आनद प्रदान करने वाले हों परन्तु वे गोपियों के प्रति तो निष्ठुरता ही धारण किए हुए हैं ।

पद ७७. परेखौ कौन बोल कौ कीजै

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियों की विरहावस्था का चित्रण किया गया है ।

शब्दार्थ—परेखो—पीछे सोचना । नाहिन—नहीं है । पुहुपन के—पुष्पों के । वल्लभ—प्रियतम । विसरयो—भुला दिया, विस्मृत किया । सुख नातो सुख का सम्बध- प्रेम सम्बंध । सगाई—सम्बध लगाव

के बिना एक पल भी नही रह सकती। वे कहती हैं कि जिस समय मैं मोहन के खाने योग्य मक्खन देखती हूँ तो मेरे हृदय में अत्यधिक पीड़ा होती है और मैं यह सोचने लगती हूँ कि आखिर वह सौभाग्यशाली दिन फिर कब आयेगा जब मैं रात-दिन कृष्ण को अपनी छाती से लगाकर उन्हें लड्डू खिलाऊँगी और बालविनोद के गीत गाऊँगी। यशोदा का कहना है कि जिनके दर्शनों की अभिलाषावश ऋषि-मुनि ध्यान लगाते हैं तथा शिव भी अपने अंगों में भस्म लगाते हैं अर्थात् तपस्या करते हैं उसी ने बालक रूप में अवतरित होकर अपने आपको ऊखल में बँधा लिया था लेकिन मैं भी कितनी कठोर हृदय की थी जो कि मैंने अपने पुत्र को इतना कठोर दंड दिया। यशोदा कह रही हैं कि अब कृष्ण के वियोग में ब्रज का हृदय फट क्यों नहीं जाता और उन कमल सदृश्य नेत्र वाले कृष्ण के बिना इस ब्रजभूमि में भला कैसे रहा जा सकता है।

अन्य विशेषताएँ—मातृहृदया यशोदा का यह विलाप अत्यधिक स्वाभाविक है और इसमें उनकी मानसिक भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप देने में कवि पूर्ण सफल रहा है।

अलंकार—स्मरण।

पद ७९. बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं

अवतारण।—विरहावस्था में वे सभी वस्तुएँ अत्यधिक शोकप्रद प्रतीत होती हैं जो संयोग के समय रुचिकर लगती थीं। अतः कृष्ण के मथुरा में स्थायी रूप से रह जाने के पश्चात् गोपियों को प्रिय-वियोग तो सहन करना ही पड़ा लेकिन उन्हें ब्रज के कुंजों को देखकर अत्यधिक पीड़ा होने लगी और इस प्रकार कवि ने प्रस्तुत पद में उनकी इन्हीं शोकपूर्ण भावनाओं का चित्रण किया है।

शब्दार्थ—विषम—कठिन। अनल—अग्नि। पुंजैं—समूह। वृथा—व्यर्थ। खग-रौ—पक्षियों का रव या ध्वनि। घनसार—कपूर। दधि-सुत-किरण—चंद्रमा की किरणें। भुँजैं—झुलसाने वाली। मदन—कामदेव। मग जोवति—रास्ता देखते-देखते। अँखियन भईं धुंजैं—आँखों में धुंध छा गयी हैं, आँखें दृष्टि हीन हो गयी हैं।

भावार्थ—गोपिकाएँ कह रही हैं कि कृष्ण के बिना ये कुजें जिनमे हमने उनके साथ विहार किया था हमें शत्रु सदृश्य प्रतीत हो रही हैं क्योंकि जिस समय कृष्ण हमारे साथ थे उस समय हम उन कुंजों में उनके साथ विहार किया करती थीं और भाँति-भाँति के आमोद-प्रमोद भी करती थीं अत. वे हमे शीतल प्रतीत होती थीं लेकिन अब उनके वियोग के कारण हमें ये अग्नि-समूह जैसी लगती हैं कारण कि उन्हें देखकर हमें वे सुखद स्मृतियाँ याद आने लगती हैं और हमारा हृदय दुःख से परिपूर्ण हो जाता है। उन ब्रजबालाओ का कहना है कि यह यमुना जी व्यर्थ ही बह रही हैं तथा वृक्षों पर पक्षियों का कलरव भी वृथा ही है और कमल भी व्यर्थ फूले हुए हैं तथा भौंरे भी वृथा गुंजार कर रहे हैं क्योंकि जब प्रियतम ही पास नहीं हैं तब ये सब स्वाभाविक ही शोकप्रद प्रतीत होती हैं। गोपियाँ कह रही हैं वायु, पानी, कपूर, पुष्प तथा चंद्रमा की किरणें आदि शीतल वस्तुएँ भी अब हमारा हृदय जलाने के लिए सूर्य के समान उष्ण हो गयी हैं। हे उद्धव जी आप मथुरा जाकर कृष्ण से कह दीजिएगा कि कामदेव ने उनकी प्रेमिकाओं पर प्रहार कर उन्हें लुंज-अपाहिज कर दिया है अतः वे आकर उनकी रक्षा करें और उनके दर्शनों के लिए उनकी बाट जोहते-जोहते आँखे भी दृष्टिहीन सी हो गयी हैं अर्थात् उनमें धुँध छा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि इस विरहावस्था में भी गोपिकाओं को कामदेव सता रहा है अतः स्वाभाविक ही वे और भी अधिक व्यथित हो उठती हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद भ्रमरगीत सम्बन्धी है और इस प्रकार गोपिकाओ ने इसमें अपने हृदय की करुणापूर्ण भावनाएँ उद्धव के सामने प्रकट कर कृष्ण के पास अपनी वियोगजनित अवस्था का वर्णन भिजवाना चाहा है। प्रिय-वियोग में सुखदायक वस्तुओं का दुःखप्रद प्रतीत होना स्वाभाविक ही है।

पद ८०. नैनन नैनन की सुधि लीजै

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियों की विरहावस्था का चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—छीजै—दुर्बल। बारक—एक बार। पतियाँ—पत्र।

भावार्थ—ब्रजबालाएँ कह रही हैं कि हे कृष्ण अब आप अपने नेत्रों से हमारे नेत्रों की भी खबर लें अर्थात ब्रज आकर स्वयं ही यह देखिए कि आपके

वियोग में हमारी क्या दशा हो गयी है और इस प्रकार हमें अपने दर्शनों का सौभाग्य प्रदान करें। यहाँ नेत्रों की खबर लेने की बात अत्यंत स्वाभाविक प्रतीत होती है क्योंकि जब कृष्ण ब्रज में थे तब गोपिकाएँ यही चाहती थीं कि वे हमेशा उनके नेत्रों के सामने बने रहें लेकिन अब कृष्ण के मथुरा चले जाने से उनके नेत्र पिपासित ही रह गये। इसी प्रकार यह उक्ति कि कृष्ण स्वयं आकर अपने नेत्रों से गोपियों के नेत्रों को देखें अत्यंत भावात्मक है क्योंकि इसमें यह गूढ़ आशय निहित है कि प्रियतम जब अपनी प्रिया के शोकाकुल नेत्रों को देखेगा तब स्वाभाविक ही वह स्वयं भी करुणार्द्र हो उठेगा और फिर उसे पुनः मथुरा जाने की इच्छा न होगी। गोपियाँ कह रही हैं कि कृष्ण के वियोग में उनके साथ-साथ ग्वाल-बाल, गायें, बछड़े आदि सभी ब्रज के प्राणी दुखी हैं और दिन-प्रति-दिन क्षीण हो रहे हैं तथा हमारे नेत्रों से अश्रु-धारा बह रही है और उसमें समस्त ब्रज डूबा जा रहा है अतः आप आकर तुरन्त ही बचा लें अन्यथा हो सकता है, इस विरह-वारिधि में समस्त ब्रजमण्डल डूब जाय। गोपियों का कहना है कि आप कम-से-कम हमारी इतनी प्रार्थना तो सुनिए कि हमें एक बार तो अपने हाथ से पत्र लिख-कर भेज दें जिससे कि हमारे हृदय को संतोष मिले। इसका अभिप्राय यह है कि विरहावस्था में यदि प्रियतम का एक पत्र भी मिल जाय तो भी हृदय को यह संतोष दिया जा सकता है कि उसका प्रिय अभी तक उसकी याद करता है अतः गोपियाँ चाहती हैं कि कृष्ण कम-से-कम एक बार तो उन्हें पत्र अवश्य लिख दें। उनका कहना है कि हम अश्रु रूपी जलधारा में बही जा रही हैं और आपके चरण-कमलों का दर्शन ही वह नौका है जिसकी शरण लेने से हमारा उद्धार हो सकता है अतः आप अपने चरण कमलों की दर्शन रूपी नौका से हमारा उद्धार कर संसार में यश प्राप्त करें। सूरदास जी का कहना है कि गोपिकाएँ कह रही हैं कि हमें आपसे मिलने की आशा है और हम यही चाहती हैं कि आप एक बार ब्रज आकर अब हमें अपना दर्शन अवश्य दें।

पद ८१. हमको सपने हू में सोच

अवतारणा—इन पंक्तियों में गोपियों को किस प्रकार स्वप्न में भी चिन्ताएँ होने लगती है; इसीका वर्णन किया गया है।

शब्दार्थ—पोच—शिथिल।

भावार्थ—ब्रजबालाएँ कह रही है कि हमें तो अब स्वप्न में भी सोच होने लगता है तथा जब से कृष्ण का वियोग हुआ है तब से हमें रात्रि को नीद भी नहीं आती अतः स्वप्न देखना भी कम हो गया है और यदि कभी नीद आती भी है तो थोड़े समय के लिए ही आती है। गोपियाँ कह रही हैं कि उस दिन मुझे जरा देर के लिए निद्रा आ गयी तब मैं स्वप्न में क्या देखती हूँ कि कृष्ण मेरे पास आये और हँसकर बाँह पकड़ ली लेकिन यह नीद ही मेरी बैरिन हो गयी है क्योंकि पल भर में ही मेरी आँखे खुल जाने पर मैं देखती हूँ कि यह सब स्वप्न मात्र था। इसका अभिप्राय यह है कि गोपांगनाओं को यह भास ही नहीं हो पाया कि वस्तुतः वे स्वप्न देख रही हैं और इस प्रकार, स्वप्न को वे यथार्थ समझकर प्रियतम का सान्निध्य-सुख प्राप्त कर रही थीं परन्तु जाग्रत अवस्था में उन्हें स्वप्न का वह क्षणिक संयोग भी न प्राप्त हो सका अतः उनकी दृष्टि में नींद शत्रु के समान है जो कि प्रियतम के सान्निध्य सुख की कल्पना कराकर उन्हें फिर से विरह-वारिधि में डूबने के लिए छोड़ देती है। गोपिकाएँ पुनः कहती हैं कि जिस प्रकार चकई अपना ही प्रतिबिम्ब स्तब्ध जल में देखकर उसे चक्रवाक समझकर एकटक उसकी ओर देखती हुई संयोग सुख का अनुभव करने लगती है लेकिन अचानक ही हवा के चलने के कारण जल की स्तब्धता मिट जाने से वह प्रतिबिम्ब भी समाप्त हो जाता है और उसे यथार्थता का बोध होता है उसी प्रकार स्वप्न में हमें भी प्रियतम कृष्ण के दर्शनों का सुख मिल रहा था लेकिन नींद की स्तब्धता भंग होने पर हमारे स्वप्न का संयोग भी भंग हो गया है और हमें द्विगुणित पीड़ा होने लगी। इसलिए गोपियों का कहना है कि न केवल जाग्रत अवस्था में ही हमें व्यथा होती है बल्कि स्वप्न में भी हमें सोच होने लगता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में स्वप्न को संचारी भाव मानकर कवि ने गोपियो की आंतरिक भावनाओं का हृदयद्रावक चित्रण किया है। इसी प्रकार की भावधारा निम्नांकित सवैये में भी दृष्टिगोचर होती है—

> **पौढ़ हुती पलंगा पर मैं निसि ज्ञानऽ ध्यान पिया मन लाये।**
> **लागि गईं पलकैं पल सों पलु लागत ही पल में पिय आये।।**
> **ज्योंही उठी उनके मिलिबे कहँ जागि परी पिय पास न पाये।**
> **मौरन और तो सोय कै सोवत मैं सखि प्रीतम जागि गँवाये**

पद ८२. नैन सलोने स्याम हरि कब आवहिंगे

अवतारणा—प्रस्तुत पद में एक विरहिणी ब्रजबाला की मानसिक दशा चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—सलोने—सुन्दर, लावण्ययुक्त। आवहिंगे—आएँगे। राते राते—ल-लाल। सेज—शय्या। ढिग—पास। धाय—दौड़कर, शीघ्रता के साथ।

भावार्थ—एक वियोगिनी ब्रजबाला कह रही है कि सुन्दर नेत्रों वाले कृष्ण कब आएँगे और वृक्षों की शाखाओं पर जो लाल-लाल फूल फूले हुए वे मुझे कृष्ण के अभाव में अंगारों के समान झरते हुए मालूम पड़ते हैं। गोपांगना का कहना है कि मैं कृष्ण के बिना फूल बीनने नहीं जाऊँगी कि जब प्रियतम ही मेरे समीप नहीं है तब भला पुष्प-चयन की ही क्या वश्यकता है? इतना ही नहीं मैं यह शपथ खाकर कह सकती हूँ कि कृष्ण वियोग में वे फूल मुझे त्रिशूल के समान प्रहार करने लगते हैं कारण कि उन्हें देखकर मुझे प्रियतम कृष्ण की स्मृति हो उठती है। साथ ही जब कभी यमुना किनारे पनघट पर जाती हूँ तब मेरे नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती और इसके फलस्वरूप यमुना में बाढ़ आ जाती है तथा वह उमड़कर बहने ती है। इस प्रकार मेरे नेत्रों से इतने अधिक आँसू बहे हैं कि समस्त ब्रज-डल डूबा जा रहा है तथा यही अश्रुधारा ही वह शय्यारूपी नौका हो गयी है न पर चढ़कर मैं कृष्ण के पास जाना चाहती हूँ। गोपियों का कहना है कि रे प्राण अब निकलने ही वाले हैं अतः हे कुंजों में विहार करने वाले कृष्ण न ही आकर हमसे मिलो और हमें सांत्वना प्रदान करो।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद की शब्द-योजना बड़ी सुन्दर बन पड़ी है और कवि ार्थक शब्दों का प्रयोग करने पर पूर्ण ध्यान दिया है। अन्तिम पंक्ति में ा बिहारी' शब्द का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है क्योंकि इससे यह ट हो जाता है कि गोपियाँ कुंजों में विहार करने वाले कृष्ण की दर्शना-ाषिणी हैं।

पद ८३. देखियत कालिंदी अति कारी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में यह कल्पना की गयी है कि कृष्ण के वियोग में ा एक रुग्ण स्त्री की भाँति और भी अधिक काली दिखाई देती है।

पद ८२. नैन सलोने स्याम हरि कब आवहिंगे

अवतारणा—प्रस्तुत पद में एक विरहिणी ब्रजबाला की मानसिक दशा का चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—सलोने—सुन्दर, लावण्ययुक्त। आवहिंगे—आएँगे। राते राते—लाल-लाल। सेज—शय्या। ढिग—पास। धाय—दौड़कर, शीघ्रता के साथ।

भावार्थ—एक वियोगिनी ब्रजबाला कह रही है कि सुन्दर नेत्रों वाले कृष्ण ब्रज कब आएँगे और वृक्षों की शाखाओं पर जो लाल-लाल फूल फूले हुए हैं वे मुझे कृष्ण के अभाव में अंगारों के समान झरते हुए मालूम पड़ते हैं। उस गोपांगना का कहना है कि मैं कृष्ण के बिना फूल बीनने नहीं जाऊँगी क्योंकि जब प्रियतम ही मेरे समीप नहीं हैं तब भला पुष्प-चयन की ही क्या आवश्यकता है? इतना ही नहीं मैं यह शपथ खाकर कह सकती हूँ कि कृष्ण के वियोग में वे फूल मुझे त्रिशूल के समान प्रहार करने लगते हैं कारण कि उन्हें देखकर मुझे प्रियतम कृष्ण की स्मृति हो उठती है। साथ ही जब कभी मैं यमुना किनारे पनघट पर जाती हूँ तब मेरे नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है और इसके फलस्वरूप यमुना में बाढ़ आ जाती है तथा वह उमड़कर बहने लगती है। इस प्रकार मेरे नेत्रों से इतने अधिक आँसू बहे हैं कि समस्त ब्रज-मण्डल डूबा जा रहा है तथा यही अश्रुधारा ही वह शय्यारूपी नौका हो गयी है जिस पर चढ़कर मैं कृष्ण के पास जाना चाहती हूँ। गोपियों का कहना है कि हमारे प्राण अब निकलने ही वाले हैं अतः हे कुंजों में विहार करने वाले कृष्ण शीघ्र ही आकर हमसे मिलो और हमें सांत्वना प्रदान करो।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद की शब्द-योजना बड़ी सुन्दर बन पड़ी है और कवि ने सार्थक शब्दों का प्रयोग करने पर पूर्ण ध्यान दिया है। अन्तिम पंक्ति में 'कुंजविहारी' शब्द का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है क्योंकि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोपियाँ कुंजों में विहार करने वाले कृष्ण की दर्शना-भिलाषिणी हैं।

पद ८३. देखियत कालिंदी अति कारी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में यह कल्पना की गयी है कि कृष्ण के वियोग में यमुना एक रुग्ण स्त्री की भाँति और भी अधिक काली दिखाई देती है।

शब्दार्थ—कालिंदी—यमुना । बिरह जुर जारी—विरह रूपी ज्वर में दग्ध हो गयी है। प्रजंक—पर्यंक, पलंग। धरनि—धरती। चूर—चूर्ण। प्रस्वेद—पसीना। कच—बाल, केश। कूल—किनारा। पंक—कीचड़। मनुहारी—विनीत, दैन्यशीला।

भावार्थ—गोपीकाएँ एक पथिक से संदेशा भिजवाते हुए कह रही हैं कि तुम कृष्ण के पास जाकर कह देना कि तुम्हारे विरह रूपी ज्वर में जलने के कारण यह यमुना नदी और भी अधिक काली हो गयी है। यहाँ काली शब्द दुर्बलता का प्रतीक है अतः इसे यों भी कह सकते हैं कि कृष्ण के वियोग में यमुना भी दुर्बल होती जा रही है। उन ब्रजबालाओं का कहना है कि यमुना को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो असह्य ज्वर की उन्मत्त अवस्था के कारण वह पर्यंक से नीचे गिरकर धरती पर पड़ी हुई है और उठने वाली लहरें ही उसके शरीर की तड़पन हैं। यमुना के किनारे जो बालू का ढेर लगा हुआ है वह संभवतः विरह रूपी ज्वर के निवारणार्थ प्रयुक्त होने वाला चूर्ण है और उसका जल-प्रवाह देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका पसीना बह रहा है। साथ ही उसके तट पर उगी हुई कुस-काँस की घास ही मानो उसके रूखे-सूखे केश हैं तथा उसका कीचड़ ही मानो उस रोगिणी की मैली साड़ी है और उसके तट पर उड़ने वाले भँवरों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो यमुना की भ्रमित, दुखित और दीन मति ही भँवरों का रूप धारण कर उड़ रही है। रात-दिन चकई का बोलना ही मानो यमुना की पिय-पिय की रटन है और इससे ऐसा लगता है कि वह बहुत ही अधिक विनीत हो गयी है। इस प्रकार गोपियों का कहना है कि यमुना के समान ही हमारी दशा भी है अतः इससे यह समझ लेना चाहिए कि जब जड़ यमुना इस विरहावस्था में इतनी अधिक रुग्ण हो गयी है तब हम सब चेतन प्राणियों की क्या दशा होगी।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में यमुना को रोगिणी स्त्री के रूप में चित्रित कर गोपियों ने अपने विरह-व्यथित मानस की मर्मस्पर्शी झाँकी प्रस्तुत की है। स्मरण रहे कि कतिपय प्रतियों में इस पद की सातवीं पंक्ति का पाठ इस प्रकार भी मिलता है 'निसि दिन चकई वादि बकत अति फेन मनौं अनुहारी' अतः इसका यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि चकई के बोलने से ऐसा

प्रतीत होता है मानो उन्माद की दशा में यमुना कुछ बक रही है और उसका फेन उन्माद की दशा का फेन है।

अन्य विशेषताएँ—यह पद व्यंग्य साम्य का भी सुन्दर उदाहरण है। वस्तुतः व्यंग्य-साम्य का प्रयोजन सादृश्य या साधर्म्य उपस्थित करना न होकर अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत अनुभूति की व्यंजना करना होता है अतः इसमे बाहरी वस्तुओं की समता प्रायः नहीं होती और यदि होती भी है तो विश्रृंखल। इस प्रकार इस पद में यमुना का वर्णन ज्वर में पड़ी हुई नारी के रूप में किया गया है तथा सांग रूपक द्वारा ज्वर के विभिन्न अवयव—तड़पन, उपचार, मलिन वस्त्र उपमान रूप में प्रस्तुत किये गये हैं लेकिन वास्तविकता तो यह है कि इस रूपक में कालिन्दी उपमेय नहीं है बल्कि गोपियाँ ही उपमेय हैं जो कि विरह-ज्वर से पीड़ित है।

अलंकार— रूपक और उत्प्रेक्षा।

पद ८४. किधौं घन गरजत नहिं वहि देसनि

अवतारणा—वर्षागमन के फलस्वरूप विरह-व्यथित गोपियों के मानस में जो भावनाएं उत्पन्न हुई उन्हीं का इस पद में वर्णन किया गया है।

शब्दार्थ—बरज्यो—मना कर दिया, रोक दिया। दादुर—मेंढक। सेसनि—सर्पों ने। बकन—बगुलों ने। मग—रास्ता, पथ। पिक—कोयल।

भावार्थ—चूँकि वर्षा ऋतु को कामोद्दीपक कहा जाता है अतः गोपियों का कहना है कि क्या उस देश में जहाँ कृष्ण रहते हैं बादल नहीं गरजते हैं। इसका अर्थ यह है कि मेघों के गरजने से स्वाभाविक ही प्रिय के अभाव में व्यथा और भी अधिक बढ़ जाती है अतः बादलों को गरजता हुआ देखकर गोपियाँ यह कह रही है कि जहाँ कृष्ण रहते हैं वहाँ भी यदि ये बादल गरजते तो स्वाभाविक ही उन्हें गोपियों की याद आती और वे ब्रज आए बिना नहीं रहते लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि वे वहाँ नहीं गरजते हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि कहीं स्वयं कृष्ण ने ही तो इंद्र को इस बात के लिए नहीं कह दिया कि बादल मथुरा पर न गरजें। इसी प्रकार जो मेंढक यहाँ शोर कर रहे हैं शायद मथुरा में उन्हें सर्पों ने खा लिया है तभी वहाँ मेंढक भी नहीं दिखाई पड़ते और इसी प्रकार वहाँ बगुलों ने भी जाना छोड़ दिया है और धरती में वर्षा की एक बूंद भी प्रविष्ट नहीं हुई। साथ ही वहाँ मोर, चातक और

कोयल को भी विशेष रूप से बहेलियो ने मार डाला है तथा सुन्दर वेश धारण कर बालक-बालिकाएँ भी वहाँ झूला नहीं झूलते और न सावन के सुहावने गीत ही गाते हैं। इस प्रकार वहाँ वर्षा-ऋतु के कोई चिह्न न प्रकट होने के कारण कृष्ण को हमारी याद नहीं आती और साथ ही वे जिस देश में हैं वहाँ कोई पथिक भी तो जाता नहीं दिखाई देता जिससे कि हम अपना संदेशा ही उनके पास भेज सकें। इस सम्पूर्ण पद का अभिप्राय यह है कि वर्षा ऋतु के मादक वातावरण में गोपियों की व्यथा प्रियतम कृष्ण के अभाव में द्विगुणित हो उठी है लेकिन उन्हें कृष्ण का कोई भी समाचार नहीं मिला और न उन्हें यही ज्ञान हो पाया कि आखिर कृष्ण भी कभी उनकी याद करते है अतः वे कल्पना कर रही हैं कि संभवतः कृष्ण जहाँ रहते है वहाँ वर्षा-ऋतु ने प्रवेश ही नही किया क्योंकि यदि वहाँ वर्षा-ऋतु का आगमन हुआ होता तो कृष्ण को गोपियों की याद अवश्य आती।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद विप्रलंभ शृंगार का सुन्दर कलात्मक उदाहरण है और साथ ही इसमें वर्षा-ऋतु का भी भावग्राही चित्रण हुआ है। आलम ने भी इसी का भाव ग्रहण कर निम्नांकित छंद लिखा है—

कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाज
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं, ए दई ?
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे
कैधौं बग पाँति उत अंतगति ह्वै गई ?
आलम कहै हो आली अजहूँ न आए प्यारे
कैधौं उत रीत विपरीत विधि ने ठई ?
मदन महीप की दुहाई फिरिबे ते रही
जूझि गए मेघ, कैधों बीजुरी सती भई ?

पद ८५. कराव रे ! सारंग स्यामहिं सुरति कराव

अवतारणा—प्रस्तुत पद में ब्रजबालाएँ चातक को सम्बोधित कर कह रही है कि वह प्रियतम कृष्ण के पास जाकर उन्हें उनकी स्मृति करवाए।

शब्दार्थ—सारंग—चातक, पपीहा। कराव—करा, कर। सुरति—याद। पै होहि—लेटे हों टेर शब्द करिया सवक

भावार्थ पावस ऋतु में पपीहे का पीउ-पीउ बोलता हुआ देखकर गोपियों को कृष्ण की याद आने लगी और इस पर उन्होंने उस चातक को सम्बोधित कर कहा कि वह कृष्ण के पास जाकर पीउ-पीउ बोलकर उन्हें हमारी याद दिलाए। वे ब्रजांगनाएँ उस चातक से कह रही हैं कि वह जहाँ कृष्ण लेटे हों वहीं जाकर उन्हें अपनी पीउ-पीउ की ऊँची ध्वनि सुनाए जिससे कि उनका ध्यान हमारी ओर आकृष्ट हो। गोपियों का कहना है, कि ग्रीष्म ऋतु व्यतीत हो चुकी है और अब वर्षा आ गयी है; इस प्रकार हम सबके हृदय में प्रियतम कृष्ण से मिलने की उत्कट अभिलाषा है तथा बिना कृष्ण के सब ब्रजवासी इस प्रकार जी रहे हैं जैसे बिना कर्णधार के नाव अतः अब इस डगमगाती नौका के खिवैया होने के कारण कृष्ण को शीघ्र ही आकर उन्हें इस विरह-सागर में डूबने से बचाना चाहिए। गोपिकाएँ कह रही हैं कि हे चातक तुम्हारा कहना कृष्ण अवश्य मान लेंगे अतएव तुम उन्हें चरण पकड़ कर यहाँ ले आओ और अबकी बार तो हमें हमारे प्रभु कृष्ण का दर्शन अवश्य करा दो।

अन्य विशेषताएँ—कहा जाता है कि चातक की पीउ-पीउ ध्वनि से हृदय में प्रिय की याद आ जाती है क्योंकि उसके स्वरों मे इतनी करुणा होती है कि वियोगी हृदय मिलन-सुख की प्राप्ति के हेतु उत्सुक हो उठता है। गोपियों ने भी पपीहे को इसीलिए कृष्ण के पास भेजना चाहा है जिससे कि वह कृष्ण के पास जाकर पीउ-पीउ बोल कर कृष्ण को ब्रजांगनाओं की सुधि दिला सके।

पद ८६. कोकिल हरि के बोल सुनाव

अवतारणा—वृंदावन में वसंतऋतु का आगमन होने पर गोपियों को कृष्ण की सुधि हो आयी अतः वे प्रस्तुत पद में कोयल से यह प्रार्थना कर रही हैं कि वह उनके प्रियतम कृष्ण को ब्रज ले आए जिससे उनकी मनोभिलाषा पूर्ण हो सके।

शब्दार्थ—उपटारि—हटाकर। जाचक—याचक, भिक्षा माँगने वाला। सुजस—सुयश, सुकीर्ति। बिसाहत—मोल लेना। औसर—समय।

भावार्थ—वसंतऋतु में कोयल की मधुर ध्वनि सुनकर गोपिकाएँ उससे

कह रही ह कि हे कोयल यदि तुझ कुछ सुनाना ही हे नो तू हमे कृष्ण के बाल सुना . वस्तुत वियोगावस्था मे भी प्रमी प्रिय के सम्बध मे ही सोचता रहता है और उसकी वाणी सुनने के लिए लालायित रहता है अतः गोपियो के कहने का अभिप्राय यह है कि कोयल यदि कुछ कहना ही चाहती है तो वह हमे कृष्ण के समाचार बतलाए जिससे कि हम यह तो जान सके कि आखिर हमारा प्रियतम इस समय किस दशा में है। वे उस कोयल से यह भी कहती है कि वह कुछ ऐसा प्रयत्न करे जिससे कि कृष्ण का मन मथुरा से उचट जाय और इस प्रकार वह उन्हें यहाँ ले आए। गोपिकाओं का कहना है कि बुद्धिमान लोग याचक को शरण देकर उसे तन-मन-धन तथा सब कुछ देने को प्रस्तुत रहते हैं अतः यदि कोयल कृष्ण के बोल हमें सुना देगी नो हम भी उसे सुयश प्रदान करेंगी इसलिए वह मीठे वचन बोल कर कीर्ति क्यों नही प्राप्त करती ? इस पंक्ति के सम्बंध में यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि यद्यपि कोयल को मीठे वचन बोलने वाली कहा जाता है लेकिन उसके सम्बंध में यह भी प्रसिद्ध है कि वह अत्यंत स्वार्थी है अतः गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कोयल उनकी मनोभिलाषा पूर्ण कर देती है तो फिर वह भी परोपकारिणी कहलाएगी। गोपियों का कहना है कि बुद्धिमान व्यक्तियो का यही कार्य है कि वे परोपकार करते हैं और वृंदावन में ऋतुराज वसंत का आगमन होने के कारण अब संयोग का इससे अधिक उपयुक्त अवसर कौन हो सकता है इसलिए यदि कोयल कृष्ण को यहाँ ला सके तो निस्संदेह वह परोपकार ही करेगी।

पद ८७. सिखिन सिखर चढ़ि टेर सुनायो

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने वर्षा-ऋतु का अलंकारिक चित्रण किया है।

शब्दार्थ—सिखिन—मोर। सिखर—चोटी। पावस—वर्षा। बानैत—बाण चलाने वाले सिपाही। ताजी—घोड़ा। चुटकि दिखायो—चपलता दिखा रहें हैं। सेल—बर्छी, भाला। निसान—धौंसा, नगाड़ा। मारू—युद्ध मे गाया जानेवाला एक राग और गीत। सुभट—योद्धा। त्रास—कष्ट।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि वर्षारम्भ होने के पूर्व मयूरो ने सिखरों पर चढ़ कर अपनी टेर सुनायी कि हे वियोगिनी

हो गयी क्योंकि तुम्हें पराजित करने के लिए पावस ऋतु अपनी सेना सजा कर आ रही है। इसका अभिप्राय यह है कि पावस ऋतु में कामोद्दीपन होता है जिससे कि विरह व्यथित प्राणियों को अत्यधिक पीड़ा होती है इसलिए वर्षागमन के पूर्व ही मयूर विरहिणी ब्रज-बालाओं को इस बात के लिए सावधान कर रहे हैं कि पावस अपनी पूर्ण तैयारी के साथ आ रही है। वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि नये-नये बादल कुशल योद्धाओं की भाँति सजे हुए पवन रूपी अश्व पर सवार होकर अपनी चपलता दिखा रहे हैं तथा आकाश में चमकती हुई विद्युत् ऐसी प्रतीत होती है मानो योद्धाओं के हाथ की तलवारें चमक रही हों और मेघों की गरज युद्ध में बजने वाले नगाड़ों की आवाज के समान है। साथ ही बगुले, चातक, कोयल, मोर और चकोर के शब्द ही युद्ध के समय गाये जाने वाले ओजस्वी मारू राग के सदृश्य हैं तथा प्रसिद्ध योद्धा कामदेव भी (जिसका निशाना हमेशा अचूक होता है) अपने हाथों में धनुष और पंचबाण लेकर ब्रज पर आक्रमण कर रहा है और उसने यह भली-भाँति जान लिया है कि नंदनंदन कृष्ण इस समय ब्रज में नहीं हैं अतः गोपांगनाओं को भयभीत किया जा सकता है। ब्रजबालाएँ कह रही हैं कि इन सबके द्वारा इस प्रकार सतायी जाने पर भी हमारे तन में जो प्राण बच रहे हैं वह केवल कृष्ण के पूर्वगुणों की याद करके ही, इसलिए यदि वे पुनः उनकी रक्षा कर सकें तो उनके प्राण बच सकते हैं अन्यथा उनका बचना मुश्किल ही है। पूर्वगुणों का अर्थ यह है कि कृष्ण ने ही एक बार इन्द्र के कोप से ब्रजवासियों की रक्षा की थी और अब कामदेव ने भी उन पर आक्रमण कर दिया है अतः इस अवसर पर कृष्ण ही उनके एक मात्र उपयुक्त अवलम्ब हैं।

टिप्पणी—कामदेव के पाँच बाण इस प्रकार कहे जाते हैं—पाटल, चम्पा, केवड़ा, कमल, तथा आम का बौर। कहीं-कहीं उनके नाम इस प्रकार भी दिए गये हैं—बंधूक, मधूक, नील कमल, तिल और कुंद।

अलंकार—सांग रूपक।

पद ८८. कोऊ बरजो री या चंदहिं

अवतारणा—विरहिणी ब्रजबालाओं को चंद्रमा भी रुचिकर नहीं लगता

क्योंकि वह उनके हृदय मे कामोद्दीपन करता है अत. प्रस्तुत पद मे राधा एक गोपी से प्रार्थना कर रही है कि वह चंद्रमा को उसके सामने से हटा दे।

शब्दार्थ—बरजो—रोको, अलग करो, हटाओ। कुहू—अमावस की रात्रि। तमचुर—मुर्गा। बलाहक—बादल। सैल—(मंदराचल) पर्वत। उदधि—समुद्र। श्रीपति—विष्णु। कमठ—कच्छप, कछुआ।

भावार्थ—राधा कह रही हैं कि कोई इस कामोद्दीपन करनेवाले चंद्रमा को मेरे सामने से हटा कर अन्यत्र ले जाय क्योंकि यह मेरे हृदय की विरह-भावना को और भी अधिक बढ़ा रहा है। यह हम पर तो अत्यंत क्रोध करता है लेकिन कुमुदिनियों को अतिशय आनंद प्रदान करता है अर्थात् उसके प्रकाश मे कुमुदिनी पुष्प तो खिल उठता है लेकिन विरहिणियों को तो यह पीडित ही करता है। राधा कह रही हैं कि अमावस की रात्रि, वर्षा-ऋतु, सूर्य, मुर्गा और काले बादल कहाँ चले गये हैं जो इस चंद्रमा को स्वच्छंद प्रकाश करने का अवसर मिल गया। वस्तुत: राधा के कहने का अभिप्राय यह है कि इन वस्तुओं के सामने चंद्रमा प्रकाश नहीं दे पाता अतः यदि इनमें से कोई भी वस्तु चन्द्रमा को छिपा ले तो उन्हें शांति प्राप्त होगी और वे चैन से रह सकेंगी। राधा का कहना है कि यह चन्द्रमा तीव्रगति से भी नहीं चलता क्योंकि यदि वह तेज गति से चले तो शीघ्र ही उनकी दृष्टि से दूर हो जाएगा लेकिन यह तो अपने रथ को स्थिर किए हुए है और हमारे शरीर को जला रहा है। वे कहती हैं कि हम तो मंदराचल पर्वत, समुद्र, शेषनाग, विष्णु तथा कठोर पीठवाले कच्छप की भी निंदा करती हैं क्योंकि उन सबके पारस्परिक सहयोग से ही चन्द्रमा उत्पन्न हुआ था। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि पौराणिक कथाओं के अनुसार सागर-मंथन के समय मंदराचल पर्वत की मथानी, शेषनाग की रस्सी और कमठ की पीठ को मथानी का आधार बनाया गया था तथा समुद्र के मथने पर ही उससे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ था अतः राधा उन सब की निन्दा इसीलिए कर रही हैं क्योंकि यदि चन्द्रमा उत्पन्न न हुआ होता तो आज उन्हें पीड़ा भी न होती। राधा कह रही हैं कि हम मगध की जरा देवी को आशीर्वाद देती हैं और चाहती हैं कि वह राहु तथा केतु को जोड दे जिससे कि वे दोनों मिलकर चन्द्रमा को समूचा निगल जायँ। राधा कह रही हैं कि जल से विहीन मछली की जो दशा होती है वही हमारी सब ब्रज

बालाओं की भी है और हम सब कृष्ण के वियोग में तड़प रही हैं तथा मन-ही-मन यही प्रार्थना करती हैं कि हमें कोई शीघ्र ही मदनमोहन गोपाल से मिला दे।

टिप्पणी—पौराणिक कथाओं के अनुसार जरा एक राक्षसी थी जिसने मगध के राजा बृहद्रथ के पुत्र के आधे-आधे शरीर को संयुक्त कर जीवित कर दिया था और इसीसे उसका नाम जरासंध पड़ा। इस प्रकार राधा के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि जरा राहु और केतु दोनों को जोड़ दे तो वे चन्द्रमा को पूर्ण रूप से निगल जायेंगे। स्मरण रहे कि समुद्र-मंथन के पश्चात् जब अमृत बाँटा जा रहा था तब राहु ने देवताओं की पंक्ति में बैठकर धोखे से अमृत पी लेना चाहा था लेकिन चन्द्रमा ने यह बात विष्णु से कह दी अतः उन्होंने अपने चक्र द्वारा उसका सिर धड़ से अलग कर दिया लेकिन अमृत की कुछ बूँदें पी जाने के कारण वह जीवित ही रहा, इस प्रकार उसका सिर राहु तथा धड़ केतु कहलाया। कहते हैं वह तभी से चन्द्रमा का बैरी है और उसे एक विशेष पर्व में निगल जाता है लेकिन धड़विहीन होने के कारण चन्द्रमा को विशेष हानि नहीं होती। यदि केतु भी उसके साथ संयुक्त हो जाय तो स्वाभाविक ही फिर वह चन्द्रमा को समूचा निगलने में सफल हो जाएगा।

अलंकार—अतिशयोक्ति और उपमा।

पद ८९. काहे को पिय पियहिं रटति हौ………

अवतारणा—प्रस्तुत पद में एक ब्रजांगना अपनी सखी को यह समझा रही है कि वह बार-बार पिय-पिय न रटे।

शब्दार्थ—सूल—दुःख, पीड़ा, कष्ट। छाल सुगंध—सुगंधित पदार्थ। पुहुपावलि—पुष्प की शय्या। बदन—मुँह। दुराई—छिपाकर। निसापति—चंद्रमा।

भावार्थ—कृष्ण के वियोग में व्यथित एक गोपांगना को 'पिय-पिय' पुकारती हुई देखकर उसकी सखी उसे समझाती हुई कह रही है कि तू क्यों बार बार पिय-पिय रट रही है; कहीं ऐसा न हो कि तू चिल्लाते-चिल्लाते ही मर जाय तथा तेरा प्रियतम कभी भी तुझे न प्राप्त हो अतः तुझे चाहिए कि तू अब पीउ-पीउ रटना बंद कर दे। वह पुनः कहती है कि तू अपने नेत्रों में बार-बार जल क्यों भर लेती है अर्थात इतने अधिक आँसू क्यों बहाती है और क्या

तू यह सोचती है कि इस प्रकार तेरे बार-बार नेत्रों में जल भर लेने से तुझे तेरा प्रियतम मिल जाएगा। इसी प्रकार तेरा बार-बार उच्छ्वासपूर्ण साँसे लेना भी व्यर्थ ही है क्योंकि इससे तेरी बियोगाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित हो उठेगी। सुगंधित पदार्थों का उपचार करने तथा पुष्पशय्या और हार आदि के स्पर्श से भी तेरी पीड़ा और भी अधिक बढ़ेगी तथा तूने जो हृदय पर हार धारण कर रखा है वह भी जल जाएगा। वस्तुतः संयोगावस्था में जो वस्तुएँ शीतल और सुखदायक प्रतीत होती हैं वियोगावस्था में वे ही पीड़ादायक जान पड़ती है इसीलिए उस गोपांगना का कहना है कि ये शीतल पदार्थ तुझे सुख प्रदान नहीं करेंगे। इसे यों भी कह सकते है कि गोपियों के हृदय की बिरहाग्नि इतनी तीव्र है कि वह शीतल पदार्थों को भी प्रज्वलित करने की क्षमता रखती है। इतना ही नहीं वह व्रजबाला पुनः कह रही है कि तू अपना मुख छिपाकर घर में बैठ क्योंकि चन्द्रमा पुनः उदय होने वाला है और यदि कहीं तूने शोकाकुल नेत्रों से उसे देख लिया तो वह भी तेरे वियोग से जलते हुए नेत्रों की ज्वाला में भस्म हो जाएगा।

अलंकार—अत्युक्ति।

पद ९७. नाहिनै व्रज नंदकुमार

अवतारणा—प्रस्तुत पद में नंदकुमार कृष्ण के अभाव में गोपियों की मानसिक दशा का चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—नाहिनै—नहीं हैं। प्रतिहार—द्वारपाल। रूप लकुट—सौंदर्य रूपी लाठी। अनुदिन—प्रतिदिन। भौन—भवन, घर। सिव रिपु—कामदेव। अटक—रोक, बाधा। अगार—मकान, भवन। अंस—प्राण शक्ति, बल। मूषत—चुराता है। सत सार—सार रूपी शक्ति। लटि—शिथिल।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही है कि आज व्रज में नंद के कुमार कृष्ण नहीं है लेकिन एक समय वह था जब कि अत्यंत चतुर, रूपवान और सुख के सागर कृष्ण इस शरीर के द्वारपाल थे तथा वे रूप की लाठी लेकर सर्वदा नेत्रों के द्वार पर इस शरीर रूपी मंदिर की रखवाली किया करते थे अर्थात् एकमात्र वे ही हमारे नेत्रों में समाए हुए थे। परन्तु अब उनके चले जाने से हृदय रूपी भवन में कामदेव ने अपना अधिकार कर लिया है अतः उनके वियोग के कारण इस शरीर रूपी गृह को खाली देखकर अत्यंत दुःख होता है

क्योंकि उसको किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि कामदेव गोपियों को व्यथित देखकर और भी अधिक पीड़ा पहुँचाता है। गोपियों का कहना है कि हृदय के अन्दर से निकलने वाली उच्छ्वास ही मानों शरीर का बल या प्राण-शक्ति है और इस प्रकार वियोगावस्था में उनका बल घटता जा रहा है। साथ ही रात्रि में पलक रूपी द्वार भी बंद नहीं होते अर्थात् आँखें खुली रहती हैं और विरह के कारण नींद ही नहीं आती फलतः चन्द्रमा आँखों की राह शरीर में प्रविष्ट होकर उसकी सार-शक्ति का हरण कर रहा है अर्थात् तन को और भी अधिक दुबला कर रहा है लेकिन केवल कृष्ण के आने की अवधि के सहारे और उसी लज्जा के कारण हमारे शिथिल प्राण शरीर से अलग नहीं होते। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण के आने की आशा से ही गोपियाँ जीवित हैं अन्यथा हो सकता था कि वे कब की मर जातीं।

अलंकार—रूपक।

पद ९१. हरि को मारग दिन प्रति जोवति

अवतारणा—प्रस्तुत पद में प्रतीक्षारत विरह-व्यथित गोपियों का चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—मारग—मार्ग, रास्ता। जोवति—देखती है। पठवति—भेजती है। मसि—स्याही। हिरानी—गुम हो गयी, खो गयी। खोवति—खो देती है।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि गोपियां नित्य कृष्ण के आने का रास्ता देखा करती हैं और जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा की ओर एकटक देखता रहता है उसी प्रकार वे भी उस मार्ग की ओर एकटक देखती हुई उनके गुणों का स्मरण कर रोया करती हैं। वे जब कृष्ण के पास अपना संदेशा भेजने के लिए पत्र लिखने बैठती हैं तब लिखते ही चली जाती हैं और स्याही खत्म नहीं होती परन्तु उनकी अश्रुधारा से वह पत्री भी धुल जाती है तथा ऐसा प्रतीत होता है मानो वे स्वयं बार-बार पत्र लिखती हैं और स्वयं बार-बार उसे धो डालती हैं कारण कि विरहावस्था के कारण मानस की वास्तविक दशा को शब्दों में व्यक्त करना उनके लिए सहज नहीं प्रतीत होता कृष्ण के

वियोग में न तो उन्हें दिन को भूख ही लगती है और न रात्रि में निद्रा ही आती है अर्थात् वे एक पल के लिए भी सो नहीं पाती। इस प्रकार कृष्ण के दर्शनों के बिना वे अपने इस जन्म के सुखों को व्यर्थ ही खो रही हैं।

पद ९२. अन्तरजामी कुँवर कन्हाई

अवतारणा—यह पद मथुरापुरी से कृष्ण द्वारा उद्धव को ब्रज भेजने से सम्बंधित है।

शब्दार्थ—अन्तरजामी—हृदय की बात जानने वाले। आनि दिए—ला दिए।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि कुँवर कृष्ण सबके हृदय की बात जानते है इसलिए सांदीपनि गुरु के यहाँ पढ़ते समय उन्हें ब्रजबासियों की स्मृति हो आयी। विद्याध्ययन करने के पश्चात् विदा के समय उन्होंने हाथ जोड़कर मुनि से जब यह कहा कि आप जो गुरु-दक्षिणा कहें सो मैं मँगा दूँ तब मुनि-पत्नी ने कहा कि हमारे मृतक पुत्र को तुम जीवित कर दो। श्रीकृष्ण ने तत्काल यमलोक से उनके पुत्र को ला दिया और इस पर गुरुदेव ने उन्हें आशीर्वाद दिया। इसके पश्चात् मथुरापुरी आकर कृष्ण ने उद्धव को ब्रजबासियों की खबर लेने के लिए ब्रज भेजा।

टिप्पणी—पौराणिक कथाओं के अनुसार सांदीपनि मुनि का पुत्र प्रभास तीर्थ में स्नान करते समय डूब गया था।

पद ९३. ~~हरि गोकुल की प्रीति चलाई~~

अवतारणा—प्रस्तुत पद सूरदास के 'भ्रमर गीत' के प्रारंभिक पदों में से है। श्रीमद्भागवत के अनुसार कंस-वध के पश्चात् कृष्ण का गर्गाचार्य जी के यहाँ उपनयन संस्कार हुआ और इसके बाद कृष्ण तथा बलराम दोनों ही उज्जैन में सान्दीपन् नाम के एक ब्राह्मण पंडित के यहाँ विद्याभ्यास के लिए भेजे गये। वहाँ से लौटने पर उन्हें ब्रज की याद आयी तथा उन्होंने अपने मित्र उद्धव को बुलाया और विरह-संतप्त माता-पिता एवं गोप-गोपियों को आश्वासन देने तथा कुशलक्षेम लेने के लिए उनके पास भेजा। प्रस्तुत पद में कृष्ण ब्रज की सुखद घड़ियों का स्मरण कर शोकाकुल हो रहे हैं।

शब्दार्थ—यह मन सदा विचार—मन मे सदा यही विचार उठता है

बन धाम — ब्रज के कुंज । ब्रज बाम — ब्रज बालाएं । अंतरसुख — आंतरिक-सुख । तनुबाम — व्याकुल तनवाली । दंभ — पाखंड, कपट, मिथ्याभिमान ।

भावार्थ — कृष्ण ब्रज के पूर्व सुखों की याद करते हुए कह रहे हैं कि संसार में ब्रज के समान सुख और कहीं नहीं है तथा मैं बारबार यही सोचता हूँ कि वृंदावन के वंशीवट एवम् यमुना के सदृश्य सुखदायी स्थान अन्यत्र कहाँ है और वृंदावन के धाम, राधिका-संग एवं ब्रजांगनाओं का सुखद सहवास भला कहाँ मिल सकता है ? कृष्ण कह रहे हैं कि रास के रूप का आंतरिक सुख एवं विह्वलतापूर्ण कोमलांगी गोपिकाओं के शरीर का सुखद स्पर्श भी भला अब कहाँ मिल सकेगा ! साथ ही वे लताएँ तथा प्रत्येक वृक्ष पर पड़े हुए हिंडोले और वन के बीच कुंजों के झुरमुट कहाँ हैं जिनमें कि मैं गोपियों के साथ विहार करता था तथा उस विरह का आनन्द भी भला अब कहाँ है जो कि ब्रजबालाओं के छिप जाने पर प्राप्त होता था और वे मन की इच्छाएँ कहाँ हैं ? कृष्ण कह रहे हैं कि मथुरा में तो हमें शुष्क हृदय वाले सखा उद्धव मिले हैं जिनके वचनों में क्रोधावेश ही प्रकट होता है अर्थात् जब जब मैं ब्रजबालाओं की याद करता हूँ और उन्हें वे सुखद घटनाएँ सुनाता हूँ जो कि गोकुल में व्यतीत हुई थीं तब तब वे सहानुभूति प्रकट करने की अपेक्षा हमें भलाबुरा ही कहते हैं । कृष्ण कह रहे हैं कि मेरा और उनका साथ कुछ विचित्र सा है क्योंकि कहाँ वे नीरस, शुष्क, ब्रह्मज्ञानी और प्रत्येक बात में ब्रह्म की ही चर्चा करनेवाले तथा कहाँ मैं सरस भक्ति से प्रसन्न होनेवाला अतः उनसे तो ब्रज की कथा वही कह सकता है जो उन्हीं की तरह दंभी या पाखण्डी हो ।

अन्य विशेषताएँ — इस पद का सैद्धांतिक महत्त्व भी माना जाता है क्योंकि पुष्टि मार्गी भक्ति के अनुसार कृष्ण का रास नित्य है और वृंदावन के वंशीवट में नित्य रासलीला हुआ करती है तथा प्रत्येक गोपी उसमें सम्मिलित होती है । यह नित्यलीला प्रलय के पश्चात् भी चलती रहती है और इसके दिव्यालोक से तीनों लोक आलोकित होते हैं अतः प्रस्तुत पद में कृष्ण का इस प्रकार विलाप करना भी लीला का ही अंग है कारण कि राधाकृष्ण का साथ कभी छूटता नहीं है परन्तु इस पद का साहित्यिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है । स्मरण रहे कि साहित्य में प्रोषितपतिका की विरहावस्था

का ही चित्रण विशेषरूप से किया जाता है और ब्रजभाषा के अधिकांश कवियों ने जितना अधिक ध्यान गोपियों या नायिकाओं की विरह-वेदना के चित्रण में दिया है उसका अंश मात्र भी कृष्ण या नायक की विरह-भावना के चित्रण में नहीं दिया। भक्ति-भावना की दृष्टि से चाहे उसे स्वाभाविक मान लिया जाए लेकिन प्रेम में तो तुल्यानुराग का आदर्श ही स्वाभाविक कहा जाएगा क्योंकि नायक-नायिका परस्पर एक दूसरे के भावों के आलम्बन होते रहे हैं। भक्तों के लिए ईश्वर परोक्ष हो सकता है लेकिन कृष्ण गोपियों के लिए परोक्ष नहीं थे और गोपियों का प्रेम सभी भाँति पूर्णता लिए हुए था तथा कृष्ण के हृदय में भी गोपियों के लिए असीम अनुराग था। इस प्रकार जहाँ गोपियों के अनुराग और विरह-वेदना की गंभीरता को दिखाना कवियों का उद्देश्य था वहाँ उनके लिए यह भी आवश्यक था कि वे कृष्ण के हृदय की प्रेमावस्था एवं व्याकुलता का चित्रण भी अवश्यमेव करे। प्रसन्नता की बात है कि सूर का यह पद तुल्यानुराग के इसी आदर्श को लिए हुए है अत इस दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। सेनापति जी ने भी इसी प्रकार अपने एक कवित्त में कृष्ण की विरह-वेदना का चित्रण किया है—

लोल है कलोल पारावार के अपार तऊ
जमुना लहरि मेरे हिय कौं हरति हैं।
सेनापति नीकी पटवास हूँ तैं ब्रज - रज
पारिजात हूँ तैं बन लता सरसति हैं॥
अंग सुकुमारी संग सोरह सहस रानी
तऊ छिन एक पै न राधा बिसरति हैं।
कंचन अटा पर जराऊ परजंक तऊ
कुंजन की सेजैं वे करेजे खरकति हैं॥

पद ९४. हरि गोकुल की प्रीति चलाई

अवतारणा—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने ब्रजभूमि के प्रति कृष्ण के हृदयानुराग का वर्णन किया है।

शब्दार्थ—उपंगसुत—उद्धव। बिसरत—भुला देना। जेंवहु—भोजन करो, खाओ।

भावार्थ—ब्रजभूमि के प्रति अपने हृदयानुराग को व्यक्त करते हुए कृष्ण उद्धव से कह रहे हैं कि हे मित्र मैं सुख देने वाले ब्रजवासियों को कभी भी भुला नहीं सकता और मेरे मन में ऐसी इच्छा होने लगती है कि मैं तुरन्त ही यहाँ से ब्रज चल दूं क्योंकि मेरा मन यहाँ बिल्कुल नहीं लगता है। कृष्ण कह रहे हैं कि मैंने गोपियों के साथ अनेक क्रीड़ाएँ कीं तथा ग्वाल-बालों के साथ बन में गायें चरायीं अतः उन्हें छोड़कर मथुरा आते समय मुझे अत्यंत दुःख हुआ। उनका कहना है कि न तो यहाँ वह मक्खन रोटी ही है और न उस प्रकार माता यशोदा का आग्रह के साथ खिलाना ही है। सूरदास जी कह रहे हैं कि कृष्ण के वचन सुनकर उद्धव जी हँसते हुए अपने नियम एवं मत की स्थापना करने लगे। इसका अर्थ यह है कि उद्धव निर्गुणोपासना और योग-साधना के समर्थक थे अतः उन्हें कृष्ण के विचार पसन्द नहीं आ रहे थे और इसीलिए उन्होंने उनसे कहा कि आप तो स्वयं परब्रह्म स्वरूप हैं तथा प्राकृतजनों की भाँति आपको इस प्रकार शोक करना शोभा नहीं देता।

टिप्पणी—सूरदास जी ने प्रस्तुत पद में भी तुल्यानुराग का आदर्श स्थापित कर कृष्ण के हृदय की प्रेमभावना एवं व्याकुलता का चित्रण किया है। मथुरा आकर कृष्ण ब्रजबासियों को भूल नहीं जाते बल्कि उन्हें उनकी याद आया करती है। बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी इसी प्रकार का वर्णन 'उद्धव-शतक' में किया है, देखिए—

कहत गुपाल माल मंजु मनि पुंजनि की,
गुंजनि की माल की मिसाल छबि छावै ना।
कहै रतनाकर कब रतन-मैं किरीट अच्छ,
मोर-पच्छ अच्छ-लच्छ-अंसहू सु-भावै ना॥
जसुमति मैया की मलैया अरु माखन की,
काम-धेनु-गोरस हू गूढ़ गुन पावै ना।
गोकुल की रज के कनूका औ तिनूका सम,
संपति त्रिलोक की बिलोकन मैं आवै ना॥

पद ९५. जबहिं चले ऊधो मधुबन तें गोपिन मनहिं जनाइ गई

अवतारणा—जब उद्धव मथुरा से वृन्दावन की ओर चले उस समय अज्ञात

रूप से गोपियो के हृदय मे स्वत क्या भाव जाग्रत हुए यही प्रस्तुत पद का विषय है।

शब्दार्थ—अनत कहीं—और कहीं।

भावार्थ—जिस समय उद्धव ने मथुरा से बृन्दावन की ओर प्रस्थान किया उस समय अज्ञात रूप से गोपियों के मन में कृष्ण-संसर्ग के किसी निकटस्थ व्यक्ति के आगमन की अन्तर्चेतना हुई। कवि कह रहा है कि गोपियों के कानो के पास भ्रमर आकर गुँजार करने लगे लेकिन वे हट-हट कर कान के पास से लगने लगे अतः उन्हें कुछ चिन्ता भी हुई। स्मरण रहे यह एक अंधविश्वास और शकुन विचार है कि भ्रमर का कान से लग कर गुनगुनाना सुख का सूचक है और हट-हट लगना चिन्ता उत्पन्न करने वाला है अतः उन्हे भँवरे का कान के पास आकर गुनगुनाना सुखकारी लगता है लेकिन चूँकि वह हट-हटकर उनके कानों से लगता है अतः उन्हें कुछ शंका भी होती है और उनके हृदय में सुख-दुख के भावों का परस्पर संघर्ष होने लगता है। कवि का कहना है कि इसी प्रकार कौए आकर गोपियों के घरों की मुँडेरों पर बैठ कर बोलने लगे अतः इससे उन्हें यह अनुमान तो हुआ ही कि कोई-न-कोई अतिथि आने वाला है लेकिन जब गोपियों ने उन्हें सम्बोधित कर यह कहा कि यदि कृष्ण आते हो तो वे उड़ जायँ तब वे उड़े नहीं अतएव इससे भी गोपियों को कुछ-कुछ शंका होने लगती है। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि घर की मुँडेर पर-कौए का बोलना किसी अतिथि के आने का सूचक समझा जाता है और सम्बोधन करने पर यदि वह उड़ कर दूसरे स्थान या घर पर बैठ जाय तो अभीष्ट व्यक्ति के आने की सम्भावना होती है अतएव गोपियों को कौए के बोलने से किसी अतिथि के आने की सम्भावना तो हुई लेकिन क्या कृष्ण ही ब्रज आ रहे है इस बात पर उन्हें संदेह ही हुआ। सूरदास जी कह रहे है कि इन सब बातों को देख कर गोपियाँ परस्पर वार्तालाप कर रही हैं कि या तो कृष्ण आज स्वयं आ रहे है या किसी को उन्होंने ब्रज का समाचार लाने के लिए भेजा है।

पद ९६. नंद गोप हर्षित ह्वै, गये लेन आगे

प्रस्तुत पद उद्धव के ब्रजमंडल पहुँचने के समय का है

शब्दार्थ—बाम—गोपिकाएँ। जोवत—प्रतीक्षा करते हुए। बेहाला—व्याकुल। झँखति—दुखी होती हैं।

भावार्थ—जिस समय उद्धव का रथ ब्रज-मंडल के समीप पहुँचा तब दूर ही से ब्रजवासियों को कृष्ण के मुकुट और पीताम्बर की सी आभा दिखाई दी अतः वे यह समझ कर कि कृष्ण आ गये हैं बड़ी प्रसन्नता और उत्साह के साथ उनकी ओर दौड़ पड़े। कवि कह रहा है कि नंद तथा गोपगण हर्ष के साथ उद्धव का स्वागत करने के लिए आगे बढ़े और जब ब्रजबालाओं को यह ज्ञात हुआ कि बलराम तथा कृष्ण आ रहे हैं तब वे भी बड़ी उमंग के साथ उस ओर चल दीं। उनके पीताम्बर और मुकुट की झलक देख कर सब मन-ही मन प्रेमानंद एवं सुख की अनुभूति करने लगीं तथा उन्हें यह निश्चय सा हो गया कि कृष्ण आ गए हैं अतः यह सोच कर कि अब उनकी विरह-व्यथा का अन्त हो गया है वे अपने प्रियतम की प्रतीक्षा करने लगीं। उनका शरीर हर्ष से पुलकायमान हो उठा और विरह-जन्य कष्ट मिट गये तथा वे प्रेम में विह्वल हो कृष्ण-दर्शन की लालसा से व्याकुल हो उठीं परन्तु ज्यों-ज्यों रथ समीप आता गया उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह मुकुट और पीताम्बर कुछ नवीन सा जान पड़ता है तथा यह वह नहीं हैं जिसे कृष्ण धारण किया करते थे तब उनके मन में यह चिन्ता हुई कि यह कृष्ण हैं या अन्य कोई व्यक्ति है। सूरदास जी कह रहे हैं कि गोपियाँ सोचने लगीं कि कृष्ण के साथ बलराम क्यों नहीं दिखाई दे रहे हैं और यदि कृष्ण इस रथ में होते तो फिर दोनों भाई साथ ही होते; अकेले कृष्ण नहीं होते।

पद ९७. जबहिं कह्यो ए स्याम नहीं

अवतारणा—जिस समय उद्धव ब्रज-भूमि के समीप पहुँचे उस समय ब्रज-वासी भी उनके स्वागतार्थ वहाँ आये हुए थे; प्रस्तुत पद उसी समय का है।

शब्दार्थ—मुरछि—मूर्च्छित। कूबरी—कुब्जा।

भावार्थ—उद्धव के रथ को देखकर गोपियाँ यह समझ रही थीं कि स्वयं कृष्ण ब्रज आ रहे हैं लेकिन जब वह रथ उनके समीप आ गया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि इसमें तो उनके प्रियतम कृष्ण के स्थान पर अन्य कोई व्यक्ति बैठा हुआ है और यह देख कर वे मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़ीं। कवि का

कहना है कि उनकी आशा निराशा में परिवर्तित हो गयी और वे एक पग भी आगे न बढ़ सकीं तथा जो जहाँ थीं वैसी ही रह गयीं और बार-बार रथ की ओर देख कर श्याम के अभाव में व्याकुल होने लगी। वे परस्पर यह कहने लगी कि अब भला कृष्ण यहाँ आकर क्या करेंगे क्योंकि उन्हें तो वहाँ कुब्जा स्त्री मिल ही गयी है। सूरदास जी कह रहे हैं कि ब्रजांगनाएं तो कृष्ण के प्रेम बाण से बिंधी हुई थीं अतः उन्हें उद्धव के आगमन से लाभ ही क्या ?

टिप्पणी—कुब्जा कंस की एक दासी थी जो कि पहले कूबड़ी थी लेकिन कृष्ण ने उसे स्वरूपवान युवती के रूप में परिवर्तित कर दिया था। श्रीमद्-भागवत के अनुसार उसे भी कृष्ण का प्रेम प्राप्त हुआ था अतः गोपिकाओं की दृष्टि में वह उनकी सौत हुई और इसीलिए वे उस पर व्यंग्य कर रही हैं।

पद ९८. पाती मधुबन ही तें आई

अवतारणा—उद्धव ने जब कृष्ण का पत्र गोपियों को दिया उस समय गोपांगनाओं की क्या दशा हुई इसी का चित्रण प्रस्तुत पद में किया गया है।

शब्दार्थ—पाती—पत्रिका, पत्र, चिट्ठी। पठई—भेजी। उर लाई—हृदय से लगाई। चूक—भूल। सुरति—स्मृति, याद।

भावार्थ—जब उद्धव ने कृष्ण का पत्र गोपियों को दिया तब वे अत्यंत प्रसन्न हो उठीं और एक गोपांगना कहने लगी कि हे सखियों यह पत्र मथुरा से आया है और इसे श्यामसुन्दर कृष्ण ने लिखकर भेजा है। कवि का कहना है कि यह सुनते ही सब ब्रजबालाएँ अपने-अपने घर से दौड़ीं और उस पत्र को अपने हृदय से लगाने लगी। अपने नेत्रों से उस पत्र को देखकर वे इतनी अधिक आनन्दमग्न हो गयी कि अपनी पलकें भी नहीं खोल पाती थीं अर्थात् अत्यधिक हर्ष के कारण उनके नेत्र उन्मीलित ही रहे परन्तु इतने पर भी उनकी प्रेम-व्यथा शांत नही हुई और वे सब कहने लगीं कि क्या कहा जाय यह गोकुल तो कृष्ण के बिना सूना ही है और हमें तो उनके बिना तनिक भी अच्छा नहीं लगता। सूरदास जी कह रहे हैं कि उस पत्र को देखकर गोपिकाओं को कृष्ण की याद और भी अधिक आने लगी तथा वे कहने लगीं कि हे प्रभु तुमने हम लोगों को किस अपराधवश बिल्कुल भुला दिया है।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में कवि ने गोपियों की मानसिक भावनाओं का सजीव चित्रण किया है कृष्ण के पत्र को आया जान गोपियों का अपने-अपने

घरों में दौड़ पड़ना स्वाभाविक ही है और उन्होंने जो उस पत्र को हृदय से लगा लिया उसमें प्रेमातुरता ही प्रकट होती है। प्रतीक्षारत प्रोषितपतिका अपने प्रिय के पत्र को ही हृदय से लगाकर इसलिए हर्षोत्फुल्ल हो उठती है क्योंकि इस बहाने उसे प्रिय का सान्निध्यसुख ही मिलता है।

पद ९९. निरखत अंक स्यामसुंदर के बार बार लावत लै छाती

अवतारणा—पद सं० ९८ की भाँति।

शब्दार्थ—निरखत—देखकर। अंक—लिखावट। मसि—स्याही। बयारि—हवा। ताती—गरम। उती—अज्ञान। बेनु-नाद—वंशी ध्वनि। लाड़—प्यार। बालसँघाती—बाल्यकाल के साथी।

भावार्थ—सूरदास जी कह रहे हैं कि कृष्ण के पत्र के अक्षरों को देख-देख कर गोपिकाएँ बार-बार उन्हें हृदय से लगाती हैं लेकिन नेत्रों से बहने वाली अश्रुधारा के कारण उस पत्र की स्याही के फैल जाने से वह सम्पूर्ण चिट्ठी काले रंग की हो गयी है अतएव उन्हें उस पत्र में भी कृष्ण ही दिखाई पड़ रहे हैं। इस प्रकार कृष्ण की वह पत्री भी अब उन्हें कृष्णमय प्रतीत होती है। अब वे विगत स्मृतियों को याद कर कहने लगीं कि जब नंद नंदन गोकुल में थे तब हमें कभी भी गर्म हवा नहीं लगी अर्थात् हमें उस समय पूर्ण शांति और सुख प्राप्त होता था तथा दीर्घ उसाँसें नहीं लेनी पड़ती थीं। उद्धव हम तुमसे भी इस बात को क्या छिपावें कि हम इतनी भोली थीं कि मुरली की ध्वनि सुनते ही कृष्ण के पास पहुँच जाती थीं और उनके प्रेम में किसी को भी कुछ नहीं समझती थीं तथा हमेशा रात दिन रसिक कृष्ण के प्रेम में ही लीन रहती थीं परन्तु अब तो हमें वियोग-वह्नि में जलना पड़ रहा है तथा न जाने कब हमारे बचपन के साथी प्राणप्रिय कृष्ण हमसे मिलेंगे।

अलंकार—स्मरण।

पद १००. सुनहु गोपी हरि को संदेश

अवतारणा—प्रस्तुत पद में उद्धव गोपियों को उनके प्रियतम कृष्ण का संदेश सुना रहे हैं।

शब्दार्थ—करि ध्यावहु—समाधि लगाकर अपने हृदय के अंदर ही ध्यान करो। अविगत—अज्ञात। अविनाशी—जो कभी भी नष्ट न होने वाला हो।

सगुन—साकार, जिसका कोई आकार हो। निगु न—निराकार, आकार रहित। मुक्ति—मोक्ष। दुसह—कठिन, असहनीय। बिललानी—व्याकुल हो गयीं।

भावार्थ—उद्धव ब्रजबालाओं से कह रहे है कि हे गोपियों कृष्ण का संदेश सुनो—उनका यही उपदेश है कि तुम लोग समाधि लगाकर हृदय के अंदर ही उनका ध्यान करो और यह हमेशा ध्यान में रखो कि वे अविगत हैं अर्थात् उनका किसी को भी पता नहीं तथा अविनाशी हैं अर्थात् वे कभी भी नष्ट नही होने वाले हैं। साथ ही वे सबके हृदय में समा रहे हैं और वेद तथा पुराण सब गा-गाकर यही कह रहे हैं कि बिना निर्गुण ज्ञान मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती इसलिए तुम सब सगुण कृष्ण की उपासना तज कर एक चित्त हो मन लगा कर निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करो क्योंकि तुम सब इस उपाय मे विरह-सागर को पार कर ब्रह्म तक पहुँच सकोगी। सूरदास जी कह रहे है कि श्रीकृष्ण का यह असहनीय संदेश सुनकर समस्त ब्रजांगनाएं व्याकुल हो गयी तथा उस समय विरह की बात कौन कहे क्योंकि वे तो बिना जल के मछली की भाँति व्याकुल हो गयी।

अन्य विशेषताएँ—यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि श्रीमद्भागवत मे उद्धव द्वारा ज्ञानयोग का संदेश वर्णित नही है तथा उसमें तो उद्धव केवल कृष्ण का कुशल समाचार लेकर नंद यशोदा तथा गोप गोपियों के विरह-शोक-निवृत्ति हेतु तथा उनका कुशल-क्षेम लेने के लिए गोकुल गये थे। परन्तु कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने भ्रमर गीत के माध्यम से ज्ञान और योग मार्ग के ऊपर भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता ही प्रतिपादित करनी चाही है इसीलिए सूरदास के भ्रमरगीत सम्बन्धी इस पद में उद्धव गोपियों को योग-साधना का ही उपदेश दे रहे हैं।

पद १०१. रहु रहु मधुकर मधु मतवारे

अवतारणा—कहते हैं जब उद्धव गोपियों को निर्गुण मार्ग एवं योगसाधना को अपनाने का उपदेश दे रहे थे उस समय अचानक एक भ्रमर भी उड़ता हुआ वहाँ आया तथा गुनगुनाने लगा। गोपियों ने उस भ्रमर को भी कृष्ण का भेजा हुआ दूत मानकर उस पर और कृष्ण पर एक साथ उपालम्भों की बौछार करनी प्रारम्भ की तथा अपने हृदय की वेदना एव विरह दशा को व्यक्त करते

हुए उस भ्रमर से उनके संदेश का कृष्ण के पास ले जाने की प्रार्थना करने लगीं। चूँकि भ्रमर को ही सम्बोधित करके यह पद कहे गए हैं अतः इन्हें 'भ्रमरगीत' या 'भँवरगीत' कहा जाता है परन्तु इन पदों में गोपियों ने भ्रमर, कृष्ण और उद्धव तीनों पर एक साथ व्यंग्य किए हैं क्योंकि तीनों ही श्याम रंग के थे। प्रस्तुत पद में भ्रमर को ही सम्बोधित किया गया है।

शब्दार्थ—मधुकर—भ्रमर। मधु मतवारे—मधु के लिए मतवाला, मद-मस्त। सरक—खुमारी, नशा। अपरस—अस्पृश्य। बिरमावत—विश्राम देते हैं, बहलाते हैं।

भावार्थ—गोपांगनाएँ कह रही हैं कि हे मदमस्त भ्रमर तू चुप रह और अपना यह गुनगुनाना बंद कर क्योंकि हमारा निर्गुणों से भला क्या काम है और हम तो यही चाहती हैं कि हमारे सगुण कृष्ण चिरंजीवी रहें। गोपियों का कहना है कि हे भ्रमर तू पुष्पों की पीली पराग रूपी कीचड़ में हमेशा लोटा करता है अतः तुझे स्वयं ही अपने शरीर की सुध-बुध नहीं है और फिर इस प्रकार तू हमें अस्पृश्य, निर्गुण ब्रह्म के विषय में भला क्या बता सकता है जब कि तू स्वयं ही सर्वदा सुरा की ही खुमारी में मस्त रहता है। गोपियाँ कह रही हैं कि हे भ्रमर हम उन पौधों तथा लताओं को जानती हैं जिन्हें कि तुम अत्यंत प्यारे हो अर्थात् हम यह जानती हैं कि तुम रस-लोलुप हो और रस पान के लिए ही इधर-उधर भटका करते हो। चूंकि गोपियां भ्रमर के बहाने कृष्ण पर ही व्यंग्य कर रही थीं अतः इन पंक्तियों का यह अर्थ भी हो सकता है कि हम कृष्ण के गुणों को भी जानती हैं कि वे रस-लोलुप ही हैं और अब कुब्जा के फेर में पड़े हुए हैं। गोपियाँ पुनः कहती हैं कि ये लताएँ तो थोड़ी देर ही उन सब काले व्यक्तियों को विश्राम देती हैं जो कि उनके पास आते हैं अतः जो लोग तन-मन दोनों से ही काले हैं उन्हें सावधान होकर अपनी लम्पटता छोड़ देनी चाहिए। सूरदास जी कह रहे हैं कि गोपिकाओं का कहना है कि हे सुन्दर मुखवाले, कमलनयन, यशोदा और नन्द के प्रिय पुत्र हमने तो अपना तन-मन सब तुम्हीं पर न्योछावर कर दिया है अतएव अब हमें निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने के लिए भला दूसरा तन-मन किससे उधार मिल सकता है और फिर जब हम अपना सब कुछ तुम्हें दे चुकी हैं तब हम किस वस्तु या धरोहर के आधार पर दूसरे से तन-मन उधार ले सकती हैं।

गोपागनाओ के कथन का अभिप्राय यह हे कि हम तो साकार कृष्ण का ही अपना सवस्व मानती है और हमने तन मन से उन्ही को चाहा है अत अब हम निर्गुण ब्रह्म की उपासना भला कैसे कर सकती है ।

अलंकार—व्यंग्य ।

पद १०२. दैबे आए ऊधौ मत नीकौ

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य कर रही हैं।

शब्दार्थ—दैबे—देने के लिए। नीकौ—सुन्दर। सयानी—चतुर, नागरी। जस—यश, कीर्ति। टीकौ—तिलक। तजन कहत—छोड़ने के लिए कह रहे है। सराप—शाप। ब्याल—सर्प। भागत—भागना। अमी—अमृत।

भावार्थ—गोपांगनाएँ कह रही हैं कि हे सखियों देखो उद्धव जी हमें बडी सुन्दर राय देने के लिए आये हुए हैं और इसलिए हे चतुर सहेलियों तुम इसे श्रवणकर यश का तिलक लगवा लो अन्यथा फिर ऐसा सुअवसर तुम्हें कभी न मिलेगा ! गोपिकाओं का कहना है कि उद्धव हम सबको वस्त्राभूषण तथा घर और पुत्रादि के प्रेम को तिलांजलि दे अंगों पर भस्म लगाकर सिर मे जटाएँ धारण कर निर्गुण ब्रह्म की साधना करने के लिए कह रहे हैं अतएव इससे तो यही स्पष्ट होता है कि उद्धव सभी युवतियों को उनके प्रेमियो अथवा पतियों से विलग कर वियोगजन्य दुःख ही दिया करते है और इसीलिए उन सब स्त्रियों के शापवश उद्धव का रंग काला हो गया है लेकिन इतना होने पर भी वे अपने हृदय में जरा भी भयभीत नहीं होते। गोपियों का कहना है कि जिसका जैसा स्वभाव बन जाता है वह उसे तज नहीं पाता और उसे उसके विषय में कुछ भले-बुरे का ज्ञान नही रहता है। जिस प्रकार सर्प द्वारा डसे गए व्यक्ति के मर जाने पर उसके मुख में अमृत डालने से कोई लाभ नही है उसी प्रकार कृष्ण प्रेमानुरक्ता हम गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देना उचित नहीं है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि कृष्ण-प्रेम में रंगी और वियोगजन्म विष-तुल्य विरह में छटपटाती हुई गोपियों को निर्गुणब्रह्म रूपी अमृत पिलाने से कोई लाभ न होगा।

अलंकार—उदाहरण।

पद १०३ प्रकृति जो जाके अंग परी

पद मे गोपियाँ उद्धव पर व्यंग्य कस रही हैं

शब्दार्थ—प्रकृति—स्वाभाव, आदत। स्वान—कुत्ता। कोटिक—करोड़ों। सूधी—सीधी। भच्छ—अपने खाने की वस्तु। अहि—सर्प।

भावार्थ—गोपांगनाएँ उद्धव को लक्ष्य कर कह रही हैं कि जिसकी जैसी आदत पड़ जाती है वह कभी छूटती नहीं अर्थात् उसका स्वभाव जैसा बन जाता है वैसा ही रहता है। जिस प्रकार कुत्ते की पूँछ करोड़ों प्रयत्न करने पर भी टेढ़ी की टेढ़ी ही रहती है और सीधी नहीं हो पाती; कौआ अपने जन्म के समय से पड़ी हुई विष्टा खाने की आदत को नहीं छोड़ पाता चाहे कितने ही प्रयत्न किए जायँ; काले कम्बल को जितना भी धोया जाय लेकिन उसका रंग कभी नहीं छूटता तथा सर्प जिस प्राणी को डसता है उससे उसका पेट भरता हो या न भरता हो परन्तु वह अपनी आदत नहीं छोड़ पाता उसी प्रकार कृष्ण भी अपनी आदत नहीं छोड़ते हैं और जो हठ तथा निष्ठुरता उन्होंने बचपन से सीखी है वह वैसी ही अभी तक है। गोपियों के इस कथन का दूसरा अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि स्वयं उद्धव ही इन प्राणियों के समान हैं और जो उन्होंने बचपन से ही नीरसता तथा शुष्कता का पाठ पढ़ा है वही वे दूसरों को भी पढ़ाना चाहते हैं।

पद १०४. ऊधो हम आज भई बड़भागी

अवतारणा—पद सं० १०३ के अनुसार।

शब्दार्थ—बड़भागी—भाग्यवान। बिलोके—देखा।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हम आज बड़ी सौभाग्य-शालिनी हैं क्योंकि जिन नेत्रों से तुमने कृष्ण को निहारा था उन्हीं लोचनों से आज तुम हमें देख रहे हो। उन ब्रजबालाओं का कहना है कि जिस प्रकार वायु फूलों के प्रेमी भ्रमर के पास उनकी—फूलों की—सुगन्ध ले आती है और उस सुगंधित पवन का स्पर्श कर उसके अंग-अंग में हर्ष की लहर उमड़ उठती है उसी प्रकार तुम्हारी ओर देखने से हमें भी आनन्द हो रहा है। साथ ही जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब देखने पर मुख बहुत सुन्दर लगता है उसी प्रकार हमें तुममें कृष्ण का प्रतिबिम्ब देखकर अत्यंत प्रसन्नता हो रही है और हमें इस समय इतना अधिक आनन्द आ रहा है कि हम विरह-व्यथा

से तप्त शरीर के विषय मे सोचना छोड़कर कृष्ण के इस सयोग सुख का आनन्द ले रही हैं। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि वे तो कृष्ण मे ही दीवानी हैं और चाहती हैं कि किसी-न-किसी प्रकार उनके दर्शन हो जायं लेकिन उनकी मनोकामना पूर्ण नहीं हो पा रही है परन्तु उद्धव में ही वे कृष्ण के प्रतिबिम्ब का अनुमान कर हृदय को सांत्वना दे रही हैं। वस्तुत विरही यही चाहता है कि उसका प्रेमी किसी-न-किसी प्रकार उससे अवश्य मिले और वह प्रियतम की झलक किसी न किसी प्रकार देखना चाहता है अतएव चूँकि उद्धव ने कृष्ण को देखा था अतः वे उनके नेत्र-सम्पुट में ही कृष्ण का दर्शन कर रही हैं।

पद १०५. अलि कैसे कहौं हरि के रूप रसहिं

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपांगनाएँ निर्गुणोपासना का खंडन करती हुई कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन कर रही हैं।

शब्दार्थ—अलि—भ्रमर। रसना—जिह्वा। पटपद्—छै पैर वाला, भ्रमर, भँवरा।

भावार्थ—गोपांगनाएँ कह रही हैं कि हे भ्रमर तुम्हारा हमें निर्गुणोपासना एव अंतस्साधना का उपदेश देना व्यर्थ ही है क्योंकि हम सबके शरीर में तो प्रकार भेद की अधिकता सी है अतः हम सब कृष्ण के स्वरूप को अंतर मे स्थापित कर किस तरह उनकी उपासना कर सकती हैं। साथ ही कृष्ण के रूप-रस की शोभा का वर्णन भी सहज नहीं है क्योंकि जिह्वा नेत्र के भावो को समझ नही सकती कारण कि उसके स्वयं ही नेत्र नहीं होते तथा नेत्र जो कुछ देखते हैं उसका वर्णन वे स्वयं वाणी रहित होने से नहीं कर पाते और जिनके वचन हैं वे दर्शन नहीं कर पाते। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि हमने अपने नेत्रों से जी भर कर कृष्ण का रूप निहारा था और अब हम उस कृष्ण के विषय में यह कैसे मान सकती हैं कि उनका कोई आकार ही नहीं है तथा साथ ही उद्धव जो कृष्ण को निर्गुण मानते हैं उसका कारण यह है कि उन्हें बोलने की तो शक्ति है लेकिन वे स्वयं कृष्ण की उस रूप-सुधा को नहीं देख सके जिसका कि गोपियों ने स्वयं पान किया है। गोपियाँ पुन कहती हैं कि यद्यपि नेत्र वाणी रहित होते हैं लेकिन वे कृष्ण दर्शन पाकर

आ | द से भर जाते हैं और उनके गुणों का स्मरण कर प्रेम-जल अर्थात् अश्रु बहाने लगते हैं तथा बार-बार यही पश्चाताप करते हैं कि विधाता पर हमारा कोई वश नहीं रहा जो कि उसने हमें वाणी रहित कर दिया है। इसका अर्थ यह है कि नेत्र ही किसी वस्तु की वास्तविक सुन्दरता से परिचित हो पाते हैं लेकिन वे स्वयं वाणी रहित होने से उसका वर्णन नहीं कर पाते और प्रेम-विह्वल हो अश्रुओं के बहाने अपना आनन्द प्रकट करते हैं इसलिये गोपियों का अभिप्राय यह है कि हमने तो कृष्ण की मनोहर छवि भली-भाँति देखी थी लेकिन हम यहाँ उसका वर्णन कैसे कर सकती हैं। सूरदास जी कह रहे हैं कि गोपिकाओं का कहना है कि इस विरहावस्था में न केवल नेत्रों की बल्कि हमारे शरीर के सभी अंगों की यही दशा है अतः इस भ्रमर का हम सबको निर्गुण-उपासना का उपदेश देना उचित नहीं है कारण कि हमने तो भली-भाँति कृष्ण की छवि देखी है और उसका रसपान किया है।

अलंकार—काव्यलिंग।

पद १०६. नैनन वहै रूप जो देखौं

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपिकाएँ कृष्ण-दर्शन की अभिलाषा प्रकट कर रही हैं।

शब्दार्थ—वहै—वही। लेखौं—समझूँ। चारु—सुंदर। मन-रंजन—मन को प्रसन्न करने वाले। रुचिर—सुंदर। स्रवनन—कान। गंड—मस्तक का पार्श्व भाग। कपोल—गाल। छाँई—छाया, परछाँई। मुकुर—दर्पण। मुक्त-माल—मोतियों की माला। केसरि खौर—केसर का लेप।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि यदि हम अपने नेत्रों से कृष्ण का वही रूप देखें जो कि हम पहले यहाँ देखा करती थीं तो निश्चय ही अपने जीवन को सफल समझेंगी। कृष्ण का सौंदर्य-वर्णन करते हुए वे कह रही हैं कि उनके नेत्र सुन्दर चंचल खंजन पक्षी के सदृश्य हैं तथा हमारे मन और हृदय को प्रसन्न करने वाले हैं। साथ ही उनके नेत्र, कमल, मृग और मीन के प्रतिरूप हैं तथा उनमें श्वेत, अरुण एवं श्याम तीन रंगों की शोभा है। गोपियाँ इस स्थल पर उनके नेत्रों की उपमा कमल, मृग और मीन से दे रही हैं तथा तीन रंगों का उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि गोपिकाएं उनकी

पुतलियां और पलकों आदि का सुन्दरता का भी वणन कर रही है। वे पुन. कहती है कि कृष्ण के कानों के समीप रत्नजटित सुन्दर कुंडल है जिनकी आभा कपोलों पर पड़ रही है और ऐसा प्रतीत होता है मानो सूर्य ही दर्पण में प्रतिबिम्बित हो अपनी छवि खोज रहा है। यहाँ कुंडल की उपमा सूर्य से तथा कपोल की उपमा दर्पण से दी गई है। ब्रजबालाओं का कहना है कि कृष्ण के अधरों पर मुरली शोभायमान है, भौंहें टेढ़ी हैं तथा बाँसुरी बजाते समान उनकी त्रिभंगाकृति—अर्थात् तीन जगह से टेढ़े होकर खड़े होना—बहुत ही सुन्दर प्रतीत होता है और उनकी ग्रीवा में जो मोतियों की माला पड़ी हुई है उसे देखकर ऐसा भास होता है मानो नील शिखर से निकली हुई गंगा की धारा पृथ्वी में प्रविष्ट हुई हो। गोपांगनाएँ कह रही हैं कि कृष्ण की वेशभूषा का और कितना अधिक वर्णन किया जाय क्योंकि वे इतने अधिक सुन्दर हैं कि उनकी शोभा वर्णन ही नहीं की जा सकती तथा उनके अंग-अंग में केसर का लेप लगा है। वस्तुतः उनका रूप तो देखा ही जा सकता है, कहा नहीं जा सकता कारण कि जिह्वा तो कहना ही जानती है और वह देखती नहीं है तथा देखने का काम तो नेत्र ही करते है।

अन्य विशेषताएँ—विरहावस्था में प्रिय का रूप-सौन्दर्य और भी अधिक सुहावना लगता है क्योंकि वह अब समीप की वस्तु नहीं रहता और हृदय में उन दिनों की स्मृतियाँ प्रबल हो उठती हैं जब कि प्रियतम को निहारने की पूर्ण स्वच्छन्दता थी। गोपियों को इसीलिए अब बार-बार कृष्ण के रूप-सौन्दर्य की स्मृति हो रही है क्योंकि कृष्ण तो उनके पास हैं ही नहीं लेकिन उनके सखा उद्धव यह कहकर कि वे अरूप और अदृश्य हैं उनकी विरह-भावनाओं को और भी अधिक उद्दीप्त कर रहे हैं। स्मरण रहे प्रसाद जी आदि कवियों ने भी अपने विरह गीतों में इसी प्रकार 'प्रिय' का सौन्दर्य चित्रण किया है।

अलंकार—उपमा और स्मरण।

पद १०७. अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी

अवतारणा—पद स० १०६ के अनुसार।

शब्दार्थ—उदासी—मलिन, दुखी। हाँसी—हँसी।

भावार्थ—गोपिकाएँ कह रही हैं कि हमारे नेत्र कृष्ण-दर्शन के लिए प्यासे हैं अर्थात् वे कमल नयन श्रीकृष्ण का दर्शन करना चाहते हैं और दर्शन

न मिलन के कारण ही दुखी हैं। उनका कहना है कि उद्धव यहाँ आकर हमे निर्गुणज्ञान का उपदेश दे चले गये और हमारे गले में एक फन्दा सा डाल गये लेकिन हम तो उन्हीं कृष्ण की प्रतीक्षा में हैं जो कि वृन्दावन के वासी हैं तथा केसर का तिलक लगाने वाले और मोतियों की माला धारण करने वाले हैं। गोपिकाओं के कहने का अभिप्राय यह है कि हम तो कृष्ण के वियोगजन्य कष्ट से पहले ही व्यथित थीं लेकिन जब से उद्धव ने यह कहा है कि कृष्ण साकार न होकर निराकार हैं और सभी के हृदय में समाये हुए हैं, हमारी पीड़ा और भी अधिक बढ़ गयी है क्योंकि अब हमें यह चिन्ता होने लगी है कि कहीं कृष्ण हमसे हमेशा के लिए न बिछुड़ जायें; फिर हम तो कृष्ण के सुहावने रूप की उपासिका हैं जिसे देखकर हमारे हृदय को शान्ति और सुख मिलता था अतः निर्गुण की उपासना से भला हमे लाभ ही क्या होने वाला है। गोपिकाओं का कहना है कि हमारे मन की इस प्रेम-भावना को भला दूसरा समझ ही कैसे सकता है क्योंकि किसी के मन की भावना को दूसरा कभी भी नहीं समझ पाता अतः इसीलिए लोग हमारी दशा को देखकर हंस रहे हैं कारण कि वे हमारे प्रेम को समझ ही नही पाए। सूरदास जी कह रहे हैं कि गोपियों का कहना है कि हे प्रभु ! हम तुम्हारे दर्शन के लिये काशी में करवट ले लेंगी अर्थात् काशी में आरे से चिरवा कर अपने प्राण दे देंगी जिससे कि हमें तुम्हारा दर्शन प्राप्त हो सके। इसका अभिप्राय यह है कि लोगों में यह विश्वास रहा है कि काशी में आरे से चिरवा कर शरीरान्त करने से अगले जन्म में मनोकामना पूर्ण हो जाती है; अतः गोपियों को जो अपने प्रियतम का दर्शन प्राप्त नहीं हो रहा है इसलिए उनका विचार है कि वे काशी जाकर अपने शरीर को आरे से चिरवा कर अपना प्राण दे देंगी जिससे कि उन्हें अगले जन्म में कृष्ण का दर्शन अवश्य मिले और इस प्रकार उनकी मनोकामना पूर्ण हो सके।

टिप्पणी—सूर के इस पद से मिलता-जुलता एक पद मीरा का भी कहा जाता है; देखिए—

> **अखियाँ कृष्ण मिलन की प्यासी।**
> **आप तो जाय द्वारका छाये, लोग करत मेरी हाँसी॥**
> **आम की डार कोयलिया बोले, बोलत सब्द उदासी**

मेरे तो मन ऐसी आवै करवट लैहौं कासी।
मीरां के प्रभु गिरिधर लाल, चरण कँवल की दासी ॥

पद १०८. ऊधो क्यों राखौं ये नैन

अवतारणा—प्रस्तुत पद में व्रजबालाओं ने कृष्ण के वियोगजन्य कष्टों से पीडित अपने नेत्रों की व्यथा प्रकट की है।

शब्दार्थ—गुन—गुण। बदन-इंदु—मुख-चंद्र। बैन—वचन। परम तृषा-रत—अत्यधिक प्यासा। मधुप—भ्रमर। मराल—हंस। द्रुतिमनि—द्युतिमनि प्रकाशवान। दिनकर—सूर्य।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही हैं कि हम इन कृष्ण के रूप-रसिक नेत्रों को सांत्वना कैसे प्रदान करें क्योंकि ये कृष्ण के गुणों का स्मरण कर तथा तुम्हारे शुष्क एवं नीरस वचनों को सुनकर और भी अधिक व्यथित हो उठते है। गोपियों के कथन का अभिप्राय यह है कि इन नेत्रों ने तो कृष्ण का स्वरूप भली-भांति देखा था लेकिन उद्धव कह रहे है कि वे तो अरूप और अदृश्य है अतः अब इन नेत्रों में, इस शंकावश कि हम उस रूपवान व्यक्ति के दर्शन से वंचित ही रहेंगे, पीड़ा हो रही है। इसे यों भी कह सकते हैं कि नेत्र इसलिए अधिक दुखी हैं क्योंकि अब उद्धव के इन शुष्क और नीरस वचनों से यह संभावना हो चली है कि कृष्ण अब ब्रज नहीं आयेंगे तथा वे अब उनकी मनोहर छवि का दर्शन फिर नहीं कर सकेंगे। गोपिकाओं का कहना है कि हमारे नेत्र कृष्ण-मुख रूपी चंद्रमा के लिए शरद ऋतु की कुमुदिनी और चकोर की भाँति है अर्थात् जिस प्रकार चंद्रमा को देखकर कुमदिनी खिल उठती है तथा चकोर प्रसन्न होता है उसी प्रकार नेत्र भी कृष्ण का दर्शन कर आनन्द से फूले नहीं समाते। साथ ही ये नेत्र घनश्याम रूपी सजल काले बादलों के लिए अत्यंत प्यासे पपीहे एव मयूर तथा कृष्ण के चरण-कमल के लिए भ्रमर, और चाल की शोभा के लिए जल की मछली समान हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार पपीहा एवं मयूर घनश्याम-रूपी सजल काले मेघ-खंडों से प्रेम करते हैं उसी प्रकार ये नेत्र भी कृष्ण से प्रेम करते हैं तथा जिस तरह भ्रमर कमल-पुष्प का रस पान करना चाहता है उसी तरह ये नेत्र कृष्ण के चरण-कमलों की सुषमा को जी भर कर पीना चाहते हैं अर्थात् कृष्ण के दर्शनों के लिए उत्सुक हैं साथ ही गोपिकाओं का यह भी

कहना है कि हमारे नेत्र कृष्ण के सूर्य के समान प्रकाश के लिए चक्रवाक अर्थात् चकवा पक्षी की भाँति हैं अर्थात् जिस तरह मिलन-आशा से सूर्य के प्रकाश में चकवा प्रफुल्लित हो उठता है उसी तरह हमारे नेत्र भी कृष्ण रूपी सूर्य का दर्शन करके ही प्रसन्न हो सकते हैं और ये नेत्र वंशी-नाद के लिए मृग की भाँति हैं अर्थात् जिस प्रकार वीणा की ध्वनि सुन मृग मंत्रमुग्ध सा हो उसी ओर चल देता है उसी प्रकार हम भी कृष्ण की मुरली ध्वनि सुनकर अपना तन-मन-धन सब विस्मरण कर उनके पास पहुँच जाती थीं। गोपांगनाएँ कह रही हैं कि कृष्ण के बिना हमें ये सारा संसार शून्य अर्थात् सूना ही दिखायी देता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रीकृष्ण का सर्वांग अर्थात् नख से लेकर शिखा तक उनका सौंदर्य अद्वितीय है तथा उनकी इसी विश्वमोहिनी छवि पर हम भी अत्यंत मुग्ध हैं।

अलंकार—परंपरित रूपक।

पद १०९. और सकल अंगन ते ऊधौ अखियाँ अधिक दुखारी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ कह रही हैं कि कृष्ण के वियोग में हमारे सब अंगों की अपेक्षा नेत्र अधिक दुखी हैं।

शब्दार्थ—सकल—सब, समस्त, सभी। पिराति—पीड़ा पाती हैं। सिराति—शीतल। जतन—प्रयत्न, कोशिश। सुनिमिष न मिलवति—पल भर को भी निद्रा नहीं आती। बिरह-बाइ—विरह की वायु। सलाका—सलाई।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही हैं कि यों तो कृष्ण के वियोग में हमारे शरीर के सभी अंग पीड़ित हैं लेकिन इन सबमें हमारी आँखें अत्यन्त दुखी हैं और इस विरह-व्यथा के कारण वे अत्यधिक पीड़ित रहती हैं तथा अनेकानेक प्रयत्न करने पर भी शीतल नहीं होतीं और अशान्त ही बनी रहती हैं। जिस मार्ग से कृष्ण मथुरा गये हैं ये नेत्र एकटक उधर ही देखते रहते हैं और एक पल को भी हमारी पलकें नहीं लगतीं अर्थात् हमें पल-मात्र को भी नींद नहीं आती कारण कि कृष्ण के वियोग में नेत्र इतने अधिक व्याकुल हैं कि वे किसी न किसी प्रकार प्रिय का दर्शन अवश्य करना चाहते हैं। उन ब्रजबालाओं का कहना है कि जिस तरह नेत्रों में वायु भर जाने से वे खुली ही रह जाती हैं, बंद नहीं होती उसी प्रकार इन पलकों के हमेशा खुले रहने का कारण यह है कि इनमें कृष्ण

की बिरह रूपी वायु भर गयी है तथा ब्रह्मज्ञान रूपी मोटी सलाई से इनकी पी
दूर नहीं हो सकती इसलिए उद्धव जी आप कृष्ण के रूप रस का अंजन हमा
आँखों में लगाकर हमारे नेत्रों की पीड़ा दूर कर दीजिए। गोपियों का कहना है f
जिस प्रकार नेत्र की पीड़ा केवल शलाखा के स्पर्श-मात्र से ही दूर नहीं होती अपि
सरस अंजन लगाकर उन्हें शांति पहुँचायी जाती है उसी प्रकार गोपियों के नेत्र
कृष्ण की बिरह रूपी वायु के भर जाने से अत्यधिक पीड़ित हैं अत: उन्हे शांत
करने के लिए कृष्ण के रूप-रस का अंजन ही उपयुक्त हो सकता है अर्थात्
कृष्ण का दर्शन करने पर ही उनकी आँखों की पीड़ा शान्त हो सकती है।
गोपियों की दृष्टि में उद्धव के गंभीर उपदेश उस मोटी सलाई के समान हैं जो
नेत्रों की पीड़ा शांत करने के लिए उपयुक्त नहीं है अत: वे चाहती हैं कि
उद्धव उपदेश देना बंद कर उन्हें कृष्ण का दर्शन करवाएँ।

टिप्पणी—सूरदासकृत नेत्र-प्रीति वर्णन की छाया हिंदी के बहुत से
कवियों पर पड़ी है और उन्होंने भी विस्तार सहित इस प्रकार का वर्णन किया
है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली से यह उदाहरण देखिए—

नैना वह छबि नाहिन भूले।
दया भरी चहुँ दिसि की चितवन नैन कमल दल फूले।।
वह आवनि वह हँसनि छबीली वह मुसकनि चित चोरैं।
वह बतरानि मुरनि हरि की वह वह देखन चहुँ कोरैं।।
वह धीरी गति कमल फिरावन कर लैं गायन पाछे।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि पीत पिछौरी काछे।।
पर बस भये फिरत हैं नैना इक छन टरत न टारे।
हरि ससि मुख ऐसी छबि निरखत तन मन धन सब हारे।।
अलंकार—काव्यलिंग।

पद ११०. बहुत दिन बीते ऊधो चरन कमल बिनु देखे

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपिकाएँ कृष्ण के चरण-कमलों के दर्शन की
भलाषा प्रकट कर रही हैं।

शब्दार्थ—बिपति बिसेखे—विशेष विपत्ति से व्यथित। बासर—दिन।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही है कि कृष्ण के चरण-कमलो का दर्शन किए
। हमें बहुत दिन बीत गये हैं और तब से हम उनके दर्शनों से रहित होने

की विरह रूपी वायु भर गयी है तथा ब्रह्मज्ञान रूपी मोटी सलाई से इनकी पीड़ा दूर नहीं हो सकती इसलिए उद्धव जी आप कृष्ण के रूप रस का अंजन हमारी आँखों में लगाकर हमारे नेत्रों की पीड़ा दूर कर कीजिए। गोपियों का कहना है कि जिस प्रकार नेत्र की पीड़ा केवल शलाखा के स्पर्श-मात्र से ही दूर नहीं होती अपितु सरस अंजन लगाकर उन्हें शांति पहुँचायी जाती है उसी प्रकार गोपियों के नेत्र कृष्ण की विरह रूपी वायु के भर जाने से अत्यधिक पीड़ित हैं अतः उन्हें शांत करने के लिए कृष्ण के रूप-रस का अंजन ही उपयुक्त हो सकता है अर्थात् कृष्ण का दर्शन करने पर ही उनकी आँखों की पीड़ा शान्त हो सकती है। गोपियों की दृष्टि में उद्धव के गंभीर उपदेश उस मोटी सलाई के समान है जो नेत्रो की पीड़ा शांत करने के लिए उपयुक्त नहीं है अतः वे चाहती है कि उद्धव उपदेश देना बंद कर उन्हें कृष्ण का दर्शन करवाएँ।

टिप्पणी—सूरदासकृत नेत्र-प्रीति वर्णन की छाया हिंदी के बहुत से कवियों पर पड़ी है और उन्होंने भी विस्तार सहित इस प्रकार का वर्णन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली से यह उदाहरण देखिए—

नैना वह छबि नाहिन भूले।
दया भरी चहुँ दिसि की चितवन नैन कमल दल फूले।।
वह आवनि वह हँसनि छबीली वह मुसकनि चित चोरैं।
वह बतरानि मुरनि हरि की वह वह देखन चहुँ कोरैं।।
वह धीरी गति कमल फिरावन कर लैं गायन पाछे।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि पीत पिछौरी काछे।।
पर बस भये फिरत हैं नैना इक छन टरत न टारे।
हरि ससि मुख ऐसी छबि निरखत तन मन धन सब हारे।।

अलंकार—काव्यलिंग।

पद ११०. बहुत दिन बीते ऊधो चरन कमल बिनु देखे

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपिकाएँ कृष्ण के चरण-कमलों के दर्शन की अभिलाषा प्रकट कर रही हैं।

शब्दार्थ—बिपति बिसेखे—विशेष विपत्ति से व्यथित। बासर—दिन।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही हैं कि कृष्ण के चरण-कमलों का दर्शन किए बिना हमें बहुत दिन बीत गये हैं और तब से हम उनके दर्शनों से रहित होने

के कारण अत्यधिक दुखी रहती हैं तथा हमारा प्रत्येक क्षण विशेष विपत्ति से व्यथित रहता है अर्थात् हमें क्षण भर भी चैन नहीं मिलता। उनका कहना है कि रात्रि के समय जब हमें कृष्ण की याद आती है तब हृदय में प्रेम की पीड़ा उठने लगती है और मन में किसी भी प्रकार धैर्य नहीं रहता। हम सब दिन भर उनकी बाट जोहती हैं कि किसी प्रकार हमें उनका दर्शन प्राप्त हो तथा हमारे हृदय की दुःख रूपी नदी नेत्रों से प्रवाहित होती रहती है। गोपिकाएँ कह रही हैं कि अब तक उनके आने की अवधि की आशा से दिन गिन-गिनकर हमारे शरीर में श्वास बाकी रही है अन्यथा न जाने कब के प्राण उनके विरह में शरीर त्याग देते अतः हे उद्धव जी आप कृष्ण से हमारा यह संदेश अवश्य कह दीजिएगा कि ब्रजबालाएं अभी तक आपके दर्शनों की आशा में ही जीवित हैं और यदि आपने उन्हें दर्शन नहीं दिया तो अत्यंत दारुण-वियोग में वे अपने प्राण दे देंगी।

टिप्पणी—देव ने भी इसी प्रकार विरहिणी ब्रजांगनाओं के हृदयोद्गार प्रकट किए हैं—

बरुनी, बघंबर में गूदरी पलक दोऊ
कोए राते बसन भगोहैं भेष रखियाँ।
बूड़ी जल ही में, दिन जामिनि हूँ जागैं भौंहैं
धूम सिर छायो विरहानल बिलखियाँ॥
अँसुवा फटिक-माल लाल डोरी सेल्ही पैन्हि
भई हैं अकेली तजि चेलीं संग सखियाँ।
दीजिए दरस देव कीजिए सँजोगिनी ए
जोगिनि ह्वै बैठी हैं बियोगिनि की अखियाँ॥

पद १११. ऊधौ ब्रज-रिपु बहुरि जिये

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ कृष्ण के बाल्यकाल की कतिपय घटनाओं का स्मरण कर रही हैं।

शब्दार्थ—ब्रज रिपु—ब्रज के शत्रु। बहुरि—फिर, पुनः। हति हति हुते—मार-मार कर।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही हैं कि कृष्ण के चले जाने पर ब्रज के शत्रु फिर जीवित हो उठे हैं तथा हमारी रक्षा के लिए उन्होंने इन शत्रुओं को

शब्दार्थ—बिस्तारौ—फैलाओ, विस्तार करो, प्रचार करो। पठये—भेजा। गहत हौं—ग्रहण करते हो। टारौं—अलग करें।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही हैं कि हे उद्धव पहले आप ब्रज की वर्तमान विचित्र स्थिति पर विचार कर लें तब इसके पश्चात् अपनी योग की सिद्धि-कथा का प्रचार करें अर्थात् उद्धव को पहले यह देख लेना चाहिए कि आखिर ब्रज की दशा किस प्रकार की है और क्या कारण है कि समस्त ब्रजमंडल विरह-वारिधि में निमग्न है तभी उन्हें यह सोचना चाहिए कि आखिर उनका उपदेश इस प्रदेश के उपयुक्त होगा या नहीं। गोपियों का कहना है कि जिस उद्देश्य से कृष्ण ने आपको हमारे पास भेजा है उस पर आप पहले अपने मन में विचार कर लें और यह भी सोच लें कि वे इसे ठीक-ठीक जानते हैं या नहीं कि वस्तुतः विरह और परमार्थ-मुक्ति में क्या अंतर है। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि तुम तो मुक्तिलाभ का उपदेश दे रहे हो और हम विरह-अवस्था में हैं लेकिन विरह भी तो मुक्ति की ही अवस्था है कारण कि मुक्तिलाभ में तो संसार से छूट कर ब्रह्म से ही मिलते हैं और विरह में तो वह सर्वत्र ही ब्रह्म का अनुभव करता है तथा संसार से विमुख रहता है अतः इस दृष्टि से विचार करने पर तो विरह और परमार्थ-लाभ में कोई विशेष विभिन्नता नहीं है परन्तु उद्धव इस बात को संभवतः नहीं समझते हैं इसीलिए इन दोनों को अलग-अलग कह रहे हैं। गोपियाँ पुनः कह रही हैं कि उद्धव अपने को चतुर और प्रवीण कहते हैं तथा सदैव प्रभु के निकट रहते हैं लेकिन जिस प्रकार जल में डूबता हुआ व्यक्ति फेन पकड़ कर बचने का प्रयास करता है, किन्तु वह बच नहीं पाता, बल्कि डूब ही जाता है उसी प्रकार आप हमें शुष्क निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने का विफल प्रयत्न कर रहे हैं क्योंकि हम तो भगवान् कृष्ण की मधुर मुस्कान और मनोहर चितवन को अपने हृदय से किसी भी भाँति हटा नहीं सकती हैं तथा योगाभ्यास की अनेक युक्तियों और अभीष्ट की परम निधि मुक्ति, इन सबको उनकी मुरली के ऊपर न्यौछावर कर रही हैं। गोपांगनाओं का कहना है कि जिसके हृदय में कमलनयन भगवान् श्री कृष्ण निवास कर हैं वहाँ निर्गुण ब्रह्म का प्रवेश किसी भी प्रकार संभव नहीं है और हम तो उस भजन अथवा उपासना का परित्याग करना ही उचित

समझती हैं जो कि हमें कृष्ण से विमुख कराकर किसी अन्य की उपासना करने को कहता है।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में निर्गुण मत का खंडन करते हुए साकारोपासना को ही श्रेष्ठतम कहा गया है। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण ही हमारे एकमात्र आराध्य हैं और हम उन्हीं की उपासिका रही हैं, अतः अब अन्य किसी की उपासना क्यों करें ! रत्नाकर जी ने भी इसी प्रकार उद्धवशतक में गोपियों से कहलाया है—

सरग न चाहैं अपबरग न चाहैं सुनौं
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनैं हम ।
कहै रतनाकर तिहारे जोग-रोग माहिं
तन मन साँसनि की साँसति प्रमानैं हम ॥
एक ब्रजचंद कृपा-मंद-मुसकानि हीं सैं
लोक परलोक कौ अनंद जिय जानैं हम ।
जाके या बियोग-दुख हु बसै सुख ऐसो कछू
जाहि पाइ ब्रह्म सुख हूँ मै दुख मानैं हम ॥

पद ११३. ऊधो आवै इहै परेखौ

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव से अपनी विरह-व्यथा प्रकट कर रही हैं।

शब्दार्थ—इहै—यही । परेखौ—क्लेश, दुःख, पछतावा, पश्चाताप बायस—कौआ। खसै नहिं बार—बाल न गिरे, उनका कोई भी अहित न हो।

भावार्थ—गोपिकाएँ उद्धव से कह रही हैं कि हमें तो पश्चाताप केवल इस बात का है कि कृष्ण ने हमारी आशा के विपरीत कार्य किया है क्योंकि जब वे छोटे थे तब हमे यह आशा थी कि वे बड़े होने पर हम सबको सुख पहुँचाएँगे लेकिन बड़े होने पर उन्होंने जो कुछ किया उसे तो आप स्वयं ही देख रहे हैं अर्थात् ब्रजभूमि में न रहकर वे मथुरा में निवास कर रहे हैं। ब्रजबालाओं का कहना है कि उनके माता-पिता—नंद और यशोदा—उनके लिए इस आशा में कि बालक सुरक्षित रहे तथा उसकी आयुवृद्धि हो यो

यज्ञ तप नियम दान तथा व्रत आदि करते रहे परन्तु कृष्ण ने तो कोयल की भाँति हमसे कपट-स्नेह प्रकट किया है अर्थात् अपना काम निकालने के लिए उन्होंने धीरतापूर्वक हमारा साथ दिया पर जब काम निकल गया तब कोयल की तरह उड़कर अलग हो गये। इसका अर्थ समझने के लिए हमें स्मरण रहना चाहिए कि कोयल कपट के साथ अपने बच्चे कौए से पलवाती है क्योंकि वह अपने अंडे चुपके से कौए के घोंसले में रख आती है और वहाँ वह पाला-पोषा जाकर बड़ा होता है लेकिन बड़ा हो जाने पर वह उड़कर कोयल के झुंड में ही पहुँच जाता है। इस प्रकार गोपियों का कहना यह है कि कृष्ण भी हमारे बीच में पले और बड़े हुए लेकिन जिस तरह कोयल का बच्चा फिर काम निकल जाने पर कौओ की परवाह नहीं करता उसी प्रकार उन्होंने भी ब्रज-वासियों की किंचितमात्र भी परवाह नहीं की और अपने आपको वसुदेव-देवकी का पुत्र घोषित किया। गोपियाँ कह रही हैं कि खैर उन्होंने जो कुछ किया वह ठीक ही किया और हम भी यही चाहती हैं कि वे जहाँ भी रहें सुख से रहें तथा राज्यसुख भोगें और करोड़ो प्राणियों का भार सँभालने योग्य हों तथा उनका जरा भी अहित न हो।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में गोपियों की परमार्थिक निष्काम भावना सराहनीय है।

अलंकार—लोकोक्ति।

पद ११४. अपनी सी कठिन करत मन निसि दिन

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपांगनाएँ योग—साधना में असमर्थता प्रकट कर रही हैं।

शब्दार्थ—खग—पक्षी। अनल—अग्नि। दाहत—जलाना। परिहरि—छोड़ना, परित्याग करना।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि आप हमें व्यर्थ ही योग की दुसह साधना करने के लिए कह रहे हैं क्योंकि हमारा मन तो अपनी ओर से ही दिन-रात कठोर होता जा रहा है, अतः इस योग-साधना की कठोरता की क्या आवश्यकता है। मधुप अर्थात् उद्धव अनेकों प्रकार की कथाएँ कहकर हमारे मन को सांत्वना देने का प्रयास करते हैं लेकिन वह तो बिना कृष्ण के

रह ही नहीं सकता। साथ ही हम जब अपने कानों से कृष्ण की चर्चा सुनती हैं तब नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो उठती है और हम उस समय अपने मन को उस ओर से विमुख करने का भरसक प्रयास करती हैं तथा इधर-उधर की चर्चा कर विविध प्रकार से अपने चित्त को निष्ठुर बनाने का प्रयास करती हैं लेकिन सब प्रकार की चर्चाएँ तज कर हमारा मन कृष्ण की ओर ही खिंच जाता हैं। गोपिकाओं का कहना है कि वह तो करोड़ों स्वर्ग के सदृश्य सुखों का परित्याग कर कृष्ण के समीप ही रहना चाहता है अर्थात् कृष्ण-सामीप्य-सुख के सामने उनका मन अन्य करोड़ों सुखों को तुच्छ ही समझता है। जिस प्रकार समुद्र की नौका के पक्षियों का और कहीं ठिकाना नहीं होता तथा वे उसी नौका पर पुनः लौट आते हैं क्योंकि उन्हें चारों ओर अथाह जल ही दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार हमारा मन भी इधर-उधर की चर्चाओं मे भटकने के पश्चात् फिर पुनः कृष्ण का ही गुणगान करने लगता है अर्थात् वह कृष्ण की ही शरण में रहना उपयुक्त समझता है। गोपियाँ कहती हैं कि हम अपने मन में जिन बातों की चिन्तना करती हैं वे हमारे हृदय में और भी अधिक दाह उत्पन्न करती है अर्थात् हमें और भी अधिक जलाती हैं इसलिए वास्तविकता तो यह है कि हमारा मन प्रियतम कृष्ण को किसी भी भाँति नहीं छोड़ सकता, बल्कि वह एक बार पुनः उनसे मिलने के लिए उत्सुक है।

पद ११५. मन में रह्यो नाहिन ठौर

अवतारणा—यद्यपि प्रस्तुत पद उद्धव-गोपी संवाद के अंतर्गत ही आता है और इसमें प्रेम-विह्वला गोपियों की मानसिक भावनाएँ ही अंकित हे लेकिन इसके सम्बंध में यह भी कहा जाता है कि यह पद सूरदास ने सम्राट् अकबर के सामने गाया था। चूँकि सूर के जीवनवृत्त पर विचार करते समय यह प्रमाणित नहीं हो सका है कि सूर अकबर से वास्तव में मिले थे अतः हमारी दृष्टि में इस पद को 'भ्रमरगीत' के अन्तर्गत रखना ही उचित है।

शब्दार्थ—अछत—रहते हुए। आनिये—लावें, स्थान दें। द्यौस— दिवस, दिन। घट—घड़ा। ललित गति—सुन्दर चाल। मृदु हास—मंद हँसी।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हमारे मन में तो निर्गुण ब्रह्म के लिए स्थान ही नहीं है क्योंकि उसमें श्रीकृष्ण पहले से ही विराजमान है

और उनके होते हुए हम दूसरे को भला उसमे कैसे स्थान दे सकता है। हमारे हृदय मे प्रत्येक समय, चाहे दिन हो या रात्रि, सोते-जागते, चलते-फिरते हमेशा श्याम की वह मनमोहनी मूर्ति ही बसी हुई है और वह एक क्षण को भी उससे अलग नहीं होती। गोपियों का कहना है कि उद्धव उनसे प्रत्येक प्रकार की लाभ, स्वार्थ और परमार्थ-लाभ सम्बंधी बात कहते हैं लेकिन मन तो कृष्ण-प्रेम से पूर्णतः भरा हुआ है, अतः उसमें निर्गुण ब्रह्म के लिए स्थान देने की बात सोचना व्यर्थ ही है। साथ ही जब हमारे मनरूपी घट में कृष्ण-प्रेम का अपार समुद्र ही नहीं समाता तब फिर निर्गुण के लिए स्थान कहाँ दिया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनरूपी घट कृष्ण प्रेम से इस प्रकार परिपूर्ण है कि उसमें दूसरी वस्तु आ ही नहीं सकती। सूरदास जी कह रहे हैं कि गोपियों का कहना है कि कृष्ण का शरीर श्याम है, मुख कमल के समान है, चाल अत्यंत मनोहर है तथा मुस्कान विमुग्ध करनेवाली है और इस सुन्दर रूप का दर्शन करने की अभिलाषावश ही ये आँखे प्यास से मरी जा रही हैं।

पद ११६. ऊधौ भली करी अब आए

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपिकाएं उद्धव पर व्यंग्य कर रही हैं।

शब्दार्थ—बिधि-कुलाल—विधाता रूपी कुम्हार। काँचे—कच्चा। पर-जारनि—जलाना, जलन।

भावार्थ—गोपियाँ व्यंग्य करती हुई कह रही हैं कि हे उद्धव तुमने इस समय ब्रज में आकर हम सब पर बड़ी कृपा की है क्योंकि कुम्हार जिस प्रकार पहले कच्चे घड़े बनाता है उसी प्रकार ब्रह्मारूपी कुम्हार ने हम ब्रजबालाओं को कच्चे घड़े के समान अर्थात् अत्यंत कोमल स्वभाववाली बनाया था और तुमने यहाँ आकर निर्गुण ज्ञान की तीक्ष्ण अग्नि से हमें उसी प्रकार पक्का कर दिया है जिस तरह कुम्हार तेज आग में घड़े पकाता है। गोपियों का कहना है कि कृष्ण ने हमारे मनरूपी घड़ों पर अपनी लीला एवम् विनोद के विविध प्रणय-व्यापारों द्वारा अनेक रंग के चित्र चित्रित किये थे और वियोग जन्य कष्ट के कारण प्रवाहित होनेवाली निरंतर अश्रुधारा से भी घड़े ये सुरक्षित बने रहे कारण कि कृष्ण अपने आने की अवधि बतला गये थे तथा इस आशा ने हमारी उसी प्रकार रक्षा की जैसे अटारी अपने नीचे रखे हुए घड़ों की जल-

धारा से रक्षा करती है। यहाँ कृष्ण के आने की अवधि को अटारी माना गया है और इस प्रकार गोपियों का कहना है कि कच्चे घड़े रूपी हमारा मन अश्रु-जल के गलने से इसीलिए बच सका क्योंकि कृष्ण अपने आने की अवधि हमसे कह गये थे। गोपियों का कहना है कि कृष्ण तो स्वयं गोकुल आये नहीं लेकिन उन्होंने तुमको यहाँ भेज दिया तथा तुमने इस ब्रज को कुम्हार का आँवा बनाकर उसमें योगाभ्यास के उपदेश का ईंधन रख सुरति अर्थात् एकाग्रचित्तता की अग्नि सुलगा दी और कृष्ण-विरह में जो हमारी तीव्र श्वांस चल रही है उसने इस अग्नि को और भी अधिक प्रज्ज्वलित कर दिया। इतना ही नहीं कृष्ण-दर्शन की आशा रूपी चाक में तुमने हमें फिराया है जिससे कि वे भली-भाँति चारों ओर से पक गये और अब पक्के हो जाने पर प्रेम-जल परिपूर्ण हैं तथा इन्हें अभी किसी ने स्पर्श नहीं किया है। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति की ओर गोपियों का मन नहीं गया। गोपियों का कहना है कि इस घड़े का उपयोग करने के पूर्ण अधिकारी कृष्ण ही हैं लेकिन वे तो राज्य-कार्य के लिए मथुरा गये हुए हैं और अब हम यही सोचती हैं कि क्या वे कभी अपना दर्शन देकर हमें कृतकृत्य करेंगे !

टिप्पणी—गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि उद्धव ने जो उन्हे निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया है उससे हमारे मन में और भी अधिक दृढ़ता आ गयी है तथा अब हम इसी निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि कृष्ण के दर्शन से ही हमें शांति प्राप्त हो सकेगी।

अलंकार—सांगरूपक।

पद ११७. जो पै हिरदय माँझ हरी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ अपनी विरह-भावना व्यक्त कर रही हैं।

शब्दार्थ—हिरदय—हृदय। माँझ—मध्य, में। अवज्ञा—उपेक्षा, निरादर। दहन—जलना, जलन। निकसि—निकलकर। सीत—ठंड, ठंडक। अनख—क्रोध, खिन्नता।

भावार्थ—चूँकि उद्धव ने ब्रजबालाओं से कहा था कि कृष्ण तो तुम्हारे हृदय में ही हैं अत इस सम्बध मे गोपियो का कहना है कि कृष्ण यदि हमारे

हृदय म हो ह तो उनस हमारी इतनी उपेक्षा कस सहन की जाती है क्योंकि इसक पूव तो उन्होंने कभी भी इतनी निष्ठुरता नहीं दिखायी थी। गोपियाँ कह रही हैं कि जब वन में दावाग्नि लगी थी तब उन्होंने उसे पीकर हमारी रक्षा की थी लेकिन अब हम सब ब्रजबालाएँ वियोगाग्नि में जल रही हैं और वे हमारे हृदय में ही बैठे हुए कुछ भी नहीं कर रहे हैं जब कि उन्हें चाहिए कि वे हमारे हृदय से निकलकर हमें अपने प्रेम-वारि से शीतल करें। इस प्रकार हम यह कैसे स्वीकार कर लें कि कृष्ण मथुरा में न होकर हमारे हृदय में हैं। वे पुनः कहती हैं कि नित्य-प्रति इन्द्र हमारे नेत्रों के द्वारा जल बरसाया करता है और एक घड़ी के लिए भी हमें चैन नहीं मिलता जिससे कि हम सब गोपियाँ अत्यंत भयभीत हो रही हैं तथा हमारा सारा शरीर भीग रहा है लेकिन कृष्ण पहले की तरह हाथ मे गोवर्द्धन पर्वत उठा कर हमारी रक्षा नहीं करते हैं अतः इससे भी स्पष्ट है कि वे हमारे हृदय में नहीं हैं। जिस प्रकार हाथ में कंगन होते हुए दर्पण देखने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि कंगन में ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ जाता है उसी प्रकार जबकि हमारी दशा स्पष्ट है और सभी जानते हैं कि हम कृष्ण के वियोग में अत्यन्त दुःखी हैं, अतः यह कहना उचित नहीं है कि कृष्ण हमारे हृदय में हैं। गोपियों का कहना है कि हम विरहिणी ब्रजबालाएँ यों ही विरह के कारण मरी जा रही हैं उस पर तुम्हारे इस योग के संदेश से हमें जीवित रहने की आशा बहुत ही कम रह गयी है क्योंकि अभी तक तो इस आशा से कि कृष्ण के दर्शन हमें प्राप्त होंगे हमारे प्राण शरीर में अटके हुए थे, लेकिन तुम्हारे इस योग के संदेश से तो शायद ही हमारे प्राण बच सकें।

पद ११८. ऊधव हमें कहा समुझावहु

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपांगनाएँ उद्धव से वृन्दावन की दशा देखने के लिए कह रही हैं जिससे कि वे यह समझ जायँ कि ब्रज में किस प्रकार विरह की घटाएँ छायी हुई हैं।

शब्दार्थ—सुरभी—गाय।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हमें कुछ भी समझाने की अपेक्षा उचित तो यह होगा कि आप वृन्दावन जाकर वहाँ के पशु-पक्षी तथा

गायो की दशा अपने आखो और कानो से देख सुन आइए आप स्वय ही यह देखगे कि कृष्ण के वियोग म गौएँ तृण नही चरती तथा उनके बछड़ दूध नहा पीते और इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे है। इसका अर्थ यह है कि गायों को भी उन दिनों की याद आ रही है जब कृष्ण उन्हें चराने ले जाया करते थे लेकिन आज उनके मथुरा में बस जाने के कारण वे शोकाकुल हो तृण भी ग्रहण नही करतीं। इतना ही नहीं भ्रमर और कोयल आदि पक्षी भी भयानक शब्द बोल रहे हैं तथा यमुना नदी भी कृष्ण के विरह में अंधे क्षीण रोगी के समान काली पड़ गयी है। साथ ही वृक्ष भी उदासीनतावश श्याम-विरह में अपने पत्र रूपी वस्त्रों को धारण नहीं कर रहे है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो अपनी शोभा का परित्याग कर वे योगी बन गये हैं। गोपियों का कहना है कि गोकुल के सब लोग कृष्ण के वियोग में उसी प्रकार दु:खित हैं जैसे कि जल के बिना मछलियाँ, लेकिन उनके प्राण इसीलिए शरीर नहीं तज रहे है क्योंकि उन्हें आशा है कि कृष्ण लौटकर ब्रज अवश्य आएँगे।

पद ११९. ऊधौ ना हम बिरहिनि ना तुम दास

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव पर तो व्यंग्य कर ही रही ह लेकिन साथ ही स्वयं को भी वे सच्ची विरहिणी नहीं मानतीं।

शब्दार्थ—नीर निरास—जल की ओर से आशा रहित। राजिव—कमल। प्रतिपाली—पालन किया।

भावार्थ—गोपागनाएँ कह रही हैं कि न तो हम वास्तव में सच्ची बिरहिणी ही हैं और न उद्धव कृष्ण के सच्चे अनुचर ही हैं क्योंकि दोनों ने अपने आदर्शो का पूर्णत: पालन नहीं किया। उनका कहना है कि उद्धव हमारे सामने बहुत देर से निर्गुण का उपदेश दे रहे हैं और हम चुपचाप सुन रही हैं तथा हमारे प्राण नहीं निकल रहे हैं; अतएव हम किसी भी भाँति सच्ची विरहिणी नही हो सकतीं क्योंकि यदि हम वास्तव में सच्ची वियोगिनी थीं तो हमें चाहिए था कि इस उपदेश के सुनते ही अपने प्राण तज देतीं कारण कि हमने तो कृष्ण की मन-मोहिनी छबि देखी है और उनके साथ आमोद-प्रमोद भी किया है अत: हम यह कैसे विश्वास कर लें कि कृष्ण अव्यक्त एवं अरूप हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि उद्धव जो अपने को कृष्ण का सच्चा अनुचर बताते हैं

वह भी सत्य नहीं है क्योंकि वह कृष्ण को छोड़कर शून्य आकाश अर्थात् निर्गुण ब्रह्म या अव्यक्त की उपासना का उपदेश दे रहे हैं। इसे यों भी कहा जा सकता है कि सच्चा सेवक वही है जो अपने स्वामी की प्रिय वस्तुओं को नष्ट होने से बचाए लेकिन उद्धव तो गोपियों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देकर और भी अधिक पीड़ा पहुँचा रहे हैं अतः उन्हें कृष्ण का सच्चा दास नहीं माना जा सकता। गोपियाँ कह रही हैं कि जिस प्रकार जल से अलग होने पर मछली उसके वियोग में प्राण दे देती है, पपीहा अनवरत कष्ट उठाने पर भी अपनी अनन्य भावना को नहीं तजता, कमल कीचड़ में रहता है और ब्रह्मा ने उसे जल की ओर से आशा रहित कर दिया है लेकिन वह सूर्य का दोष नहीं मानता परन्तु चन्द्रमा से उदास रहता है उसी प्रकार हमें भी चाहिए था कि हम अपनी प्रेम-भावना में अनन्यता बनाए रखतीं तथा कृष्ण-विरह में अपने प्राण दे देतीं परन्तु हमने ऐसा नहीं किया, अतः हम अपने आप को कैसे सच्ची विरहिणी मान लें। गोपियों का कहना है कि राजा दशरथ ने प्रेम का निर्वाह करने के हेतु अपने प्रियजन (राम लक्ष्मण और जानकी) से बिछुड़ने पर अपने प्राण त्याग दिए लेकिन हमने तो संसार के उपहास की किंचितमात्र भी चिंता नहीं की और कृष्ण से प्रेम करते हुए भी पातिव्रत-धर्म का पालन नहीं किया अर्थात् हमें चाहिए था कि कृष्ण का वियोग होने पर सच्ची प्रेमिकाओं की भाँति अपनी जान दे देतीं।

अलंकार—उदाहरण।

पद १२०. गुप्त मते की बात कहौ जिनि काहू के आगे

अवतारणा—चूँकि विरह में अतीत की उन रस भरी घटनाओं की स्मृति भी हुआ करती है जिन्हें कि भुला देना स्वाभाविक नहीं होता अतः प्रस्तुत पद में एक ब्रजबाला भी इसी प्रकार की एक घटना का वर्णन उद्धव से कर रही है।

शब्दार्थ—कंटक—काँटा। रूख—वृक्ष। बसते—निवास करना, रहना। बिसराई—विस्मृत कर दी, भुला दी।

भावार्थ—एक गोपी कह रही है कि हे उद्धव आज मैं आपसे एक अत्यन्त गुप्त बात कह रही हूँ और आपसे यही प्रार्थना है कि आप उसे किसी दूसरे

के सामने न रह तथा इस बात को बस क्वल मे जार आप ही जान व कहती है कि एक बार वृन्दावन म खेलत समय जब मरे पर मे काटा चुभ गया थ तब कृष्ण ने स्वयं ही दूसरा काँटा लेकर अपने हाथों से उस कंटक को निकार कर मेरी पीड़ा दूर की थी और इसी प्रकार एक दिन वन में घूमते समय मैंने कृष्ण से जब यह कहा कि मुझे भूख लगी है तब पेड़ पर पके हुए फलों को देख कर वे स्वयं ही उस पेड़ पर चढ़ गये और कृपापूर्वक फल तोड़-तोड़ कार मुझे खाने को दिये। इस तरह उस ब्रजांगना का कहना है कि ब्रज में निवास करते समय कृष्ण का हमारे प्रति इसी प्रकार का प्रेम था और वे हमें कभी भी किसी प्रकार दुःखी नहीं रखते थे लेकिन अब तो मथुरा जाकर रहने पर उन्हें हमारी तनिक भी स्मृति नहीं रही और वे यह भी नहीं सोचते कि आखिर उनके बिना गोपियाँ किस प्रकार जीवित रहती होंगी। इसका अभिप्राय यह है कि एक समय तो वह था जब कि कृष्ण गोपियों की क्षुधा निवारण करते थे और उनके चरणों में चुभे हुए काँटे को स्वयं अपने हाथों निकालते थे लेकिन वे उन ब्रजबालाओं को विरह-वारिधि में निमग्न कर इतना भी नही सोचते कि आखिर वे इतना बड़ा दुःख कैसे सहन कर सकेंगी।

पद १२१. सब जल तजे प्रेम के नाते

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ प्रेम की अनन्यता के उदाहरण दे रही हैं।

शब्दार्थ—ताते—इसीलिए। जदपि—यद्यपि। सर—बाण। बपु—शरीर।

भावार्थ—प्रेम की अनन्यता के उदाहरण देती हुई गोपियाँ कह रही हैं कि चातक केवल स्वाति नक्षत्र में बरसा हुआ जल ही ग्रहण करता है तथा अन्य जितने भी जल हैं उनसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता और चाहे उसे अपने प्राण ही क्यों न त्यागने पड़ें लेकिन वह स्वाति जल के अतिरिक्त अन्य दूसरे जल का पान कभी नहीं करता। इसी प्रकार मछली भी जल से अत्यधिक प्रेम करती है और वह उसके बिना एक पल भी नहीं रह सकती भले ही जल उससे प्रेम करे या न करे तथा संगीत की मधुर स्वर-लहरी में मुग्ध हो मृग यह बात जानते हुए भी कि बहेलिया धनुष-बाण लिए उसके प्राण-हरण हेतु

के सामने न कहें तथा इस बात को बस केवल मैं और आप ही जानें। वह कहती है कि एक बार वृन्दावन मे खेलते समय जब मेरे पैर में काँटा चुभ गया था तब कृष्ण ने स्वयं ही दूसरा काँटा लेकर अपने हाथों से उस कंटक को निकाल कर मेरी पीड़ा दूर की थी और इसी प्रकार एक दिन वन में घूमते समय मैंने कृष्ण से जब यह कहा कि मुझे भूख लगी है तब पेड़ पर पके हुए फलों को देख कर वे स्वय ही उस पेड़ पर चढ़ गये और कृपापूर्वक फल तोड़-तोड़ कर मुझे खाने को दिये। इस तरह उस ब्रजांगना का कहना है कि ब्रज में निवास करते समय कृष्ण का हमारे प्रति इसी प्रकार का प्रेम था और वे हमे कभी भी किसी प्रकार दुःखी नहीं रखते थे लेकिन अब तो मथुरा जाकर रहने पर उन्हे हमारी तनिक भी स्मृति नही रही और वे यह भी नहीं सोचते कि आखिर उनके बिना गोपियाँ किस प्रकार जीवित रहती होगी। इसका अभिप्राय यह है कि एक समय तो वह था जब कि कृष्ण गोपियों की क्षुधा निवारण करते थे और उनके चरणों में चुभे हुए काँटे को स्वयं अपने हाथों निकालते थे लेकिन वे उन ब्रजबालाओ को विरह-वारिधि मे निमग्न कर इतना भी नही सोचते कि आखिर वे इतना बड़ा दुःख कैसे सहन कर सकेंगी।

पद १२१. सब जल तजे प्रेम के नाते

अवतारणा—प्रस्तुत पद मे गोपियाँ प्रेम की अनन्यता के उदाहरण दे रही है।

शब्दार्थ—ताते—इसीलिए। जदपि—यद्यपि। सर—बाण। बपु—शरीर।

भावार्थ—प्रेम की अनन्यता के उदाहरण देती हुई गोपियाँ कह रही हैं कि चातक केवल स्वाति नक्षत्र में बरसा हुआ जल ही ग्रहण करता है तथा अन्य जितने भी जल हैं उनसे उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता और चाहे उसे अपने प्राण ही क्यों न त्यागने पड़ें लेकिन वह स्वाति जल के अतिरिक्त अन्य दूसरे जल का पान कभी नहीं करता। इसी प्रकार मछली भी जल से अत्यधिक प्रेम करती है और वह उसके बिना एक पल भी नहीं रह सकती भले ही जल उससे प्रेम करे या न करे तथा संगीत की मधुर स्वर-लहरी में मुग्ध हो मृग यह बात जानते हुए भी कि बहेलिया धनुष-बाण लिए उसके प्राण-हरण हेतु

बैठा है वह अपने संगीत-प्रेम को नहीं तजता। साथ ही चकोर क्षण-मात्र को भी अपने नेत्र अपने प्रिय चन्द्रमा की ओर से नहीं हटाता और चाहे उसे ऐसा करते हुए युगों बीत जायें तथा उसे अपने प्रिय का सान्निध्य न प्राप्त हो लेकिन वह उस ओर देखता ही रहता है। इतना ही नहीं दीपक की ज्योति से प्रेम करने वाला पतंग अपना शरीर प्रिय-मिलन की चाह में जला डालता है परन्तु अपने प्रेम में न्यूनता नहीं आने देता। इस प्रकार गोपियाँ कह रही है कि हे भ्रमर अब तुम्हीं यह बताओ कि हमारे साथ श्रीकृष्ण ने जो रसपूर्ण वार्तालाप किये हैं उन्हें हम कैसे भुला सकते हैं और केवल इस एक शरीर के मोहवश हमारा उन्हें भूल जाना भी उचित नहीं है। गोपिकाओं के कहने का अभिप्राय यह है कि जब प्रेम के लिए चातक, मीन, मृग, चकोर और पतंग अपना प्राण तक देने को तत्पर रहते है तब हमीं कैसे अपने प्रण से पीछे हों अर्थात् हमें भी कृष्ण के प्रति सर्वदा प्रेम-भावना रखनी चाहिए भले ही वे हमें भूल जाएँ।

पद १२२. ऊधौ जो हरि हितू तुम्हारे

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव से कृष्ण तक अपनी एक प्रार्थना पहुँचाने के लिए कह रही हैं।

शब्दार्थ—हितू—हितैषी, शुभचिन्तक। दवा—अग्नि। सिरात—शीतल या ठंडा होना। जतन—कोशिश। कीर—तोता। कपोत—कबूतर। बिडारे—भगा दिया है।

भावार्थ—गोपिकाएँ उद्धव से कह रही है कि कृष्ण यदि वास्तव में तुम्हारे सच्चे शुभचिन्तक हों तो तुम कृपा करके उनके सामने हमारे सभी कष्टों का वर्णन कर देना। तुम उनसे कह देना कि हमारे शरीर रूपी वृक्ष को वियोग रूपी अग्नि मानस की आह रूपी हवा के जोर से प्रज्वलित कर रही है और यह आग न तो शीतल ही होती है और न यह शरीर रूपी वृक्ष ही जलकर राख होता है बल्कि वह तो सुलग-सुलग कर काला कोयला हो गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यह शरीर वियोगाग्नि के कारण अत्यधिक पीड़ित है और उसे तनिक भी शांति नहीं प्राप्ति होती। गोपियों का कहना है कि यद्यपि प्रेमवाष्प से उमड़ते हुए नेत्र रूपी मेघ इस अग्नि को बुझाने के लिए

निरतर बरसते हैं लेकिन वे भी इस वियोगाग्नि को शीतल नही कर पाते अर्थात् हम आठों याम आँसू बहाने पर भी अपने आपको सांत्वना नही दे पाती। ब्रजागनाएँ कह रही है कि इस प्रकार अनेक प्रयत्नों से हमने अपने शरीर रूपी वृक्ष को सींचा और उसकी रखवाली की है तथा वियोग रूपी बहेलियों ने इस पर से अर्थात् हमारे शरीर पर से तोते, कबूतर, कोयल और खजन पक्षियों को भी भगा दिया है। यहाँ तोते से अभिप्राय है नासिका, कबूतर से ग्रीवा का, कोयल से कंठ का और खंजन से नेत्र का तथा इस प्रकार गोपियों का अभिप्राय है कि इस वियोगावस्था में उनके शरीर की सुन्दरता भी नष्ट हो गयी है। गोपांनाओं का कहना है कि उद्धव कृष्ण से जाकर यह पूछें कि आखिर इन परिस्थितियों में ब्रजवासी भला किस प्रकार जीवित रह सकते हैं क्योंकि दिन-प्रति-दिन कृष्ण के वियोग में उनका शरीर क्षीण होता जा रहा है।

अलंकार—विशेषोक्ति, सांगरूपक और रूपकातिशयोक्ति।

पद १२३. मधुकर कौन मनायो मानै

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियों ने ज्ञानमार्गी योग-साधना की अपेक्षा सगुण-भक्ति को अधिक श्रेष्ठ माना है।

शब्दार्थ—अविनासी—जिसका विनाश न हो, नित्य। अगम—अगम्य। अगोचर—जो दिखाई न दे। प्रीतिरस—प्रेम-भावना। सयाने—चतुर, ज्ञानी। बौराने—पागल। परवाना—पतंगा। लीला—चरित्र, क्रीड़ा, विनोद। समाने—मग्न।

भावार्थ—गोपिकाएँ कह रही हैं कि हे भ्रमर अर्थात् उद्धव भला कोन किसके समझाने से मानता है जब तक कि उसे स्वानुभूति न हो। उनका कहना है कि जो ब्रह्म अविनाशी, अगम्य तथा अदर्शनीय है वह प्रेम के रस को कैसे समझ सकता है क्योंकि जिसका नाश ही नहीं होता उसके लिए प्रेम कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है तथा जिसके पास पहुँच ही न हो सके भला वह प्रेम क्या करेगा और जो दिखाई न दे उससे प्रेम कैसे किया जा सकता है अत. इस प्रकार गोपियों की दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म की उपासना व्यर्थ ही है क्योंकि भक्ति में श्रद्धा और स्नेह आवश्यक हैं तथा अविनाशी, अगम्य तथा अदर्शनीय पात्र के प्रति श्रद्धा एवं स्नेह का जाग्रत होना संभव नहीं है। इसलिए वे

उद्धव से कहती है कि वे अपना ज्ञान, समाधि एवं योग उन्हीं को सिखाएँ जो कि इसे समझ सकते हों तथा हम ब्रजवासी तो कृष्ण के वियोग रूपी वायु से इसी प्रकार पागल रहेंगी अर्थात् हम पर तो इस निर्गुण-साधना का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। उनका कहना है कि जागते, सोते, स्वप्न देखते अर्थात् रात-दिन हम तो कृष्ण को उसी प्रकार प्रेम करती रहेंगी जैसा शलभ दीपज्योति से करता है। ब्रजबालाएँ कह रही है कि हम कृष्ण की बाल्यावस्था, कुमारावस्था एवं किशोरावस्था की लीलाओं के शोभा-सागर में मग्न है तथा हम लोगों के तन, मन और प्राण श्यामसुन्दर की एक मुस्कान मात्र पर बिके हुए हैं अर्थात् यदि कृष्ण हमारी ओर देखकर जरा सा मुस्करा दें तो हम अपना तन, मन, प्राण सभी न्यौछावर कर सकती है। गोपियों का कहना है कि हम कृष्ण के अगाध रूप-सागर में इस प्रकार मग्न है जैसे जल की एक छोटी बूँद समुद्र में विलीन हो जाती है और जिस प्रकार उसे सागर से पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार अब हमारा भी कृष्ण से इस तरह एकीकरण हो गया है कि हमें उनसे विलग नहीं किया जा सकता।

अन्य विशेषताएँ—स्मरण रहे उद्धव ने गोपियों को निर्गुणोपासना का उपदेश देते हुए कहा था कि ज्ञानमार्ग में योग के माध्यम से अव्यक्त और अनिर्वचनीय ब्रह्म में जीव मुक्ति प्राप्त करता है अतः गोपिकाओं का कहना है कि इससे तो सुन्दर यह होगा कि भक्ति द्वारा सौन्दर्य रूपी परमात्मा में आत्मा लय हो जाय जो कि उपासना की अधिक सहज पद्धति है। चूँकि प्रेम योग द्वारा गोपियाँ श्रीकृष्ण में लीन हो चुकी थी अतः अब उनकी दृष्टि में योग-साधना के प्रपंचो में पड़ने की कोई आवश्यकता न थी।

पद १२४. कहाँ लौ कीजे बहुत बड़ाई

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपिकाएँ निर्गुण ब्रह्म की अनुपादेयता पर तार्किक दृष्टि से विचार कर रही हैं।

शब्दार्थ—मनसा—मन। बरन—वर्ण, रूपरंग। भीति—लेखपट।

भावार्थ—गोपियाँ व्यंग्यात्मक स्वर में कह रही हैं कि हम निर्गुण ब्रह्म की प्रशंसा कहाँ तक करें क्योंकि वह तो अगाध, अगम्य, अगोचर एवं मन की पहुँच के परे है तथा उसके रूप रेखा वर्ण शरीर मित्र सहायक आदि कुछ

भी नही है लकिन इस प्रकार का अव्यक्त निगुण ब्रह्म हमारे प्रम का आधार भला कैसे हो सकता है क्योंकि अशरीरी होने के कारण उससे तो हमारा प्रेम हो ही नहीं सकता। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेम तो रूप से ही होता है लेकिन ब्रह्म तो अरूप है अतः उससे प्रेम का निर्वाह असम्भव ही है। वे पुनः कह रही हैं कि जिस प्रकार जल के बिना तरंगों का अस्तित्व नही है, बिना लेखपट के लेख और चित्त के बिना चतुराई की कल्पना असम्भव है क्योंकि उसमें मन को टिकाना सम्भव नहीं है। गोपियों का कहना है कि उद्धव ने हमें उस अव्यक्त ब्रह्म से प्रेम करने का उपदेश देकर सर्वथा एक नयी बात ब्रजवासियों को सुनाई है जिसकी कि हमने कभी कल्पना भी नहीं की थी परन्तु हमारे मन में तो कमल-दल के समान नेत्रों वाली सर्वदा सुखदायी कृष्ण की छबि उलझी हुई है अर्थात् बसी हुई है अतएव अब हम अपने मन में निर्गुण ब्रह्म को स्थान कहाँ से दे सकती हैं।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में कवि का कहना है कि अव्यक्त और निर्गुण ब्रह्म प्रेम का अवलम्ब हो ही नहीं सकता तथा जब वह मन का आधार नहीं हो सकता तब उसके साथ मन का निर्वाह असंभव ही है। साथ ही उसमे तो मन लगाया ही नहीं जा सकता कारण कि वह तो रूप और गुण का अभ्यासी है तथा निर्गुण ब्रह्म रूप गुण से रहित है। इस प्रकार गोपियों की दृष्टि में बिना आधार के आधेय की कल्पना जिस प्रकार असंभव ही है उसी प्रकार बिना सगुण ब्रह्म के उपासना भी संभव नहीं है। रत्नाकर जी ने भी 'उद्धव शतक' में गोपियों से कहलाया है—

कर-बिनु कैसे गाय दुहिहै हमारी वह
पद-बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहै।
कहै रतनाकर बदन-बिनु कैसे चाखि
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइहै॥
देखि सुनि कैसे दृग स्रवन बिना ही हाय
भोरे ब्रजबासिनि की बिपति गवराइहै।
रावरौ अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म
ऊधौ कहौ कौन धौ हमारे काम आइहै॥

पद १२५. ऊधौ कहा मति दीनी हमहिं गोपाल

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ निर्गुणोपासना की अपेक्षा कृष्ण-प्रेम मे लीन रहना अधिक उपयुक्त समझती हैं।

शब्दार्थ—मति—शिक्षा, सीख। जावदेक—जितना भी। पट्पद—उद्धव, भ्रमर। काहुहि—किसी को भी।

भावार्थ—व्रजबालाएँ कह रही हैं कि यदि कृष्ण ने निर्गुणोपासना की शिक्षा दी है तो हमें अब चाहिए कि हम सब मिलकर कृष्ण की प्राप्ति का उपाय सोचें अतः घर और बाहर जितनी भी सखियाँ हों वे सब यहाँ एकत्र हो जायँ। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि यदि निर्गुण ब्रह्म की साधना से ही कृष्ण मिल सकते है तो हम सब यही मार्ग ग्रहण करें क्योंकि हमारा उद्देश्य तो प्रियतम कृष्ण की प्राप्ति ही है। गोपियाँ परस्पर वार्तालाप करती हुई कह रही हैं कि हे सखियों तुम सब पद्मासन की मुद्रा में बैठकर अपने-अपने नेत्रों को बंद कर लो तथा जो कुछ उद्धव ने कहा है वह भी करके देख लो कि इससे हमारे प्रियतम हमसे मिलते हैं या नहीं। इसके पश्चात् वे पुनः कहती है कि इस भ्रमर अर्थात् उद्धव ने जो कुछ कहा था वह भी हमने करके देख लिया लेकिन हमें कमलनयन श्रीकृष्ण का दर्शन नहीं हुआ। सूरदास जी कह रहे हैं कि इतना कहने के बाद गोपियाँ पुनः विरह-सागर में निमग्न हो गयी और उन्हें अपनी सुधि न रही अर्थात् वे सब कृष्ण के प्रेम मे बेसुध हो गयी। कृष्ण के प्रति गोपियों का इस प्रकार पूर्ण प्रेम देखकर उद्धव भी मौन रहे और कुछ न कह सके लेकिन जिस समय वे सब बेसुध हो रही थीं उसी समय पपीहे की 'पी पी' की पुकार सुनायी पड़ने के कारण गोपियों की विस्मृत चेतना पुनः लौट आयी और उन्हें अपने प्रियतम की याद आ गयी तथा वे उस पपीहे से कहने लगीं कि तू हमें फिर से वही शब्द सुना, कारण कि तूने इसे सुनाकर हम मृत विरहिणियों को पुनः जीवन दान दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि चातक की टेर सुनकर गोपियों को यह चेतना हुई कि उसकी भाँति प्रेम-पथ मे दृढ-व्रती होना आवश्यक है और चाहे कितने भी कष्ट क्यों न सहना पड़े लेकिन ध्येय से विचलित न होना चाहिए।

पद १२६. इहि बिधि पावस सदा हमारे

प्रस्तुत पद में कवि ने वर्षा ऋतु मे प्रकृति की समस्त मुख्य

बातो तथा दशाओ को वियोग-विह्वला ब्रजबालाओ पर घटित करते हुए दोनो में सादृश्यता अंकित की है।

शब्दार्थ—पावस—वर्षा। द्युति दामिनि—बिजली की चमक।

भावार्थ—गोपांगनाएँ उद्धव से कह रही हैं कि कृष्ण के वियोग में हमारे यहाँ हमेशा वर्षा-ऋतु ही बनी रहती है अर्थात् हम बराबर रोया करती है। उनका कहना है कि हमारे हृदय से निकली हुई आहें ही पुरवैया हवा है जो कि एक ही स्थान पर एकत्र हो गयी है तथा काली और सफेद आँखें ही वे श्वेत-श्याम बादल हैं जो कि अश्रुओं के रूप मे जल-वृष्टि कर रहे हैं। उनका कहना है कि निरन्तर रोते रहने के कारण हमारे नेत्र भी लाल पड़ गये है अतः पलकों की वह लालिमा ऐसी प्रतीत होती है मानो विद्युत् का प्रकाश हो तथा हम जो बार-बार प्रियतम का नाम रटा करती है वही मानो मेघो की गरज है। गोपियाँ कह रही है कि जिस प्रकार वर्षा ऋतु में पपीहा, मेंढक तथा मोर आदि प्रकट होकर आवाज किया करते हैं उसी प्रकार इस पावस में भी ये सभी ब्रज-भूमि में रह रहे हैं तथा ये तभी से यहाँ हैं जब से कि श्याम हमारे नेत्रों के हितकारी तारे बने थे। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि जब से हमारे हृदय में कृष्ण के प्रति प्रेम-भावना उत्पन्न हुई तभी से इनसे हमारा परिचय है। इस प्रकार उनका कहना है कि अब हम किससे अपनी दशा का वर्णन करें और किसे इस ब्रज का व्यवहार ही सुनाएँ कि किस प्रकार इस तरह आठोयाम पावस ऋतु बनी रहने से हमें कितनी अधिक पीड़ा होती है। गोपियाँ कह रही हैं कि हमें तो अपनी यह दशा तुम्हीं से न कहनी चाहिए थी क्योंकि इससे हमें लाभ तो कुछ हुआ नहीं अर्थात् तुम जैसे शुष्क नीरस हृदय वाले व्यक्ति से हमें तनिक भी सांत्वना नहीं मिली और इसके विपरीत पश्चाताप ही करना पड़ा।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में सूरदास जी ने वर्षा का रूपक खींचते हुए गोपियो की विरह-भावना का चित्रण किया है। रत्नाकर जी के उद्धव शतक में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है—

रहित सदाई हरियाई हिय-घायनि मैं
उरध उसास सो झकोर पुरवा को है

पीव पीव गोपी पीर-पूरति पुकारति है।
　　　　सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है॥
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ
　　　　उठै चित्त मैं चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनश्याम धाम धाम ब्रज मंडल मैं
　　　　ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है॥

अलंकार—सांग रूपक।

पद १२७. ऊधौ उदित भयो दुख तरनि

अवतारणा—प्रस्तुत पद में माता यशोदा उद्धव से अपनी दुःख गाथा कह रही हैं।

शब्दार्थ—तरनि—सूर्य। नंदघरनि—यशोदा। चरनि—चरना। झरनि—झड़ी, अश्रुधारा। जरनि—जलन, पीड़ा, दुःख। जसुमति—यशोदा।

भावार्थ—यशोदा उद्धव से कह रही हैं कि कृष्ण के चले जाने से हमारा दुःख रूपी सूर्य उदय हुआ है जिसके कि कारण ब्रज की सभी लताएँ सूख गयी हैं। यहाँ ब्रज की लताओं का दूसरा अर्थ गोपियों से समझना चाहिए और इस प्रकार इस पंक्ति का यह अर्थ किया जा सकता है कि कृष्ण के चले जाने पर ब्रज में चारों ओर दुःख ही दुःख छा गया है तथा उससे गोपियाँ भी सूखकर क्षीण होती जा रही हैं। यशोदा पुनः कहती है कि इस शोक-सूर्य के उदय होने से सबके कमल सदृश्य मुख कुम्हला गये हैं तथा गायों ने चरना तक छोड़ दिया है और अब लोगों की सुखरूपी सम्पदा खो गयी है तथा नेत्रों से आँसुओं की अविरल धारा बह रही है। उनका कहना है कि हमारे हृदय की पीड़ा तभी मिट सकती है जब कि कृष्ण के सुन्दर शीतल चन्द्रमुख का दर्शन हमें प्राप्त हो। सूरदास जी कह रहे हैं कि इस प्रकार यशोदा जी अपने पुत्र का पूर्व-स्नेह स्मरण कर दुखित हो पृथ्वी पर मुच्छित होकर गिर पड़ीं।

पद १२८. ऊधौ तुम हौ अति बड़ भागी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव के शुष्क और नीरस हृदय पर व्यग्य कर रही हैं।

शब्दार्थ—अति बड़भागी—अत्यंत भाग्यशाली। अपरस

तगा—लगाव, सम्बंध। अनुरागी—प्रेमी, स्नेही। पुरइन—कमल। भोरी—सरल हृदया, भोली, सीधी।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि तुम तो अत्यंत सौभाग्यशाली व्यक्ति हो जो कि प्रेम-सम्बंधों से हमेशा पृथक् रहते हो और कभी भी किसी पर तुम्हारा मन आसक्त नहीं होता। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि जो प्रेम करता है वही प्रेमी के हृदय की दशा भी समझ सकता है लेकिन उद्धव के मन में किसी के भी प्रति अनुराग या प्रेम नहीं है अतः वे गोपियों की दशा कैसे समझ सकते हैं! वे पुनः कहती हैं कि जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी जल के प्रभाव से शून्य रहता है अर्थात् उस पर जल का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार उद्धव भी कृष्ण के समीप रहते हुए भी कृष्ण के प्रेम-रस से निर्लिप्त ही हैं। साथ ही जिस प्रकार जल के मध्य तेल से भरी गागर उलट देने पर भी तेल और जल एक में नहीं मिल पाते उसी प्रकार उन पर भी प्रेम का प्रभाव पड़ना असंभव ही है। गोपियाँ कह रही हैं कि उद्धव ने न तो कभी प्रेमरूपी सरिता में अपने पाँव ही डुबोये है और न उनकी दृष्टि ही कृष्ण के प्रेम रूपी पराग में सनी हैं अतः वे प्रेम के इस गूढ़ तत्त्व को भला कैसे समझ सकते हैं। इस प्रकार गोपियों का कहना है कि हम तो अबला और सीधे स्वभाव की नारी है अतः छल प्रपंच कुछ भी नही जानतीं तथा जिस प्रकार चीटियाँ गुड़ से लिपटी रहती हैं उसी प्रकार हम भी कृष्ण की रूप-माधुरी में अनुरक्त हैं।

अलंकार—उदाहरण।

पद १२९. मधुकर तुम हौ स्याम सखाई

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपांगनाएँ उद्धव के उपदेशों पर व्यंग्य कर रही हैं।

शब्दार्थ—सखाई—मित्र, सखा। बकसियो—क्षमा करो। ढिठाई—धृष्टता। रंक—निर्धन, गरीब। अथाई—मंडली, सभा, बैठक। तरनी—नाव, नौका। तरैया—तारे। आरि—हठ, जिद। अगियाई—दाह या जलन उत्पन्न करने वाली।

भावार्थ—उद्धव को लक्ष्यकर गोपियाँ भ्रमर से कह रही हैं कि तुम तो कृष्ण के सखा हो अत हम तुम्हारे पैं' पडकर यह प्रार्थना कर रही हैं कि

हमारी इस धृष्टता के लिए हमे क्षमा कर देना। इसके पश्चात् वे पुनः कहती हैं कि हमें यह तो बताओ कि सोते समय स्वप्न में पायी हुई सम्पत्ति का उपयोग भला कौन दरिद्र कर पाता है तथा धुएँ के घर में कहाँ और किसके यहाँ बैठक हो सकी है ? साथ ही जल बिन्दुओं की माला अपने हाथों से कौन गूँथ पाया है और कागज की नाव बना कर कौन पार जा सका है तथा आकाश के तारे तोड़ कर किसने अपने घर में रखे हैं ? इसी प्रकार किसने उड़ती हुई सोने की चिड़िया को डोरी में बाँध कर खिलाया है तथा किस अबला स्त्री ने योग और समाधि लगा कर व्रत धारण किया है ? गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार ये सब बातें असंभव हैं उसी प्रकार हमारे लिए भी निर्गुण ब्रह्म की उपासना असंभव ही है और इस बात का तनिक भी विश्वास नहीं है कि ऐसा करने पर हमें कृष्ण मिल सकेंगे। गोपिकाएँ कह रही हैं कि हमारा तो यही दृढ़ संकल्प है कि कृष्ण की मन-मोहिनी छवि के दर्शन किये जायँ और वास्तव में वियोग की ही दाहक अग्नि हमारे हृदय में जल रही है इसलिए बारबार निर्गुण ब्रह्म की प्रशंसा करने में आपकी क्या बड़ाई है। सूरदास जी कह रहे हैं ब्रज की युवतियों का कृष्ण के प्रति कितना प्रेम था, यह कहा नहीं जा सकता कारण कि वह तो अवर्णनीय ही है।

अलंकार—दृष्टांत।

पद १३०. ऊधौ बिरहौ प्रेम करै

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव से यह कह रही हैं कि सत्य प्रेम बिना विरहानुभव के प्रकट नहीं होता अर्थात् प्रेम में संयोग और वियोग दोनो ही पक्ष आवश्यक हैं।

शब्दार्थ—पुट—मेल, भावना। पट—वस्त्र। गहत—ग्रहण करना। रसहि परै—रसीला हो जाता है, सुन्दर हो जाता। आवौं—कुम्हार का आवाँ। अनल—अग्नि। अमिय—अमृत। रन—रणक्षेत्र। सर—बाण।

भावार्थ—गोपिकाएँ कह रही हैं कि विरह में ही प्रेम की वृद्धि होती है अर्थात् वियोगावस्था में ही वास्तविक प्रेम की अनुभूति होती है। जिस प्रकार रंग में फिटकरी आदि मिला देने से वस्त्र का रंग अधिक सुंदर एवम् चमकदार हो जाता है, पृथ्वी में पड़ा हुआ बीज अंकुर से घिर जाने पर अर्थात्

अकुर फूटने पर सैकडो फल देने योग्य हो जाता है कुम्हार के आवा में अपना शरीर जलाकर घड़ा अमृत धारण करने योग्य होता है, अर्थात् घड़ा इतना पक्का हो जाता है कि उसमें द्रव पदार्थ रखे जा सकते हैं। वीर पुरुष युद्धक्षेत्र मे लडते समय सम्मुख बाण सहन कर सूर्य के रथ पर बैठने का अधिकारी होता है अर्थात सूर्य लोक जाता है। उसी प्रकार प्रेम के पथ पर चलकर कोई भी दुःख मे नही डरता। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण प्रेम के पथ पर चलते समय हमें विरह जन्य दुःखों से भयभीत न होना चाहिए क्योंकि विरह मे चाहे कितना ही क्लेश और दुःख क्यों न सहन करना पड़े लेकिन अंत में उससे प्रेम का उत्कर्ष ही प्रकट होता है।

टिप्पणी—चूंकि जब तक वस्त्र पर पुट नहीं दिया जाता तब तक उस पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता और जब तक बीज मिट्टी में गल नहीं जाता तब तक न तो अंकुर ही निकलते हैं और न फल ही लग सकते हैं तथा जब तक घडा अग्नि मे जल कर पक नहीं जाता तब तक उसमें पानी नहीं भरा जा सकता अतः इस प्रकार जब तक कोई व्यक्ति विरह-व्यथा का अनुभव नही कर लेता—रो नहीं लेता—तब तक उसके अदर सच्चा प्रेम भी प्रकट नही हो सकता। स्मरण रहे सभी संत भगवान् के वियोग की अपने हृदय में तीव्र रूप से अनुभूति करते रहे है अतः वे प्रभु के सच्चे प्रेमी भी बन सके। कबीर ने लिखा भी है—

> **बिरहा बुरहा जिनि कहौ बिरहा है सुलितान।**
> **जिस घटि बिरह न संचरै सो घट सदा मसान॥**

और भी—

> **कबीर हँसब दूर करि, करि रोवण सौं चित्त।**
> **बिना रोयां क्यूं पाइये प्रेम पियारा मित्त॥**

श्री सुमित्रानंदन पंत को तो विरह भी वरदान ही जान पड़ता है—

> **विरह है अथवा यह वरदान**
> **कल्पना में है कसकती वेदना**
> **अश्रु में जीता सिसकता गान है**
> **शून्य आहों में सुरीले छंद हैं**
> **मधुर लय का क्या कहीं ... है?**

वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान

अलंकार—उदाहरण।

पद १३१. हमारे हरि हारिल की लकरी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य प्रेम-भावना प्रकट कर रही हैं।

शब्दार्थ—हारिल—एक पक्षी जो अपने पंजे में कोई लकड़ी या तिनका लिए रहता है। उसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह धरती पर कभी नहीं बैठता तथा इसी से बैठने के लिए चंगुल में लकड़ी लिये रहता है और उसे कभी नहीं छोड़ता है।

भावार्थ—ब्रजबालाएं कह रही हैं कि हमारे लिये कृष्ण हारिल पक्षी की लकड़ी के समान हैं अर्थात् जिस प्रकार हारिल पक्षी अपने चंगुल की लकड़ी कभी नही छोड़ता उसी प्रकार हम भी कृष्ण को अपने से अलग नहीं कर सकतीं तथा हमने मन, वाणी और कर्म से उन्हें अपने हृदय में दृढ़ करके पकड़ रखा है। गोपियों का कहना है कि जागते, सोते, स्वप्न में और दिन-रात हमें कृष्ण-कृष्ण की ही धुन लगी रहती है अर्थात् हम हमेशा उनकी याद करती है तथा योग की बात सुनते ही हमें वह ऐसी प्रतीत होती है जैसे कि वह कड़ुवी ककड़ी हो। वे उद्धव से कह रही हैं कि तुम बिना सोच-विचार और देख-भाल के इस निर्गुण व्याधि को हमारे पास ले आये हो तथा तुम यह नहीं जानते हो कि हमारे लिए तुम्हारे उपदेश उपयुक्त नहीं हैं अतः तुम्हें चाहिए कि तुम यह निर्गुण-व्याधि उस व्यक्ति को सौंप दो जिनका कि मन चकरी के समान घूमने वाला और चंचल है। चूँकि हमारा मन एकाग्र और निश्चल है तथा अनन्य रूप से भगवान् कृष्ण में लगा हुआ है अतः हमारे लिये तुम्हारी यह निर्गुण-साधना निरर्थक ही है।

टिप्पणी—भगवान् हारिल की लकड़ी हैं, अंधे की लाठी हैं, बूढ़े थके माँदे प्राणी का अवलम्बन हैं यह भाव ऋग्वेद के ८-४५-२० वे मंत्र में इस प्रकार वर्णित है—

आ त्वा रम्भ न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते।
उश्मसि त्वा सधस्थ आ।

अलंकार—उपमा और रूपक।

पद १३२. हरि हैं राजनीति पढ़ि आये

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ कृष्ण पर व्यंग्य कर रही हैं।

शब्दार्थ—बुधि—बुद्धि। पठाए—भेजा। आगे हू के लोग—पहले के आदमी, हमारे पूर्वज।

भावार्थ—गोपांगनाएँ उद्धव से कह रही है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो कृष्ण ने मथुरा जाकर राजनीति का अच्छा-खासा अध्ययन कर लिया है और यह बात अब हम सबने समझ ली है। गोपियों का कहना है कि कृष्ण पहले ही से बहुत चतुर थे लेकिन अब तो वे अपनी गुरु कुब्जा के घर जाकर नयी राजनीति पढ़ कर आये हैं जिससे कि उनकी बुद्धि इतनी अधिक बढ़ गयी है कि वे हम युवतियों को योग साधना का सदेशा भेज रहे हैं। उनका कहना है कि पहले के आदमी अर्थात् हमारे पूर्वज हमेशा परोपकार ही अपना धर्म समझते थे और दूसरों की भलाई के लिए तत्पर रहते थे लेकिन कृष्ण को इसकी चिन्ता नहीं है और उन्हें कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए था कि चलते समय हमारा जो मन चुरा ले गये थे उसे नियमानुसार हमें वापिस कर देते। गोपियाँ कह रही हैं कि जो दूसरों से अपनी रीति छुड़ाते हैं अर्थात् लोक-लज्जा विमुख कर देते हैं उनसे अपनी नीति के पालन की आशा करना ही व्यर्थ है और साथ ही जैसा कि राजा का यह धर्म माना जाता है कि वह प्रजा का कोई अहित न करे अर्थात् प्रजा किसी भी प्रकार सतायी न जाए उस पर भी कृष्ण ने कोई ध्यान नहीं दिया। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि क्या कृष्ण का राज-धर्म यही है कि उनके राज्य में हम इस तरह बिलख-बिलख कर अपनी जान दे दें। इस प्रकार गोपियाँ कृष्ण पर व्यंग्य कर रही हैं कि उन्होंने बड़ी अच्छी राजनीति पढ़ी है जो कि प्रजा के हित-साधन पर भी ध्यान नहीं देते।

पद १३३. बतियन सब कोऊ समुझावै

प्रस्तुत पद में गोपिकाओं का कहना है कि हमें कोरी बातो

से न बहलाकर कृष्ण से मिला दिया जाय जिससे कि हमारी विरहाग्नि शांत हो जाय।

शब्दार्थ—बतियन—बातों में। कपट को बासी—हमेशा कपट और छलछिद्र में रहने वाला।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही हैं कि हमें सब कोरी बातों में ही समझाना चाहते हैं और ऐसा कोई नहीं है जो हमें हमारे प्रियतम कृष्ण से मिला दे। उनका कहना है कि हमेशा का कपटी और परछिद्रान्वेषी उद्धव यहाँ कृष्ण का दूत बन कर निर्गुणज्ञान की शिक्षा देने आया है तथा इधर-उधर की बहुत-सी बातें करता है और अपने आपको कृष्ण का सखा कहता है लेकिन उसने भी हमें उनके दर्शन नहीं कराये। गोपियाँ कह रही हैं कि उद्धव ज्ञान और ध्यान का गूढ़ रहस्य तो जानते नहीं है अतः वे जो अपने आपको सबसे बड़ा चतुर कहते हैं वह गलत ही है तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि इस जगत में सबका अपने स्वार्थ-साधन पर ही ध्यान रहता है, दूसरों के हित पर कोई भी ध्यान नहीं देता। गोपांगनाओं के कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण स्वयं तो मथुरा में रहकर कुब्जा के प्रेम-रस का पान कर रहे हैं और हमें योग-साधना का उपदेश देते हैं अतः उनका यह कार्य उचित नहीं है तथा इसके कारण हम उन्हें अपने निजी स्वार्थ पर ही ध्यान देनेवाला मानेंगी।

पद १३४. लरिकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसे छूटत

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ कह रही हैं कि कृष्ण के प्रति उनकी प्रेमभावना अमिट है और वह हमेशा चिरस्थायी रहेगी।

शब्दार्थ—लरिकाई—लड़कपन, बचपन, बाल्यावस्था। अन्तर्गत लूटत—आंतरिक वृत्ति अथवा अन्तःकरण को लूटते हैं। सौंह—शपथ।

भावार्थ—गोपिकाओं का कहना है कि बाल्यावस्था से जो हमारा प्रेम-सम्बंध कृष्ण से चला आ रहा है वह भला अब कैसे छूट सकता है। स्मरण रहे कि यह एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है कि बचपन के संस्कार अमिट रहते हैं अतः गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि कृष्ण से हमारा प्रेम तो बचपन में ही हो गया था इसलिए अब हम उसे कैसे छोड़ सकती हैं। उनका कहना है कि ब्रजनाथ कृष्ण की लीलाएँ हमारी आंतरिक वृत्तियों को

लूटती हैं अर्थात् हम अपने वश में नहीं रहतीं और उनकी चितवन, मनोहर चाल, मुस्काना एवं मंद स्वरों से गाना, नटवरवेश तथा वृंदावन जाकर ग्वाल बालों के साथ विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करना आदि बातों को भुलाना सहज नही है। गोपियाँ उद्धव से कह रही है कि हम तुम्हारे चरण कमल की शपथ खाकर कह रही हैं कि तुम्हारा यह संदेशा हमें विष के समान लग रहा है और मनमोहन कृष्ण की वह सुन्दर मूर्ति दिन-रात सोते-जागते कभी भी एक क्षण के लिए हमारे नेत्रों से दूर नहीं होती अर्थात् हम अपने प्रियतम कृष्ण को क्षण भर के लिए नहीं भूल पातीं।

अलंकार—स्मरण।

पद १३५. हौं इन मोरन की बलिहारी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में एक गोपी उन सब वस्तुओं का उल्लेख कर रही है जिन्हें कृष्ण का स्नेह प्राप्त हुआ था।

शब्दार्थ—सुभग—सुन्दर। माथैं—मस्तक पर, सर पर। गोबरधन धारी—गोबर्द्धन पर्वत धारण करने वाले, श्रीकृष्ण। करज—उँगली। हिरदे—हृदय।

भावार्थ—एक गोपी कह रही है कि मैं तो इन मयूरों पर बलिहारी जा रही हूँ जिनकी कि सुन्दर चद्रिका गोबर्द्धनधारी श्रीकृष्ण अपने मस्तक पर धारण करते हैं और मैं उस बाँस की बनी सुकुमार बाँसुरी पर भी न्यौछावर हो रही हूँ जो कि हमेशा कृष्ण की अंगुलियों में शोभायमान रहती है तथा एक क्षण के लिए भी उनसे अलग नहीं होती। इसी प्रकार कुंजों की वह वनस्पति भी धन्य है जहाँ जगत को आलोकित करने वाली वह मुरली उत्पन्न हुई जो कि सर्वदा कृष्ण के हृदय में निवास करती रही है और जिसे वे कभी मन से विस्मृत नहीं कर पाते। साथ ही वे सब पर्वत और यमुना नदी भी धन्य है जो कि कृष्ण के श्याम अंगों का आलिंगन करने के कारण काली पड़ गयी है। इस प्रकार उस ब्रजबाला का कहना है कि हम अपनी विरह-वेदना कहाँ तक कहें। वह गोपी कह रही है कि वृंदावन की समस्त धरती ही अत्यंत सौभाग्यशालिनी है जहाँ नित्यप्रति श्रीकृष्ण नंगे पैर गाय चराने जाया करत थे

अन्य विशेषताएँ—विरहावस्था में वे सभी वस्तुएँ याद आया करती है जिन्हें प्रिय प्यार करता रहा है अतः प्रस्तुत पद सूर के विरहवर्णन की दृष्टि से अत्यंत स्वाभाविक बन पड़ा है। स्मरण रहे गोपियाँ अब उस मुरली को जो कि किसी समय उन्हें फूटी आँखों से नहीं सुहाती थी कोसती नहीं हैं क्योंकि वह बेचारी भी तो कृष्ण द्वारा उपेक्षित है।

अलंकार—उल्लेख।

पद १३६. हम पर हेतु किये रहिबो

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव से यह प्रार्थना कर रही हैं कि वे मथुरा जाकर कृष्ण से ब्रज की इस करुण दशा का वर्णन अवश्य कर दें।

शब्दार्थ—हेतु—कृपा, प्रेम। रहिबो—रहना। ब्योहार—व्यवहार। दहिबो—जलना, पीड़ित होना। बिथा—व्यथा।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि आप हम पर इतनी कृपा अवश्य करें कि ब्रज का यह सब हाल कृष्ण से जाकर कह दें। आप स्वयं ही अपने नेत्रों से यह देख रहे हैं कि कृष्ण के वियोग में हमारा शरीर किस प्रकार जल रहा है अतः अब हम अपने शरीर व्यथा का वर्णन आप से कहाँ तक करें। वास्तविकता तो यह है कि हमारा हृदय ही यह बेदना सह रहा है और जिस समय कृष्ण मथुरा जा रहे थे उस समय हमारे प्राण नहीं निकले तथा हम अपने प्राणों की रक्षा करती रहीं क्योंकि हमें उनके लौट आने की आशा थी लेकिन वियोगाग्नि में निरंतर जलते रहने पर भी यह देह जलती नहीं है कारण कि हमारे नेत्रों से दिन रात प्रवाहित होने वाली अश्रुधारा उसे जलने नहीं देती है।

पद १३७. ऊधौ इतनी जाइ कहौ

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपागनाएँ उद्धव के द्वारा कृष्ण तक अपना सदेशा भिजवा रही हैं।

शब्दार्थ—वल्लभी—प्रिय, प्यारी, कृष्ण दुलारी। पाँइ लगति हैं—पैर पड रही हैं। परुष—कठोर, कर्कश। गोवत्स—बछड़ा। असन—भोजन। बसन—वस्त्र। ईति—छह प्रकार की आपत्तियाँ या कष्ट। ईति के छह प्रकार इस तरह हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी आदि, मूषक, पक्षी (तोता आदि) तथा आक्रमण।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि वे मथुरा जाकर कृष्ण से इतना अवश्य कह दें कि उनकी सभी प्रियतमाओं ने उनके पैर पड़कर यह प्रार्थना की है कि वे अभी मथुरा में ही रहें तथा भूल कर भी गोकुल न आये क्योंकि इन दिनों ब्रज में चारों ओर विपत्तियाँ ही छाई हुई हैं। ब्रज की इन विपत्तियों का वर्णन करते हुए वे कह रही हैं कि आजकल ब्रज में चन्द्रमा सूर्य के समान तप रहा है अतः नंदनंदन श्री कृष्ण का सुकोमल शरीर इस प्रचण्ड ताप को भला कैसे सह सकता है। साथ ही भ्रमर, मयूर, कोयल, चातक आदि सब वन-उपवनों मे कठोर शब्दों का उच्चारण कर रहे है जिसे सुनकर बछड़ो को सिंह की गर्जना का भ्रम हो जाता है और वे भय से काँप उठते है। इसका अभिप्राय यह है कि वे प्राणी जो अभी तक मधुर ध्वनि करते रहे हैं अब ब्रज मे कर्कश ध्वनि कर भय उत्पन्न कर रहे हैं। बछड़ों के काँपने की बात इसलिए गोपियों ने कही है क्योंकि कृष्ण गोपाल कहे जाते हैं और यह बछड़े उन्हीं गायों से उत्पन्न हुए हैं जिन्हें कृष्ण चराया करते थे। साथ ही वे यह भी कह रही हैं कि ब्रज में बैठने के स्थान, भोजन, वस्त्रादि, आभूषण तथा अन्य विलास सामग्री सर्प के समान लग रही है और हम जिस ओर भी दृष्टि फेरती है उधर ही हमें प्रत्येक वृक्ष पर कामदेव अपना असहनीय धनुष लिये बैठा दिखाई देता है। गोपियों के कहने का अभिप्राय यह है कि इस विरहावस्था में भी कामदेव उनका पीछा नहीं छोड़ता अपितु उन्हें दुगनी तकलीफ दे रहा है। इस प्रकार ब्रज की इन विपत्तियों का वर्णन कर ब्रजबालाएं उद्धव से कहती है कि आप तो सज्जन पुरुष हैं तथा उपकारी भी हैं और सभी रीति-नीति से विज्ञ हैं अतः अब आप ही बतलाएँ कि बिना श्याम सुन्दर कृष्ण के आये ब्रज की ये आपदाएँ कैसे टल सकती हैं!

अन्य विशेषताएँ—कृष्ण के मथुरागमन के कारण ब्रज की क्या दशा हुई, यही इस पद में अंकित किया गया है और गोपियों ने कृष्ण से यह कहना चाहा है कि अभी तक तो वे ब्रजवासियों को विपत्तियों से बचाते रहे हैं लेकिन इस समय वे जिस प्रकार की विपदाओ में फँसे हुए हैं उनसे बचाने की ओर उनका ध्यान क्यों नहीं जाता। वस्तुतः गोपियाँ उद्धव द्वारा यह कहलाकर कि इस समय कृष्ण ब्रज न आयें क्योंकि यहा   चारो ओर विपत्तियाँ

अपने प्रियतम पर व्यंग्य ही कर रही है तथा साथ ही वे य।
ो हैं कि कृष्ण के हृदय में उनके प्रति तनिक भी स्नेह है या

टिप्पणी—यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि सूरदास के ट
कर' की गोपियाँ अपनी दशा का हाल कृष्ण तक भिजवाना
उनका यही कहना है कि—

हाल कहा बूझत बिहाल परीं बाल सबै
बसि दिन द्वैक देखि दृगनि सिधाइयौ।
रोग यह कठिन न ऊधौ कहिबे के जोग
सूधौ सौ सँदेस याहि तू न ठहराइयौ॥
औसर मिले औ सरताज कछु पूछहि तौ
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।
आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछु
कहिबै कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ।
नंद जसुदा औ गाय गोप गोपिका की कछू
बात बृषभान-भौन हूँ की जनि कीजियौ
कहै रतनाकर कहति सब हा हा खाइ
ह्याँ के परपंचनि सौं रंच न पसीजियौ।
आँसु भरि ऐहैं औ उदास मुख ह्वै है हाय
ब्रज दुख त्रास की न तातैं साँस लीजियौ
नाम को बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ।

अलंकार—गूढ़ोक्ति।

पद १३८. अब अति चकितवन्त मन मेरौ

अवतारणा—ब्रजबालाओं के उत्कट प्रेम को देखकर उद्ध
वित हुए और उनका समस्त ज्ञान-गौरव पानी-पानी हो
स्वीकार करने लगे कि योग-साधना की अपेक्षा भक्ति उ
क श्रेष्ठ है। इस प्रकार प्रस्तुत पद में उद्धव की यही अंतिम
ांकित की गयी है

शब्दार्थ—चेरौ—दास, सेवक। परस्यो—स्पर्श किया, छुआ। नेरौ—नैकटच, सामीप्य, पास। इहाँ—यहाँ। बेरौ—जहाज, बेड़ा।

भावार्थ—उद्धव गोपियों से कह रहे हैं कि मेरा मन अब बड़े अचरज म फँसा हुआ है क्योंकि मैं यहाँ पर निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने आया था परन्तु जाते समय सगुण का शिष्य होकर जा रहा हूँ अर्थात् तुम्हारी सभी बातें मैंने स्वीकार कर ली हैं। उद्धव पुनः कहते है कि मैंने तुमसे ब्रह्मज्ञान सम्बंधी जितनी बातें कही थीं वे तुम्हारे प्रेमपूर्ण मानस को तनिक भी प्रभावित न कर सकीं अर्थात् तुम्हारी प्रेमसाधना मेरे ज्ञान से कई गुनी उच्च-तम है। मैं तो कृष्ण का दूत बनकर ब्रज आया था लेकिन अपनी अज्ञानता-वश तुम्हारा अनुचर ही बन गया क्योंकि तुमसे वार्तालाप करते समय मै समझ गया कि मुझे कितना ज्ञान है और मेरी साधना तुम्हारे सामने कितनी निम्न है। उद्धव कह रहे हैं कि कृष्ण ने मुझे अपना ही सखा जानकर भेजा था और मुझ पर एक भयंकर बोझ लाद दिया था लेकिन यहाँ पहुँचने पर मेरा यह बोझ हल्का हो गया। यहाँ बोझ से अभिप्राय निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान से है। सूरदास जी कह रहे हैं कि उद्धव योगसाधना रूपी जहाज को गोपियों के विरहवारिधि में डुबोकर मथुरा लौट गये अर्थात् उन्होंने योग की सभी बातें भुला दी और साकार ब्रह्म के उपासक होकर ही वे ब्रज से वापिस लौटे।

टिप्पणी—जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं 'भ्रमर-गीत' की रचना का मूल उद्देश्य निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण ब्रह्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना था अतः इस दृष्टि से यह पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमे उद्धव द्वारा साकारोपासना को श्रेष्ठ कहलाकर कृष्ण भक्ति शाखा के कवियो ने यह स्पष्ट कर दिया है कि निर्गुणब्रह्म के महान समर्थक ने भी भक्ति और प्रेम को अधिक ऊँचा माना है तथा सगुण-भक्ति को ईश्वर तक पहुँचने का सुगम मार्ग कहा है।

पद १३९. ऊधौ देखत हो जैसे ब्रजबासी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियाँ उद्धव के मथुरा जाते समय उनके

की वर्तमान दशा का वर्णन कर रही हैं

शब्दार्थ—भुअँगम—सर्प। डासी—डस लेना, काट खाना। उदासी—मलिन चित्त, अन्यमनस्क। त्रासी—त्रसित, सताई हुई। लबासी—लंपट।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि तुम तो स्वयं ही देख रहे हो कि कृष्ण के वियोग में ब्रजवासियों की क्या दशा है और ये लोग किस प्रकार अविनाशी ईश्वर अर्थात् कृष्ण को स्मरण करते हुए नेत्रों में आँसू भर कर श्वास ले रहे हैं अर्थात् आहें भर रहे हैं। माता यशोदा पृथ्वी पर अचेत पड़ी हुई हैं और उठती नहीं हैं अर्थात् होश में नहीं आतीं तथा उन्हें देखकर ऐसा भास होता है मानो उनको किसी सर्प ने डस लिया हो लेकिन प्रेम की कठिन डोरी में बँधे रहने के कारण उसके प्राण किसी आशावश रुके हुए हैं। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण-विरह के कारण यशोदा मूर्च्छित पड़ी हुई हैं परन्तु उन्हें यह आशा है कि उनका पुत्र कभी-न-कभी उनसे अवश्य मिलेगा अतः इसी आशावश उनके प्राण रुके हुए हैं अन्यथा न जाने कब के वे शरीर छोड़ देते। गोपियाँ पुनः कहती है कि कृष्ण के मथुरा चले जाने के पश्चात् नंद ने तो घर में आना ही तज दिया है और वे रात-दिन उदास फिरा करते है कारण कि कृष्ण के बिना यह घर उन्हें काटने को दौड़ता है। इतना ही नहीं श्याम के विरह में व्याकुल होकर गाएँ भी दुर्बल हो गयी हैं तथा गोपी, ग्वाल-बाल एवं सखाओं की हँसी भी कहीं नहीं सुनाई देती कारण कि कृष्ण-विरह में वे इतना दुखी हैं कि उन्होंने खेलना-कूदना सब बंद कर दिया है। इस प्रकार गोपियों का कहना है कि हमारी समझ मे यह नहीं आता कि कपटी और गप्पी अर्थात् बढ़-बढ़ कर बातें करने वाले कृष्ण ने हमें इतना दुःख क्यों दिया है तथा हमारे इन सुख के दिनों को भी दुःखपूर्ण कर दिया है।

पद १४०. कहियौ जसुमति की आसीस

अवतारणा—प्रस्तुत पद उद्धव के ब्रज से मथुरा लौटते समय का है।

शब्दार्थ—आसीस—आशीर्वाद। लाड़िलो—प्यारा, प्रिय। बरीस—वर्ष। कोटि—करोड़ों। दोहनी—दूध दुहने की हाँडी। घृति—घी। सुरभिन—गायें। ईस—स्वामी, ईश्वर।

भावार्थ—उद्धव जब ब्रज से मथुरा के लिए विदा होने लगे तब यशोदा ने उनसे कहा कि तुम कृष्ण से मेरा आशीर्वाद कह देना और साथ ही यह भी

कहना कि हे नंद-नंदन तुम चाहे जहाँ भी रहो करोड़ों वर्ष जीवित रहो। यहाँ यह स्मरण रहना चाहिए कि इन पंक्तियों में मातृहृदय की वात्सल्यपूर्ण भावनाओं का ही चित्रण हुआ है और जैसा कि प्रत्येक माता चाहती है कि उसका पुत्र हमेशा सुखी रहे तथा चिरंजीवी हो यशोदा ने भी यही भावना व्यक्त की है। साथ ही यहाँ नंदनंदन शब्द भी ध्यान देने योग्य है क्योंकि यशोदा ने इस शब्द का प्रयोग कर कृष्ण का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि वे उन्हें नंद का ही पुत्र समझती हैं भले ही अब वे वसुदेव-देवकी के पुत्र कहलाते हो। आशीर्वाद देने के पश्चात् यशोदा ने कृष्ण को देने के लिए मुरली तथा एक हाँडी भर घी दिया जिसे कि उद्धव ने अपने सिर पर रख लिया और फिर कहा कि तुम कृष्ण से कह देना कि यह घी तुम्हारी प्यारी गायों के दूध का ही है। सूरदास जी कह रहे है कि उद्धव के विदा होते समम दस-बीस ग्वाल-बाल भी एकत्र हो गये और उन्होंने उद्धव से कहा कि अबकी बार आप जब यहाँ आएँ तो कृष्ण को भी अपने साथ लेते आएँ और उन्हें यहाँ लाकर बसा दें।

टिप्पणी—'रत्नाकर' जी ने भी उद्धव के ब्रज से विदा होते समय का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है—

धाईं जित तित तें बिदाई-हेत ऊधव की
गोपीं भरीं आरति सँम्हारति न साँसुरी।
कहै रतनाकर मयूर-पच्छ कोऊ लिए
कोऊ गुंज-अंजली उमाहे प्रेम-आँसुरी।।
भाव भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत पट नंद जसुमति नवनीत नयौ
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी।।

पद १४१. तुम्हरे बिना ब्रजनाथ राधिका नैनन नदी बढ़ी

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपांगनाएँ कृष्ण के वियोग से व्यथित राधिका की दयनीय स्थिति का वर्णन कर रही है।

शब्दार्थ—कूल—किनारा। गोलक—पुतली। तरंगिनि—लहरें। कुचील—मैला। रमापति—लक्मी के पति अर्थात् कृष्ण छन जीजै—क्षण भर जिया जाय

भावार्थ—गोपियां कह रही हैं कि हे ब्रजनाथ कृष्ण तुम्हारे विरह में राधिका के नेत्रों से अश्रुओं की नदी बह रही है और इस आँसुओं की धारा रूपी नदी में इतनी अधिक बाढ़ आ गयी है कि वह पलक रूपी दोनों तटों को ढाती जा रही है अर्थात् इस नदी का प्रवाह अत्यंत प्रबल है। साथ ही इस अश्रुनदी में आँख की पुतली एक नौका के समान लग रही है तथा बाढ़ का वेग इतना अधिक है कि वह चल भी नहीं पाती और यह नदी बाढ़ से भी ऊंची चढ़कर पलक रूपी सीमाओं को भी डुबो रही है। (स्मरण रहे कई प्रतियों में 'भीव पलक बढ़ि बोरिस' के स्थान पर—स्यौ सरकति बढ़ि बोरति' पाठ भी पाया जाता है अतः इसका अर्थ यह होगा कि नदी के बहाव में आँख की पुतली रूपी नौका अपने पाल-सहित उसमें डूब जाती है।) गोपियाँ कहती हैं कि उच्छ्वास रूपी वायु ही तेज हवा है जो कि जल की तरंगों को तेजकर रही है तिलक रूपी वृक्षों को भी गिरा रही है। यहाँ तिलक से अभिप्राय शरीर पर चंदनादिक लेप से चित्रित चित्र से लिया जाता और इस प्रकार इसका यह अर्थ भी माना जाता है कि अश्रुधारा में वे चित्र धुल जाते हैं। ब्रजबालाओं का कहना है कि अश्रुओं के साथ जो काजल बाहर बह आया है वह मानो अश्रुरूपी सरिता के किनारे की दूर तक फैली हुई गंदी कीचड़ है तथा हाथ-पैर, मुख और वाणी ये सब मानो पथिक के समान है जो कि थककर निश्चल हो गये हैं अर्थात् इस बाढ़ को देखकर जहाँ के तहाँ खड़े रह जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस विरहावस्था में केवल आँसू ही बह रहे हैं तथा हाथ, पैर और मुख आदि शरीर के अवयव कुछ भी काम नहीं करते तथा निश्चल से हो गये हैं। गोपियाँ कह रही हैं कि हे कृष्ण ! आपके दर्शनों के अतिरिक्त अब अन्य कोई उपाय हमारे क्षण भर भी जीवित रहने का नहीं है तथा सारा गोकुल आँसुओं की सरिता में डूबने वाला ही है, अतः अब आप शीघ्र ही अपने दर्शन देकर अपने सुन्दर हाथों से सहारा देकर हमें बचा लीजिए।

अलंकार—सांग रूपक।

पद १४२. ब्रज ते द्वै रितु पै न गईं

अवतारणा—प्रस्तुत पद में गोपियों की वियोग दशा का चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—जोग—योग, सुअवसर। दादुर—मेढक।

भावार्थ—गोपियाँ कह रही हैं कि कृष्ण के चले जाने पर ब्रज से द ऋतुएँ, ग्रीष्म और वर्षा किसी प्रकार भी नहीं गयीं तथा तब से अपनी प्रचण्ड दिखा रही हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कृष्ण के मथुरा चले जाने प गोपियाँ तो वियोग जन्य कष्ट से पीड़ित हैं तथा ये दो ऋतुएँ ब्रज में कु इस प्रकार विराजमान हैं कि यहाँ से जाती ही नहीं हैं और कृष्ण के न रहने से अपना जोर और अधिक दिखा रही है। गोपियों का कहना है कि हमार उच्छ्वासें ही मानो वर्षा ऋतु में प्रवाहित होने वाली तीव्र वायु है तथा ने ही बादल है जो कि पानी बरसाने के लिए ही जुटे हुए हैं अर्थात् अविर अश्रुधारा बहा रहे हैं। साथ ही इस प्रकार पानी बरसने के कारण हमा दुःख रूपी मेंढक, जो कि अब तक छिपे हुए थे, निकल पड़े हैं अर्थात् हमा दुःख सभी पर प्रकट हो गया है। इसी तरह ब्रजबालाएँ गर्मी के लक्ष बतलाती हुई कह रहीं हैं कि ग्रीष्म के प्रचंड सूर्य की भाँति कष्ट देने वाल असहनीय वियोग हमें दारुण वेदना दे रहा और चन्द्रमा सदृश्य कृष्ण के हम दूर होने पर ऐसा कोई नहीं है जो हमारी शारीरिक व्यथा दूर कर सके।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में गोपिकाएँ अपने तन में ही वर्षा औ ग्रीष्मऋतु की कल्पना करती है तथा वे यह कहना चाहती हैं कि कृष्ण-विर में उनकी क्या दशा हो गयी है।

अलंकार—सांग रूपक।

पद १४३. कहाँ लौं कहिये ब्रज की बात

अवतारणा—प्रस्तुत पद में उद्धव कृष्ण से ब्रज की दशा का वर्णन क रहे हैं।

शब्दार्थ—बिहात—व्यतीत होते हैं। कृस गात—दुर्बल शरीर। अंबुज—कमल।

भावार्थ—ब्रज की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए उद्धव कृष्ण से क रहे हैं कि आपके मथुरा चले आने के कारण ब्रजवासियों के दिन जिस प्रका बीत रहे है वह सब समाचार मैं अब आपको सुना रहा हूँ। उद्धव का कहन है कि गोपियाँ ग्वाले गाय और बछड़े सभी क्षीण शरीर एवं खिन्न मुखवा हो गये हैं तथा ये सब अब आपके वियोग में इस प्रकार दयनीय दशा के

गये हैं जैसे कि शिशिर ऋतु में जाड़े और पाले के कारण कमल पत्रहीन होकर मुरझा जाते हैं। साथ ही ब्रजवासी जब किसी को आते देखते है तब वे सब मिलकर आपकी ही कुशल पूँछते हैं और प्रेम-विह्वल हो उससे इस तरह वार्तालाप करने लगते हैं कि वह बेचारा पथिक आगे नहीं बढ़ पाता और यदि कहीं वह आगे बढ़ने लगता है तो वे उसके चरणों से लिपट कर उसे रोक लेते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इस विरहावस्था में भी उन्हे आपकी ही चिन्ता है। उद्धव कह रहे हैं कि कोयल और पपीहे की बोली ब्रजवासियों को अत्यधिक पीड़ादायक लगती है क्योंकि उनकी ध्वनि सुन उन्हें कृष्ण की याद और भी अधिक जोर से आने लगती है। चूँकि इन पक्षियों के बोलने से उनका दुःख और भी अधिक बढ़ जाता है अतः उन्होंने ब्रज से इन पक्षियों को उड़ा दिया है जिससे कि वे उन्हें पीड़ा न पहुँचा सकें। इतना ही नहीं बेचारे कौए भी खाद्य पदार्थो को खा नहीं पाते क्योंकि ब्रज-वासी तुम्हारे आगमन का शकुन विचारने के उद्देश्य से उन्हें भी उड़ा देते हैं। स्मरण रहे कि यह लोकोक्ति प्रचलित है कि कौआ जब किसी मकान पर बैठकर काँव-काँव करता है तब यह आशा की जाती है कि वह किसी प्रिय व्यक्ति के आगमन की सूचना दे रहा है अतः यह जानने के लिए वह प्रिय व्यक्ति वस्तुतः आएगा या नहीं घर का कोई व्यक्ति यह कहता है कि अगर अमुक व्यक्ति आने वाला हो तो हे कौए तू उड़ जा और ऐसा कहने पर यदि वह कौआ उड़ जाता है तो यह आशा की जाती है कि वह व्यक्ति अवश्य आएगा। इस प्रकार इस लोकोक्ति के आधार पर उद्धव के कथन का अभि-प्राय यह है कि कौए जब कोई खाद्य पदार्थ खाने बैठते हैं तब ब्रजवासी यह शकुन विचारने लगते हैं कि कृष्ण आएँगे या नहीं और इस तरह वे अपना अभीष्ट खाद्य पदार्थ नहीं खा पाते। उद्धव कह रहे हैं कि पथिक भी ब्रज-प्रदेश होकर इसलिए नहीं निकलते क्योंकि व्याकुल ब्रजवासी उन्हें मथुरा से आनेवाला पथिक समझ कर रोक लेते हैं और आपका संदेश पूँछने लगते हैं।

अलंकार—लोकोक्ति।

पद १४४. बातैं बूझति यों बहरावति

अवतारणा—प्रस्तुत पद में उद्धव श्रीकृष्णजी से वियोगिनी राधा की दशा बतला रहे हैं।

शब्दार्थ—बहरावती—बहलाती है अर्थात् इस तरह का वार्तालाप करती है कि जिससे चित्त प्रसन्न हो जाय। गुहा—गुफा। कुवेष—बुरे वेश वाला। करतारि—हाथ की ताली।

भावार्थ—उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि जब राधा की विरह-वेदना बढ़ने लगती है तब उनकी सखियाँ उनसे इस प्रकार मनोरंजक बात कहने लगती हैं जिससे कि वे अपने चित्त का क्लेश भूल जाये अर्थात् गोपियां राधा का विरह और अधिक बढ़ने नहीं देतीं क्योंकि इससे उन्हें यह आशंका हो जाती है कि कहीं राधिका का प्राणान्त न हो जाय। उद्धव का कहना है कि वर्षा-ऋतु आकर चली जाती है और उसके सब उपकरण भी प्रकट होते हैं तथा प्रकृति भी सौन्दर्यशाली प्रतीत होती है लेकिन गोपियाँ राधा को ऐसा आभास ही नहीं होने देतीं कि वर्षाऋतु आयी हुई है। इस प्रकार वर्षागमन के द्योतक मेघ जब गरजने लगते हैं तब उनकी सखियाँ कहती हैं कि ये बादल नहीं गरज रहे हैं बल्कि गुफा में सिंह के गरजने की आवाज सुनाई दे रही है और जब बिजली चमकती है तब वे कहती हैं कि यह बिजली नहीं चमक रही है बल्कि पर्वत पर दावाग्नि लगी हुई है। साथ ही मोर, कोकिल और मेंढक जब बोलने लगते हैं तब वे राधिका को यह कहकर बहलाती है कि ये मयूर, कोयल और दादुर नहीं बोल रहे बल्कि ग्वाल-मंडली ही पक्षियों को खिलाने के लिए बुला रही है तथा आकाश से पानी बरसने पर वे कहती हैं कि यह जलवृष्टि नहीं हो रही वरन् झरनों का जल झरझर कर रहा है तथा उसी की फुहार आ रही है। इसी प्रकार जब चातक पीउ-पीउ बोलने लगता है तो वे उसे अपशकुन सूचक या अमंगलकारी कह कर हाथ की ताली बजा कर उड़ा देती है जिससे कि कहीं राधा उसकी बोली न सुन ले तथा और अधिक दुखी न हो जाय। (यहाँ गोपियाँ चातक को इसलिए उड़ाती हैं ताकि उसकी 'पीउ-पीउ' सुनकर राधा को प्रियतम कृष्ण की याद न आ जाय।) इस तरह उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि तुमसे मिलने की आशा में ही राधा इतने अधिक कष्ट पा रही हैं और केवल इस मिलन-आशावश ही उसके प्राण अटके हुए हैं।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद अलंकारिक प्रकृति-चित्रण का भी उत्कृष्ट उदाहरण है और इसमें कवि ने विरहभावना का चित्रण करने के साथ-

साथ वर्षाऋतु का वर्णन भी किया है। इस तरह यह पद सूर की काव्यकला कुशलता का उत्कृष्टतम उदाहरण है।

अलंकार—अपह्नुति।

पद १४५. कान्ह तुम्हारी विकल विरहिनी बिलपति विरह विगोयैं।

अवतारणा—प्रस्तुत पद मे उद्धव कृष्ण मे विरहिणी ब्रजांगनाओं की विरहावस्था का वर्णन कर रहे है।

शब्दार्थ—बिरह बिगोयैं—विरह के क्लेश में। अति आरति—अत्यंत आर्त्त, अत्यंत पीड़ित। इकटक लौं मग जोवैं—इकटक होकर मार्ग देखती रहती हैं। रोयैं—रोने से। मन्मथ—कामदेव। निचोयैं—निचोड़ने से।

भावार्थ—उद्धव कृष्ण से वियोगिनी गोपियों का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि सभी ब्रजांगनाएँ तुम्हारे वियोग में बिलाप कर रही है तथा वे इतना अधिक व्यथित हैं कि उन्हें तन-मन की भी सुधि नहीं है और वे टकटकी लगाए तुम्हारे आने का रास्ता ही देख रही हैं। उद्धव का कहना है कि उनके कजरारे नेत्रों से अश्रुधारा बह रही है अतः निरंतर रोते रहने से उनके मुख की छबि अत्यंत दयनीय हो गयी है और ऐसा प्रतीत होता है मानो राहु-केतु ने अपने वैर के कारण ही उनके चन्द्रमुख को मसल दिया है जिससे कि उनमें कालिमा आ गयी है और उसी कालिमा को वे अपने आँसुओं से धोकर छुड़ा रही हैं। उद्धव कह रहे है कि बेचारी अबला स्त्रियाँ योग-साधना की रीति कैसे जान सकती हैं तथा वे तो काम-व्यथा से पीड़ित हैं और जिस प्रकार सूखे वस्त्रों के निचोड़ने से जल नहीं निकलता उसी प्रकार तुम्हारा भेजा हुआ ज्ञान भी शुष्क था अतः वह शुष्क ज्ञान गोपियों को नीरस ही प्रतीत हुआ। इसका अर्थ यह है कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना तथा योग और ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन गोपियों को रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ क्योंकि इनमें उन्हें कोई रस नहीं मिला।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

पद १४६. ब्रज मैं सभ्रम मोहिं भयौ

अवतारणा—प्रस्तुत पद में उद्धव कृष्ण से यह बतला रहे हैं कि ब्रज पहुँचने पर उनकी क्या दशा हुई और उन्होंने वहाँ क्या देखा।

शब्दार्थ—संभ्रम—बुद्धिभ्रम। सुधि-बुधि भूल जाना। तुम्हीं सौं—तुम्हारे समान, तुम्हारी ही तरह के।

भावार्थ—उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि ब्रज पहुँचकर और वहाँ की दशा देख मैं अपनी सुधि बुधि ही भूल गया। उनका कहना है कि मैंने अपने समान किशोर वय के बालक प्रत्येक घर में देखे तथा मुरलीधर घनश्याम की मनोहर अद्भुत नटवर मूर्ति भी हर स्थान पर पायी। साथ ही मैंने यह भी देखा कि आप वहाँ ग्वालबालों के साथ विनोदपूर्ण एवम् कौतूहल रूप में नित्य गाय चराने जाते हैं तथा सायंकाल और प्रातः गोदोहन के बहाने मक्खन भी चुराते है। इतना ही नहीं मैंने यह भी देखा कि आप अनेक प्रकार की लीलाएँ कर गोपियों का चित्त चुराते हैं अतः इस सरस सुख को देखकर मुझे निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार तनिक भी अच्छा नहीं लगा। इसे यों भी कह सकते हैं कि इस प्रकार के स्पष्ट सुख को देखकर अदृश्य ब्रह्म की उपासना मुझे पसन्द नही आयी। उद्धव कह रहे हैं कि जब मैं योगसाधना के उपदेश में बहा जा रहा था तब आप ने करुणा कर अपने दर्शन दिये और मुझे भी ब्रज में एक-एक क्षण छै महीने के समान लगा तथा वहाँ के इन सब दृश्यों को देख मैं अपने आपको भी भूल गया।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद में कवि ने निर्गुणोपासना पर साकारोपासना की विजय प्रतिपादित की है और इस प्रकार उद्धव कृष्ण से यह कह रहे हैं कि उन्होंने गोपियों से जब आपकी विविध लीलाओं का वर्णन सुना तथा उन विरहिणी ब्रजबालाओं की दशा देखी तब उन्हें विश्वास हो गया कि ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति और प्रेम कई गुना श्रेष्ठ हैं।

अलंकार—भ्रांतिमान।

पद १४७. सुनि ऊधौ मोहिं नेंकु न बिसरत वै ब्रजबासी लोग

अवतारणा—उद्धव ने जब गोकुल से लौटकर वहाँ की दयनीय दशा का चित्रण कृष्ण से किया तब उन्हें भी ब्रज की विगत सुखद स्मृतियाँ याद आने लगीं और करुणासिक्त वाणी में उन्होंने जो कुछ कहा वही इस पद में अंकित किया गया है

भावार्थ—कृष्ण उद्धव से कह रहे हैं कि मैं ब्रजभूमि को भूल नहीं सकता और उसे विस्मरण करने का चाहे मैं कितने ही प्रयास क्यों न करूँ लेकिन उसे भूल पाना सहज नहीं है। कृष्ण का कहना है कि यमुना का सुन्दर किनारा एवम् कुंजों की सघन छाँह का दृश्य सर्वदा मेरी आँखों में छाया रहता है तथा वे गायें, बछड़े जिन्हें मैं गोचारण के लिए ले जाता था मुझे बहुत याद आते हैं और उन गोशालाओं भी मैं नहीं भूल पाता जहाँ कि गाय, बछड़े तथा दूध दुहने की हाँडी लेकर हम सब ग्वाल-बाल जाते थे। इसी प्रकार ग्वाल-बालों का शोर मचाकर खेलना और एक दूसरे का हाथ पकड़ कर नाचना भी मुझे हमेशा याद आता है। कृष्ण कह रहे हैं कि यद्यपि यह मथुरापुरी सोने की नगरी है अर्थात् विभवतापूर्ण नगर है और यहाँ मणियों एवम् मुक्ताओं की भी कमी नहीं है लेकिन ब्रज के सुखों के सामने मैं इसे तुच्छ ही समझता हूँ तथा जब मुझे ब्रज की स्मृति होने लगती है तब मन में हूक सी उठने लगती है। मैंने अपने बाल्यकाल में बहुत सी लीलाएँ कीं जिन्हें कि नंद और यशोदा पूर्णतः निभा सके। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण कह रहे हैं कि मैंने बाल्यकाल में अपने कृत्यों से नंद-यशोदा को बहुत परेशान किया लेकिन वे सब कुछ सहन कर मुझे प्रेम करते रहे और आज भी मैं उन दोनों को वियोगजन्य कष्टों में पीड़ित किए हुए हूं लेकिन इतने पर भी वहाँ नहीं जा रहा। सूरदास जी कह रहे हैं कि इस प्रकार अपने उद्गार प्रकट करते हुए कृष्ण बार-बार पश्चाताप करने लगे और कुछ देर बाद मौन हो गये।

अलंकार—स्मरण।

पद १४९. ऐसी प्रीति की बलि जाऊँ

अवतारणा—सूरदास जी ने सूरसागर के दशम् स्कंध उत्तरार्द्ध में कृष्ण के जीवन विषयक अन्य कतिपय प्रसंगो को भी अपनी लेखनी का विषय बनाया है और इस प्रकार प्रस्तुत पद सुदामा की कथा से सम्बंधित है। सामान्यतया यह तो सर्वविदित ही है कि कृष्ण और सुदामा दोनों साथ-ही-साथ संदीपनि मुनि के आश्रम में विद्याध्ययन करते थे। श्रीकृष्ण तो अध्ययन समाप्त करने के पश्चात द्वारिकाधीश हो गये परन्तु सुदामा दरिद्र ही रहे। पत्नी के बार-बार कहने पर सुदामा को अपने मित्र के पास जाना पड़ा प्रस्तुत पद

स समय का है जब सुदामा कृष्ण के महल में पहुँचते हैं तथा द्वारपाल उनके आगमन की सूचना कृष्ण को देता है।

शब्दार्थ—बलि जाऊँ—बलिहारी जाऊँ। नाऊ—नाम। पखारना—धोना। अर्धांगी—पत्नी। चटसार—पाठशाला।

भावार्थ—कविवर सूरदास जी कह रहे हैं कि मैं ऐसी प्रीति की बलिहारी जाता हूँ जैसी कि कृष्ण और सुदामा के मध्य थी। कवि का कहना है कि ज्यों ही श्रीकृष्ण ने यह सुना कि द्वार पर सुदामा आये हुए हैं त्यों ही वे सिंहासन तजकर उनसे मिलने के लिए दौड़े और उन्हें ब्राह्मण जानकर हाथ जोड़कर प्रणाम किया तथा अपने हाथों से उनके चरण-कमलों को धोया। इसके पश्चात् उनके गले में माला पहनाकर बड़े प्रेम से गले से लगा लिया और बैठने के लिए अर्धासन दिया। जब रुक्मिणी ने कृष्ण के ये सब कृत्य देखे तब उन्हें बड़ा अचरज हुआ और वे उनसे यह पूछने लगीं कि यह तुम्हारे कैसे मित्र हैं कारण कि इनका शरीर अत्यंत क्षीण और मलीन है तथा यह कहाँ से आये हैं? रुक्मिणी की यह बात सुनकर कृष्ण ने उत्तर दिया कि संदीपनि गुरु के यहाँ हम दोनों ने एक ही पाठशाला में साथ-साथ विद्याध्ययन किया था और इस प्रकार ये मेरे गुरु भाई हैं। सूरदास जी कह रहे हैं कि कृष्ण के सम्बंध में कहाँ तक कहा जाय क्योंकि उनके हृदय में तो अपने भक्तों के लिए हमेशा ही अपार कृपा रहती है।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में कवि ने सुदामा की कथा के द्वारा यह दिखलाना चाहा है कि भगवान् अपने भक्तों को कितना चाहते हैं।

पद १५०. हौं कैसें कै दरसन पाऊँ

अवतारणा—प्रस्तुत पद में कृष्ण के द्वारका चले जाने का समाचार सुनकर एक विरहिणी ब्रजांगना अपने उद्गार एक पथिक को सुना रही है।

शब्दार्थ—कैसें कै—किस प्रकार। भूपन की—राजाओं की। बूझत—पूछते हुए। भामिनि—रानियाँ। तिहि ठाँ—उस स्थान पर।

भावार्थ—एक वियोगिनी गोपिका किसी पथिक से कह रही है कि अब मैं उन द्वारिकावासी कृष्ण के दर्शन भला कैसे पा सकती हूँ और यदि मैं तुम्हारे साथ द्वारका भी चलूँ तो भी मुझे उनके दर्शनों की संभावना नहीं है। उसका

कहना है कि कृष्ण के महल के बाहर तो राजाओं की बड़ी भीड़ होगी जिसके कारण उन तक पहुँचना सरल नहीं है और यदि कहीं उन राजाओं ने मुझसे कुछ पूँछा तो मुझे अपना मुख ही छिपाना पड़ेगा। गोपबाला के इस कथन का अभिप्राय यह है कि वह इस बात में संकोच और लज्जा अनुभव करती है कि कोई उस जैसी साधारण स्त्री को कृष्ण जैसे वैभवशाली राजा की प्रिया समझे तथा उसे इस बात का भी भय है कि कहीं वह उन राजाओं के व्यंग्य का शिकार न बन जाय। वह गोपिका पुनः कहती है कि यदि किसी प्रकार मैं महल के अंदर प्रवेश भी कर लूँ तो भी मुझे कृष्ण तक पहुँचना मुश्किल ही होगा कारण कि उसके भीतरी भाग में तो राजसी वैभव से युक्त रानियाँ होंगी अतः वहाँ भी मुझे स्थान मिलना संभव नही है। उसका यह भी कहना है कि यदि मैं अपनी बुद्धि, बल, युक्ति और यत्न से किसी प्रकार द्वारिका पहुँच भी जाऊँ तो भी मेरा वहाँ जाना व्यर्थ ही है कारण कि वे अब गोकुल में बसनेवाले और कुंजों में विहार करनेवाले कृष्ण नहीं रहे बल्कि राजा हो गये हैं अतः वे मेरी ओर भला क्यों ध्यान देंगे। वह गोपबाला कह रही है कि यदि परिश्रम कर मैं कृष्ण तक पहुँच भी जाऊँ तो भी मैं अपने इन प्यासे नेत्रों को क्या दिखाऊँगी क्योंकि ये नेत्र तो उनके रसिक रूप के प्यासे हैं और वहाँ तो उन्हें राजसी ठाट-बाट युक्त कृष्ण ही दृष्टिगोचर होंगे।

अन्य विशेषताएँ—स्मरण रहे कि गोपिकाओं ने कृष्ण के रसिक एवम् आनन्द रूप को ही देखा था तथा वे उसी की उपासिका थीं और उसी पर मुग्ध थीं लेकिन द्वारिका में कृष्ण ऐश्वर्य रूप में रहते थे अतः इस पद में वह ब्रज-बाला यही कह रही है कि हम कृष्ण तक इसलिए नहीं जाना चाहती क्योंकि उन्होंने अपना वह वेश त्याग दिया है जिसकी ओर हम आकृष्ट हुई थीं।

पद १५१. पाती दीजो स्याम सुजानहि

अवतारणा—यह पद रुक्मिणी-विवाह-प्रसंग से सम्बंधित है। स्मरण रहे कि विदर्भ नरेश राजा भीष्मक की कन्या रुक्मिणी श्रीकृष्ण के रूप और गुण की प्रशंसा देवर्षि नारद से सुनकर उन पर अनुरक्त हो गयी तथा मन-ही-मन उनको पतिरूप में वरण करने का निश्चय भी कर लिया। राजा भीष्मक भी

यही चाहते थे कि रुक्मिणी का विवाह कृष्ण से ही हो, लेकिन उसका भाई रुक्म अपनी बहिन का विवाह चेदिराज शिशुपाल से करना चाहता था और उसने शिशुपाल को अपने इस विचार से सूचित भी कर दिया। इन परिस्थितियों को देखकर रुक्मिणी ने गुप्तरूप से एक ब्राह्मण द्वारा अपना एक पत्र श्रीकृष्ण के पास भेजा। प्रस्तुत पद में रुक्मिणी के पत्र का ही आशय दिया गया है।

शब्दार्थ—पाती—पत्रिका, चिट्ठी। बाँचत—पढ़ते ही। जम्बुक—सियार। मरकट—बंदर। मृगमद—कस्तूरी। रज—धूल।

भावार्थ—रुक्मिणी ने ब्राह्मण से कहा कि तुम मेरा यह पत्र कृष्ण को दे देना और साथ ही उनसे मेरी कुशलता का संदेश कहकर यह बतला देना कि वे मुझे दीन समझ कर मुझ पर कृपा करें। कवि कह रहा है कि रुक्मिणी ने उस पत्र में लिखा कि हे प्रभु, मेरी प्रार्थना पर ध्यान दीजिए और इस पत्र को पढ़ते ही शीघ्र आकर मेरे प्राणों की रक्षा कीजिए क्योंकि मुझ दुखिया का दुःख समझनेवाला और कोई दूसरा नहीं है। रुक्मिणी का कहना है कि सिंह के खाने की वस्तु सियार प्राप्त करना चाहता है अर्थात् मैं तो सब दृष्टियों से आपके ही योग्य हूँ लेकिन शिशुपाल मुझ से विवाह करना चाहता है। यहाँ श्रीकृष्ण को सिंह तथा शिशुपाल को सियार कहा गया है। साथ ही उनका यह भी कहना है कि जिस प्रकार बंदर को मणि दे दी जाय तो वह उसको नष्ट ही कर देगा क्योंकि उसकी दृष्टि में वह एक साधारण काँच के टुकड़े से अधिक मूल्यवान नहीं है और कस्तूरी जैसी सुगंधित वस्तु को मिट्टी में सानकर कस्तूरी का महत्त्व कम ही किया जाता है उसी प्रकार मेरा भाई रुक्म मूढ़तावश मुझे शिशुपाल को सौंप रहा है और वह यह नहीं जानता कि शिशुपाल किसी भी भाँति मेरे योग्य नहीं है। इन पंक्तियों में मणि और कस्तूरी को रुक्मिणी माना गया है तथा बंदर और मिट्टी शिशुपाल को। रुक्मिणी कृष्ण से प्रार्थना कर रही है कि मैं तुम्हारे दर्शनों के बिना इन दुखों को भला कब तक सहन करती रहूँ क्योंकि मेरी वही दशा है जो पानी के बिना मछली की होती है, अतः मैं आपसे बार-बार यही निवेदन करती हूँ कि आप मुझे अपने अधरों का सुधारस प्रदान कर अर्थात् मुझसे विवाह कर मेरे प्राणों की

रक्षा कीजिए। पद की अंतिम पंक्ति से यह भी ध्वनित होता है कि संभवत रुक्मिणी ने यह भी निश्चय कर लिया था कि यदि कृष्ण से मेरा विवाह नहीं हुआ तो मैं अपने प्राण तज दूँगी।

अलंकार—दृष्टांत।